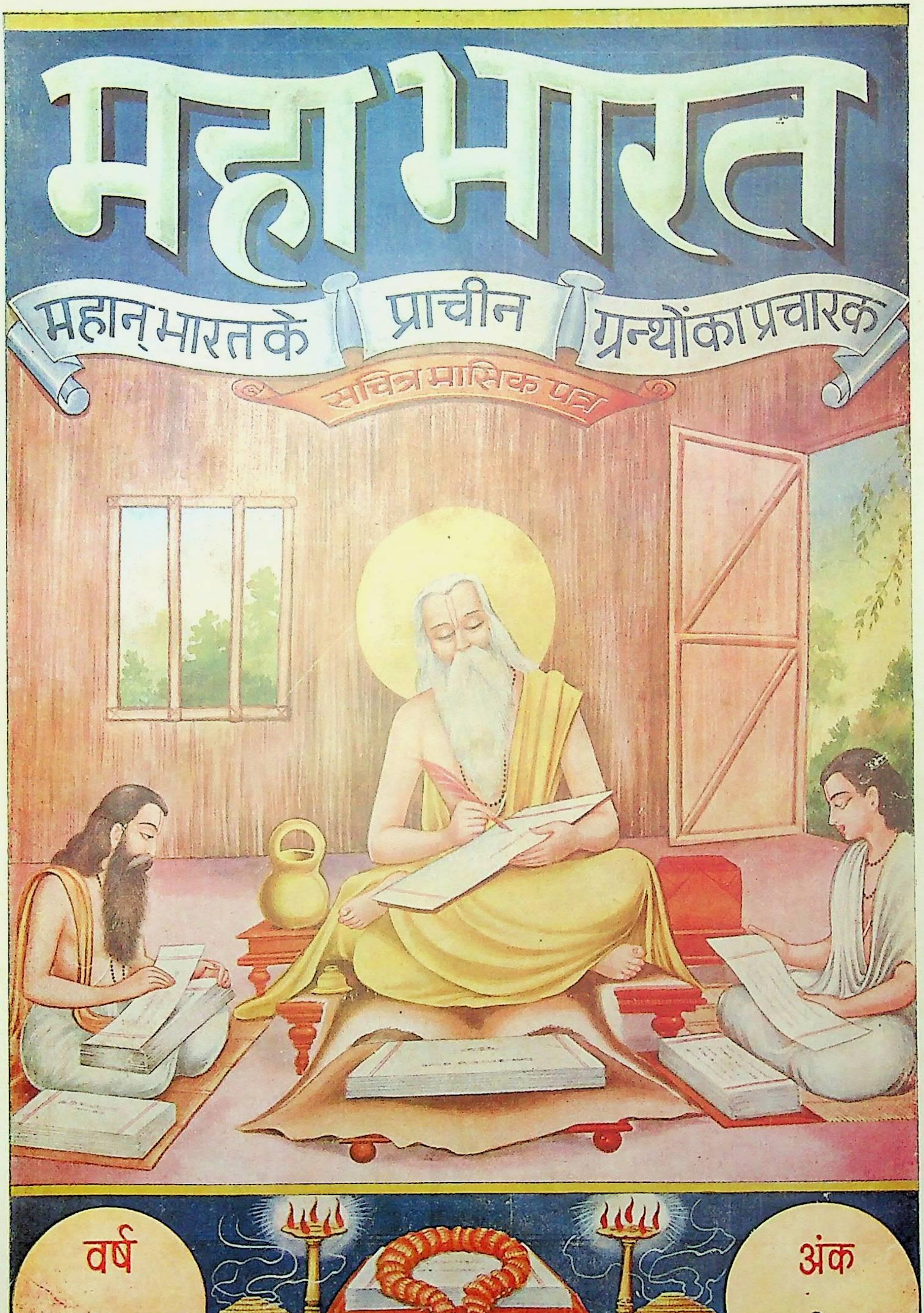
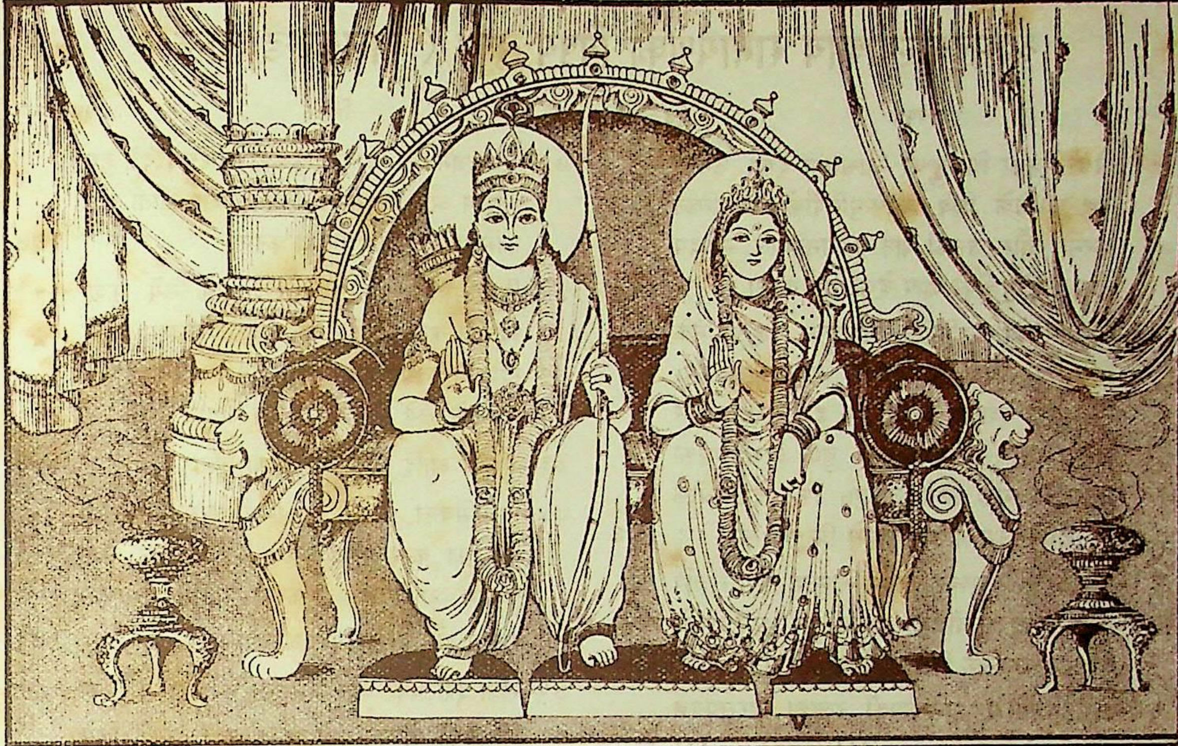


श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण—सटीक



महाभारत

महान् भारतके प्राचीन ग्रन्थोंका प्रचारक मासिकपत्र

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥

वर्ष ५ } गोरखपुर, माघ २०१६, फरवरी १९६० { संख्या २
पूर्ण सं० ५०

वाल्मीकि-कोकिलकी वन्दना

कूजन्तं रामरामेति मधुरं मधुराक्षरम् ।
आरुह्य कविताशाखां वन्दे वाल्मीकिकोकिलम् ॥

जो कवितारूपी वृक्षकी शाखापर बैठकर अत्यन्त मधुर अक्षरोंमें बड़ी मधुरताके साथ राम-नामकी कूक लगा रहे हैं, उन वाल्मीकिरूपी कोकिलकी मैं वन्दना करता हूँ ।

श्रीमद्वाल्मीकीय रामायणकी विषय-सूची (बालकाण्ड चालू)

(अयोध्याकाण्डम्)

चित्र-सूची

वार्षिक मूल्य
भारतमें १५.००
विदेशमें २०.००
(३० शिलिंग)

सम्पादक, मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर
टीकाकार—पण्डित रामनारायणदत्त शास्त्री पाण्डेय 'राम'

एक प्रतिका
भारतमें १.५०
विदेशमें २.००
(३ शिलिंग)



जनकपुरमें चारों भाइयोंका विवाह

एकोनषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका त्रिशङ्कुको आश्वासन देकर उनका यज्ञ करानेके लिये ऋषि-मुनियोंको आमन्त्रित करना और उनकी बात न माननेवाले महोदय तथा ऋषिपुत्रोंको शाप देकर नष्ट करना

उक्तवाक्यं तु राजानं कृपया कुशिकात्मजः।
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं साक्षाच्चण्डालतां गतम्॥ १॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम!] साक्षात् चाण्डाल-के स्वरूपको प्राप्त हुए राजा त्रिशङ्कुके पूर्वोक्त वचनको सुनकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रजीने दयासे द्रवित होकर उनसे मधुर वाणीमें कहा—॥ १॥

इक्ष्वाको स्वागतं वत्स जानामि त्वां सुधार्मिकम्।
शरणं ते प्रदास्यामि मा भैषीर्नृपपुङ्गव॥ २॥

'वत्स! इक्ष्वाकुकुलनन्दन! तुम्हारा स्वागत है। मैं जानता हूँ, तुम बड़े धर्मात्मा हो। नृपप्रवर! डरो मत, मैं तुम्हें शरण दूँगा॥ २॥

अहमामन्त्रये सर्वान् महर्षीन् पुण्यकर्मणः।
यज्ञसाह्यकरान् राजंस्ततो यक्ष्यसि निर्वृतः॥ ३॥

'राजन्! तुम्हारे यज्ञमें सहायता करनेवाले समस्त पुण्यकर्मा महर्षियोंको मैं आमन्त्रित करता हूँ। फिर तुम आनन्दपूर्वक यज्ञ करना॥ ३॥

गुरुशापकृतं रूपं यदिदं त्वयि वर्तते।
अनेन सह रूपेण सशरीरो गमिष्यसि॥ ४॥
हस्तप्राप्तमहं मन्ये स्वर्गं तव नराधिप।
यस्त्वं कौशिकमागम्य शरण्यं शरणागतः॥ ५॥

'गुरुके शापसे तुम्हें जो यह नवीन रूप प्राप्त हुआ है इसके साथ ही तुम सदेह स्वर्गलोकको जाओगे। नरेश्वर! तुम जो शरणागतवत्सल विश्वामित्रकी शरणमें आ गये, इससे मैं यह समझता हूँ कि स्वर्गलोक तुम्हारे हाथमें आ गया है'॥ ४-५॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुत्रान् परमधार्मिकान्।
व्यादिदेश महाप्राज्ञान् यज्ञसम्भारकारणात्॥ ६॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी विश्वामित्रने अपने परम धर्म-परायण महाज्ञानी पुत्रोंको यज्ञकी सामग्री जुटानेकी आज्ञा दी॥

सर्वाञ्शिष्यान् समाहूय वाक्यमेतदुवाच ह।
सर्वानृषीन् सवासिष्ठानानयध्वं ममाज्ञया॥ ७॥
सशिष्यान् सुहृदश्चैव सर्त्विजः सुबहुश्रुतान्।

तत्पश्चात् समस्त शिष्योंको बुलाकर उनसे यह बात कही—'तुमलोग मेरी आज्ञासे अनेक विषयोंके ज्ञाता समस्त ऋषि-मुनियोंको, जिनमें वसिष्ठके पुत्र भी सम्मिलित हैं, उनके शिष्यों, सुहृदों तथा ऋत्विजोंसहित बुला लाओ॥ ७½॥

यदन्यो वचनं ब्रूयान्मद्वाक्यबलचोदितः॥ ८॥
तत् सर्वमखिलेनोक्तं ममाख्येयमनादृतम्।

'जिसे मेरा संदेश देकर बुलाया गया हो वह अथवा दूसरा कोई यदि इस यज्ञके विषयमें कोई अवहेलनापूर्ण बात कहे तो तुमलोग वह सब पूरा-पूरा मुझसे आकर कहना'॥ ८½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा दिशो जग्मुस्तदाज्ञया॥ ९॥
आजग्मुरथ देशेभ्यः सर्वेभ्यो ब्रह्मवादिनः।
ते च शिष्याः समागम्य मुनिं ज्वलिततेजसम्॥ १०॥
ऊचुश्च वचनं सर्वे सर्वेषां ब्रह्मवादिनाम्।

उनकी आज्ञा मानकर सभी शिष्य चारों दिशाओंमें चले गये। फिर तो सब देशोंसे ब्रह्मवादी मुनि आने लगे। विश्वामित्रके वे शिष्य उन प्रज्वलित तेजवाले महर्षिके पास सबसे पहले लौट आये और समस्त ब्रह्मवादियोंने जो बातें कही थीं, उन्हें सबने विश्वामित्रजीसे कह सुनाया॥ ९-१०½॥

श्रुत्वा ते वचनं सर्वे समायान्ति द्विजातयः॥ ११॥
सर्वदेशेषु चागच्छन् वर्जयित्वा महोदयम्।

वे बोले—'गुरुदेव! आपका आदेश या संदेश सुनकर प्रायः सम्पूर्ण देशोंमें रहनेवाले सभी ब्राह्मण आ रहे हैं। केवल महोदय नामक ऋषि तथा वसिष्ठ-पुत्रोंको छोड़कर सभी महर्षि यहाँ आनेके लिये प्रस्थान कर चुके हैं॥ ११½॥

वासिष्ठं यच्छतं सर्वं क्रोधपर्याकुलाक्षरम्॥ १२॥
यथाह वचनं सर्वं शृणु त्वं मुनिपुङ्गव।

'मुनिश्रेष्ठ! वसिष्ठके जो सौ पुत्र हैं, उन सबने क्रोध-भरी वाणीमें जो कुछ कहा है, वह सब आप सुनिये॥१२½॥

क्षत्रियो याजको यस्य चण्डालस्य विशेषतः॥ १३॥
कथं सदसि भोक्तारो हविस्तस्य सुरर्षयः।
ब्राह्मणा वा महात्मानो भुक्त्वा चाण्डालभोजनम्॥ १४॥
कथं स्वर्गं गमिष्यन्ति विश्वामित्रेण पालिताः।

'वे कहते हैं—जो विशेषतः चण्डाल है और जिसका यज्ञ करानेवाला आचार्य क्षत्रिय है, उसके यज्ञमें देवर्षि अथवा महात्मा ब्राह्मण हविष्यका भोजन कैसे कर सकते हैं? अथवा चण्डालका अन्न खाकर विश्वामित्रसे पालित हुए ब्राह्मण स्वर्गमें कैसे जा सकेंगे?'॥ १३-१४½॥

एतद् वचननैष्ठुर्यमूचुः संरक्तलोचनाः॥ १५॥
वासिष्ठा मुनिशार्दूल सर्वे सहमहोदयाः।

'मुनिप्रवर! महोदयके साथ वसिष्ठके सभी पुत्रोंने क्रोध-से लाल आँखें करके ये उपर्युक्त निष्ठुरतापूर्ण बातें कही थीं'॥ १५½॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा सर्वेषां मुनिपुङ्गवः ॥ १६ ॥
क्रोधसंरक्तनयनः सरोषमिदमब्रवीत् ।

उन सबकी वह बात सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके दोनों नेत्र क्रोधसे लाल हो गये और वे रोषपूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १६½ ॥

यद् दूषयन्त्यदुष्टं मां तप उग्रं समास्थितम् ॥ १७ ॥
भस्मीभूता दुरात्मानो भविष्यन्ति न संशयः ।

'मैं उग्र तपस्यामें लगा हूँ और दोष या दुर्भावनासे रहित हूँ तो भी जो मुझपर दोषारोपण करते हैं, वे दुरात्मा भस्मीभूत हो जायँगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १७½ ॥

अद्य ते कालपाशेन नीता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥
सप्तजातिशतान्येव मृतपाः सम्भवन्तु ते ।
श्वमांसनियताहारा मुष्टिका नाम निर्घृणाः ॥ १९ ॥

'आज कालपाशसे बँधकर वे यमलोकमें पहुँचा दिये गये । अब ये सात सौ जन्मोंतक मुर्दोंकी रखवाली करनेवाली, निश्चितरूपसे कुत्तेका मांस खानेवाली मुष्टिक नामक प्रसिद्ध निर्दय चण्डाल-जातिमें जन्म ग्रहण करें ॥ १८-१९ ॥

विकृताश्च विरूपाश्च लोकाननुचरन्त्विमान् ।
महोदयश्च दुर्बुद्धिर्मामदूष्यं ह्यदूषयत् ॥ २० ॥
दूषितः सर्वलोकेषु निषादत्वं गमिष्यति ।
प्राणातिपातनिरतो निरनुक्रोशतां गतः ॥ २१ ॥
दीर्घकालं मम क्रोधाद् दुर्गतिं वर्तयिष्यति ।

'वे लोग विकृत एवं विरूप होकर इन लोकोंमें विचरें । साथ ही दुर्बुद्धि महोदय भी, जिसने मुझ दोषहीनको भी दूषित किया है, मेरे क्रोधसे दीर्घकालतक सब लोगोंमें निन्दित, दूसरे प्राणियोंकी हिंसामें तत्पर और दयाशून्य निषादयोनिको प्राप्त करके दुर्गति भोगेगा' ॥ २०-२१½ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विश्वामित्रो महातपाः ।
विरराम महातेजा ऋषिमध्ये महामुनिः ॥ २२ ॥

ऋषियोंके बीचमें ऐसा कहकर महातपस्वी, महातेजस्वी एवं महामुनि विश्वामित्र चुप हो गये ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनषष्टितमः सर्गः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका ऋषियोंसे त्रिशङ्कुका यज्ञ करानेके लिये अनुरोध, ऋषियोंद्वारा यज्ञका आरम्भ, त्रिशङ्कुका सशरीर स्वर्गगमन, इन्द्रद्वारा स्वर्गसे उनके गिराये जानेपर क्षुब्ध हुए विश्वामित्रका नूतन देवसर्गके लिये उद्योग, फिर देवताओंके अनुरोधसे उनका इस कार्यसे विरत होना

तपोबलहतान् ज्ञात्वा वासिष्ठान् समहोदयान् ।
ऋषिमध्ये महातेजा विश्वामित्रोऽभ्यभाषत ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—श्रीराम !] महोदयसहित वसिष्ठके पुत्रोंको अपने तपोबलसे नष्ट हुआ जान महातेजस्वी विश्वामित्रने ऋषियोंके बीचमें इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

अयमिक्ष्वाकुदायादस्त्रिशङ्कुरिति विश्रुतः ।
धर्मिष्ठश्च वदान्यश्च मां चैव शरणं गतः ॥ २ ॥

'मुनिवरो ! ये इक्ष्वाकुवंशमें उत्पन्न राजा त्रिशङ्कु हैं । ये विख्यात नरेश बड़े ही धर्मात्मा और दानी रहे हैं तथा इस समय मेरी शरणमें आये हैं ॥ २ ॥

स्वेनानेन शरीरेण देवलोकजिगीषया ।
यथायं स्वशरीरेण देवलोकं गमिष्यति ॥ ३ ॥
तथा प्रवर्त्यतां यज्ञो भवद्भिश्च मया सह ।

'इनकी इच्छा है कि मैं अपने इसी शरीरसे देवलोकपर अधिकार प्राप्त करूँ । अतः आपलोग मेरे साथ रहकर ऐसे यज्ञका अनुष्ठान करें, जिससे इन्हें इस शरीरसे ही देवलोककी प्राप्ति हो सके' ॥ ३½ ॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा सर्व एव महर्षयः ॥ ४ ॥
ऊचुः समेताः सहसा धर्मज्ञा धर्मसंहितम् ।
अयं कुशिकदायादो मुनिः परमकोपनः ॥ ५ ॥
यदाह वचनं सम्यगेतत् कार्यं न संशयः ।

विश्वामित्रजीकी यह बात सुनकर धर्मको जाननेवाले सभी महर्षियोंने सहसा एकत्र होकर आपसमें धर्मयुक्त परामर्श किया—'ब्राह्मणो ! कुशिकके पुत्र विश्वामित्र मुनि बड़े क्रोधी हैं । ये जो बात कह रहे हैं, उसका ठीक तरहसे पालन करना चाहिये । इसमें संशय नहीं है ॥ ४-५½ ॥

अग्निकल्पो हि भगवान् शापं दास्यति रोषतः ॥ ६ ॥
तस्मात् प्रवर्त्यतां यज्ञः सशरीरो यथा दिवि ।
गच्छेदिक्ष्वाकुदायादो विश्वामित्रस्य तेजसा ॥ ७ ॥

'ये भगवान् विश्वामित्र अग्निके समान तेजस्वी हैं । यदि इनकी बात नहीं मानी गयी तो ये रोषपूर्वक शाप दे देंगे ।

इसलिये ऐसे यज्ञका आरम्भ करना चाहिये, जिससे विश्वामित्रके तेजसे ये इक्ष्वाकुनन्दन त्रिशङ्कु सशरीर स्वर्गलोकमें जा सकें' ॥ ६-७ ॥

ततः प्रवर्त्यतां यज्ञः सर्वे समधितिष्ठत ।
एवमुक्त्वा महर्षयः संजह्रुस्ताः क्रियास्तदा ॥ ८ ॥

इस तरह विचार करके उन्होंने सर्वसम्मतिसे यह निश्चय किया कि 'यज्ञ आरम्भ किया जाय।' ऐसा निश्चय करके महर्षियोंने उस समय अपना-अपना कार्य आरम्भ किया ॥८॥

याजकश्च महातेजा विश्वामित्रोऽभवत् क्रतौ ।
ऋत्विजश्चानुपूर्व्येण मन्त्रवन्मन्त्रकोविदाः ॥ ९ ॥
चक्रुः सर्वाणि कर्माणि यथाकल्पं यथाविधि ।

महातेजस्वी विश्वामित्र स्वयं ही उस यज्ञमें याजक (अध्वर्यु) हुए । फिर क्रमशः अनेक मन्त्रवेत्ता ब्राह्मण ऋत्विज हुए; जिन्होंने कल्पशास्त्रके अनुसार विधि एवं मन्त्रोच्चारणपूर्वक सारे कार्य सम्पन्न किये ॥ ९½ ॥

ततः कालेन महता विश्वामित्रो महातपाः ॥ १० ॥
चकारावाहनं तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ।
नाभ्यागमंस्तदा तत्र भागार्थं सर्वदेवताः ॥ ११ ॥

तदनन्तर बहुत समयतक यत्नपूर्वक मन्त्रपाठ करके महातपस्वी विश्वामित्रने अपना-अपना भाग ग्रहण करनेके लिये सम्पूर्ण देवताओंका आवाहन किया; परंतु उस समय वहाँ भाग लेनेके लिये वे सब देवता नहीं आये ॥१०-११॥

ततः कोपसमाविष्टो विश्वामित्रो महामुनिः ।
स्रुवमुद्यम्य सक्रोधस्त्रिशङ्कुमिदमब्रवीत् ॥ १२ ॥

इससे महामुनि विश्वामित्रको बड़ा क्रोध आया और उन्होंने स्रुवा उठाकर रोषके साथ राजा त्रिशङ्कुसे इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

पश्य मे तपसो वीर्यं स्वार्जितस्य नरेश्वर ।
एष त्वां स्वशरीरेण नयामि स्वर्गमोजसा ॥ १३ ॥

'नरेश्वर ! अब तुम मेरेद्वारा उपार्जित तपस्याका बल देखो। मैं अभी तुम्हें अपनी शक्तिसे सशरीर स्वर्गलोकमें पहुँचाता हूँ ॥ १३ ॥

दुष्प्रापं स्वशरीरेण स्वर्गं गच्छ नरेश्वर ।
स्वार्जितं किंचिदप्यस्ति मया हि तपसः फलम् ॥ १४ ॥
राजंस्त्वं तेजसा तस्य सशरीरो दिवं व्रज ।

'राजन् ! आज तुम अपने इस शरीरके साथ ही दुर्लभ स्वर्गलोकको जाओ । नरेश्वर ! यदि मैंने तपस्याका कुछ भी फल प्राप्त किया है तो उसके प्रभावसे तुम सशरीर स्वर्गलोकको जाओ' ॥ १४½ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् सशरीरो नरेश्वरः ॥ १५ ॥
दिवं जगाम काकुत्स्थ मुनीनां पश्यतां तदा ।

श्रीराम ! विश्वामित्र मुनिके इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु सब मुनियोंके देखते-देखते उस समय अपने शरीरके साथ ही स्वर्गलोकको चले गये ॥ १५½ ॥

स्वर्गलोकं गतं दृष्ट्वा त्रिशङ्कुं पाकशासनः ॥ १६ ॥
सह सर्वैः सुरगणैरिदं वचनमब्रवीत् ।

त्रिशङ्कुको स्वर्गलोकमें पहुँचा हुआ देख समस्त देवताओंके साथ पाकशासन इन्द्रने उनसे इस प्रकार कहा—॥१६½॥

त्रिशङ्को गच्छ भूयस्त्वं नासि स्वर्गकृतालयः ॥ १७ ॥
गुरुशापहतो मूढ पत भूमिमवाक्शिराः ।

'मूर्ख त्रिशङ्कु ! तू फिर यहाँसे लौट जा, तेरे लिये स्वर्गमें स्थान नहीं है । तू गुरुके शापसे नष्ट हो चुका है, अतः नीचे मुँह किये पुनः पृथ्वीपर गिर जा' ॥ १७½ ॥

एवमुक्तो महेन्द्रेण त्रिशङ्कुरपतत् पुनः ॥ १८ ॥
विक्रोशमानस्त्राहीति विश्वामित्रं तपोधनम् ।

इन्द्रके इतना कहते ही राजा त्रिशङ्कु तपोधन विश्वामित्रको पुकारकर 'त्राहि-त्राहि' की रट लगाते हुए पुनः स्वर्गसे नीचे गिरे ॥ १८½ ॥

तच्छ्रुत्वा वचनं तस्य क्रोशमानस्य कौशिकः ॥ १९ ॥
रोषमाहारयत् तीव्रं तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ।

चीखते-चिल्लाते हुए त्रिशङ्कुकी वह करुण पुकार सुनकर कौशिक मुनिको बड़ा क्रोध हुआ । वे त्रिशङ्कुसे बोले— 'राजन् ! वहीं ठहर जा, वहीं ठहर जा' (उनके ऐसा कहनेपर त्रिशङ्कु बीचमें ही लटके रह गये) ॥ १९½ ॥

ऋषिमध्ये स तेजस्वी प्रजापतिरिवापरः ॥ २० ॥
सृजन् दक्षिणमार्गस्थान् सप्तर्षीनपरान् पुनः ।
नक्षत्रवंशमपरमसृजत् क्रोधमूर्च्छितः ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् तेजस्वी विश्वामित्रने ऋषिमण्डलीके बीच दूसरे प्रजापतिके समान दक्षिणमार्गके लिये नये सप्तर्षियोंकी सृष्टि की तथा क्रोधसे भरकर उन्होंने नवीन नक्षत्रोंका भी निर्माण कर डाला ॥ २०-२१ ॥

दक्षिणां दिशमास्थाय ऋषिमध्ये महायशाः ।
सृष्ट्वा नक्षत्रवंशं च क्रोधेन कलुषीकृतः ॥ २२ ॥
अन्यमिन्द्रं करिष्यामि लोको वा स्यादनिन्द्रकः ।
दैवतान्यपि स क्रोधात् स्रष्टुं समुपचक्रमे ॥ २३ ॥

वे महायशस्वी मुनि क्रोधसे कलुषित हो दक्षिण दिशामें ऋषिमण्डलीके बीच नूतन नक्षत्रमालाओंकी सृष्टि करके यह विचार करने लगे कि 'मैं दूसरे इन्द्रकी सृष्टि करूँगा अथवा मेरे द्वारा रचित स्वर्गलोक बिना इन्द्रके ही रहेगा।' ऐसा निश्चय करके उन्होंने क्रोधपूर्वक नूतन देवताओंकी सृष्टि प्रारम्भ की ॥ २२-२३ ॥

ततः परमसम्भ्रान्ताः सर्षिसङ्घाः सुरासुराः ।
विश्वामित्रं महात्मानमूचुः सानुनयं वचः ॥ २४ ॥

इससे समस्त देवता, असुर और ऋषि-समुदाय बहुत घबराये और सभी वहाँ आकर महात्मा विश्वामित्रसे विनयपूर्वक बोले—॥ २४ ॥

अयं राजा महाभाग गुरुशापपरिक्षतः।
सशरीरो दिवं यातुं नार्हत्येव तपोधन ॥ २५ ॥

'महाभाग ! ये राजा त्रिशङ्कु गुरुके शापसे अपना पुण्य नष्ट करके चाण्डाल हो गये हैं; अतः तपोधन ! ये सशरीर स्वर्गमें जानेके कदापि अधिकारी नहीं हैं' ॥ २५ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा देवानां मुनिपुङ्गवः।
अब्रवीत् सुमहद् वाक्यं कौशिकः सर्वदेवताः ॥२६॥

उन देवताओंकी यह बात सुनकर मुनिवर कौशिकने सम्पूर्ण देवताओंसे परमोत्कृष्ट वचन कहा—॥ २६ ॥

सशरीरस्य भद्रं वस्त्रिशङ्कोरस्य भूपतेः।
आरोहणं प्रतिज्ञातं नानृतं कर्तुमुत्सहे ॥ २७ ॥

'देवगण ! आपका कल्याण हो । मैंने राजा त्रिशङ्कुको सदेह स्वर्ग भेजनेकी प्रतिज्ञा कर ली है; अतः उसे मैं झूठी नहीं कर सकता ॥ २७ ॥

स्वर्गोऽस्तु सशरीरस्य त्रिशङ्कोरस्य शाश्वतः।
नक्षत्राणि च सर्वाणि मामकानि ध्रुवाण्यथ ॥ २८ ॥
यावल्लोका धरिष्यन्ति तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः।
यत् कृतानि सुराः सर्वे तदनुज्ञातुमर्हथ ॥ २९ ॥

'इन महाराज त्रिशङ्कुको सदा स्वर्गलोकका सुख प्राप्त होता रहे । मैंने जिन नक्षत्रोंका निर्माण किया है, वे सब सदा मौजूद रहें । जबतक संसार रहे, तबतक ये सभी वस्तुएँ, जिनकी मेरे द्वारा सृष्टि हुई है, सदा बनी रहें । देवताओ ! आप सब लोग इन बातोंका अनुमोदन करें' ॥ २८-२९ ॥

एवमुक्ताः सुराः सर्वे प्रत्यूचुर्मुनिपुङ्गवम्।
एवं भवतु भद्रं ते तिष्ठन्त्वेतानि सर्वशः ॥ ३० ॥
गगने तान्यनेकानि वैश्वानरपथाद् बहिः।
नक्षत्राणि मुनिश्रेष्ठ तेषु ज्योतिःषु जाज्वलन् ॥ ३१ ॥
अवाक्शिरास्त्रिशङ्कुश्च तिष्ठत्वमरसंनिभः।
अनुयास्यन्ति चैतानि ज्योतींषि नृपसत्तमम् ॥ ३२ ॥
कृतार्थं कीर्तिमन्तं च स्वर्गलोकगतं यथा।

उनके ऐसा कहनेपर सब देवता मुनिवर विश्वामित्रसे बोले—'महर्षे ! ऐसा ही हो । ये सभी वस्तुएँ बनी रहें और आपका कल्याण हो । मुनिश्रेष्ठ ! आपके रचे हुए अनेक नक्षत्र आकाशमें वैश्वानरपथसे बाहर प्रकाशित होंगे और उन्हीं ज्योतिर्मय नक्षत्रोंके बीचमें सिर नीचा किये त्रिशङ्कु भी प्रकाशमान रहेंगे । वहाँ इनकी स्थिति देवताओंके समान होगी और ये सभी नक्षत्र इन कृतार्थ एवं यशस्वी नृपश्रेष्ठका स्वर्गीय पुरुषकी भाँति अनुसरण करते रहेंगे' ॥३०—३२½॥

विश्वामित्रस्तु धर्मात्मा सर्वदेवैरभिष्टुतः ॥ ३३ ॥
ऋषिमध्ये महातेजा बाढमित्येव देवताः।

इसके बाद सम्पूर्ण देवताओंने ऋषियोंके बीचमें ही महातेजस्वी धर्मात्मा विश्वामित्र मुनिकी स्तुति की । इससे प्रसन्न होकर उन्होंने 'बहुत अच्छा' कहकर देवताओंका अनुरोध स्वीकार कर लिया ॥ ३३½ ॥

ततो देवा महात्मानो ऋषयश्च तपोधनाः।
जग्मुर्यथागतं सर्वे यज्ञस्यान्ते नरोत्तम ॥ ३४ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम ! तदनन्तर यज्ञ समाप्त होनेपर सब देवता और तपोधन महर्षि जैसे आये थे, उसी प्रकार अपने-अपने स्थानको लौट गये ॥ ३४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षष्टितमः सर्गः ॥ ६० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें साठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६० ॥

एकषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रकी पुष्कर तीर्थमें तपस्या तथा राजर्षि अम्बरीषका ऋचीकके मध्यम पुत्र शुनःशेपको यज्ञ-पशु बनानेके लिये खरीदकर लाना

विश्वामित्रो महातेजाः प्रस्थितान् वीक्ष्य तानृषीन्।
अब्रवीन्नरशार्दूल सर्वांस्तान् वनवासिनः ॥ १ ॥

[शतानन्दजी कहते हैं—] पुरुषसिंह श्रीराम ! यज्ञमें आये हुए उन सब वनवासी ऋषियोंको वहाँसे जाते देख महातेजस्वी विश्वामित्रने उनसे कहा—॥ १ ॥

महाविघ्नः प्रवृत्तोऽयं दक्षिणामास्थितो दिशम्।
दिशमन्यां प्रपत्स्यामस्तत्र तप्स्यामहे तपः ॥ २ ॥

'महर्षियो ! इस दक्षिण दिशामें रहनेसे हमारी तपस्यामें महान् विघ्न आ पड़ा है; अतः अब हम दूसरी दिशामें चले जायँगे और वहीं रहकर तपस्या करेंगे ॥ २ ॥

पश्चिमायां विशालायां पुष्करेषु महात्मनः।
सुखं तपश्चरिष्यामः सुखं तद्धि तपोवनम् ॥ ३ ॥

'विशाल पश्चिम दिशामें जो महात्मा ब्रह्माजीके तीन पुष्कर हैं, उन्हींके पास रहकर हम सुखपूर्वक तपस्या करेंगे; क्योंकि वह तपोवन बहुत ही सुखद है' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजाः पुष्करेषु महामुनिः ।
तप उग्रं दुराधर्षं तेपे मूलफलाशनः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर वे महातेजस्वी महामुनि पुष्करमें चले गये और वहाँ फल-मूलका भोजन करके उग्र एवं दुर्जय तपस्या करने लगे ॥ ४ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु अयोध्याधिपतिर्महान् ।
अम्बरीष इति ख्यातो यष्टुं समुपचक्रमे ॥ ५ ॥

इन्हीं दिनों अयोध्याके महाराज अम्बरीष एक यज्ञकी तैयारी करने लगे ॥ ५ ॥

तस्य वै यजमानस्य पशुमिन्द्रो जहार ह ।
प्रणष्टे तु पशौ विप्रो राजानमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

जब वे यज्ञमें लगे हुए थे, उस समय इन्द्रने उनके यज्ञपशुको चुरा लिया । पशुके खो जानेपर पुरोहितजीने राजासे कहा—॥ ६ ॥

पशुरभ्याहृतो राजन् प्रणष्टस्तव दुर्नयात् ।
अरक्षितारं राजानं घ्नन्ति दोषा नरेश्वर ॥ ७ ॥

'राजन् ! जो पशु यहाँ लाया गया था, वह आपकी दुर्नीतिके कारण खो गया । नरेश्वर ! जो राजा यज्ञ-पशुकी रक्षा नहीं करता, उसे अनेक प्रकारके दोष नष्ट कर डालते हैं ॥ ७ ॥

प्रायश्चित्तं महद्ध्येतन्नरं वा पुरुषर्षभ ।
आनयस्व पशुं शीघ्रं यावत् कर्म प्रवर्तते ॥ ८ ॥

'पुरुषप्रवर ! जबतक कर्मका आरम्भ होता है, उसके पहले ही खोये हुए पशुकी खोज कराकर उसे शीघ्र यहाँ ले आओ । अथवा उसके प्रतिनिधिरूपसे किसी पुरुष पशुको खरीद लाओ । यही इस पापका महान् प्रायश्चित्त है' ॥ ८ ॥

उपाध्यायवचः श्रुत्वा स राजा पुरुषर्षभः ।
अन्वियेष महाबुद्धिः पशुं गोभिः सहस्रशः ॥ ९ ॥

पुरोहितकी यह बात सुनकर महाबुद्धिमान् पुरुषश्रेष्ठ राजा अम्बरीषने हजारों गौओंके मूल्यपर खरीदनेके लिये एक पुरुषका अन्वेषण किया ॥ ९ ॥

देशाञ्जनपदांस्तांस्तान् नगराणि वनानि च ।
आश्रमाणि च पुण्यानि मार्गमाणो महीपतिः ॥ १० ॥
स पुत्रसहितं तात सभार्यं रघुनन्दन ।
भृगुतुङ्गे समासीनमृचीकं संददर्श ह ॥ ११ ॥

तात रघुनन्दन ! विभिन्न देशों, जनपदों, नगरों, वनों तथा पवित्र आश्रमोंमें खोज करते हुए राजा अम्बरीष भृगुतुङ्ग पर्वतपर पहुँचे और वहाँ उन्होंने पत्नी तथा पुत्रोंके साथ बैठे हुए ऋचीक मुनिका दर्शन किया ॥ १०-११ ॥

तमुवाच महातेजाः प्रणम्याभिप्रसाद्य च ।
महर्षिं तपसा दीप्तं राजर्षिरमितप्रभः ॥ १२ ॥

अमित कान्तिमान् एवं महातेजस्वी राजर्षि अम्बरीषने तपस्यासे उद्दीप्त होनेवाले महर्षि ऋचीकको प्रणाम किया और उन्हें प्रसन्न करके कहा ॥ १२ ॥

पृष्ट्वा सर्वत्र कुशलमृचीकं तमिदं वचः ।
गवां शतसहस्रेण विक्रीणीषे सुतं यदि ॥ १३ ॥
पशोरर्थे महाभाग कृतकृत्योऽस्मि भार्गव ।

पहले तो उन्होंने ऋचीक मुनिसे उनकी सभी वस्तुओंके विषयमें कुशल-समाचार पूछा, उसके बाद इस प्रकार कहा—'महाभाग भृगुनन्दन ! यदि आप एक लाख गौएँ लेकर अपने एक पुत्रको पशु बनानेके लिये बेचें तो मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा ॥ १३½ ॥

सर्वे परिगता देशा यज्ञियं न लभे पशुम् ॥ १४ ॥
दातुमर्हसि मूल्येन सुतमेकमितो मम ।

'मैं सारे देशोंमें घूम आया; परंतु कहीं भी यज्ञोपयोगी पशु नहीं पा सका । अतः आप उचित मूल्य लेकर यहाँ मुझे अपने एक पुत्रको दे दीजिये' ॥ १४½ ॥

एवमुक्तो महातेजा ऋचीकस्त्वब्रवीद् वचः ॥ १५ ॥
नाहं ज्येष्ठं नरश्रेष्ठ विक्रीणीयां कथंचन ।

उनके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी ऋचीक बोले—'नरश्रेष्ठ ! मैं अपने ज्येष्ठ पुत्रको तो किसी तरह नहीं बेचूँगा' ॥ १५½ ॥

ऋचीकस्य वचः श्रुत्वा तेषां माता महात्मनाम् ॥ १६ ॥
उवाच नरशार्दूलमम्बरीषमिदं वचः ।

ऋचीक मुनिकी बात सुनकर उन महात्मा पुत्रोंकी माताने पुरुषसिंह अम्बरीषसे इस प्रकार कहा—॥ १६½ ॥

अविक्रेयं सुतं ज्येष्ठं भगवानाह भार्गवः ॥ १७ ॥
ममापि दयितं विद्धि कनिष्ठं शुनकं प्रभो ।
तस्मात् कनीयसं पुत्रं न दास्ये तव पार्थिव ॥ १८ ॥

'प्रभो ! भगवान् भार्गव कहते हैं कि ज्येष्ठ पुत्र कदापि बेचने योग्य नहीं है; परंतु आपको मालूम होना चाहिये जो सबसे छोटा पुत्र शुनक है, वह मुझे भी बहुत ही प्रिय है । अतः पृथ्वीनाथ ! मैं अपना छोटा पुत्र आपको कदापि नहीं दूँगी ॥ १७-१८ ॥

प्रायेण हि नरश्रेष्ठ ज्येष्ठाः पितृषु वल्लभाः ।
मातॄणां च कनीयांसस्तस्माद् रक्ष्ये कनीयसम् ॥ १९ ॥

'नरश्रेष्ठ ! प्रायः जेठे पुत्र पिताओंको प्रिय होते हैं और छोटे पुत्र माताओंको । अतः मैं अपने कनिष्ठ पुत्रकी अवश्य रक्षा करूँगी' ॥ १९ ॥

उक्तवाक्ये मुनौ तस्मिन् मुनिपत्न्यां तथैव च ।
शुनःशेपः स्वयं राम मध्यमो वाक्यमब्रवीत् ॥ २० ॥

श्रीराम ! मुनि और उनकी पत्नीके ऐसा कहनेपर मझले पुत्र शुनःशेपने स्वयं कहा—॥ २० ॥

पिता ज्येष्ठमविक्रेयं माता चाह कनीयसम्।
विक्रेयं मध्यमं मन्ये राजपुत्र नयस्व माम्॥ २१॥

'राजपुत्र! पिताने ज्येष्ठको और माताने कनिष्ठ पुत्रको बेचनेके लिये अयोग्य बतलाया है। अतः मैं समझता हूँ इन दोनोंकी दृष्टिमें मझला पुत्र ही बेचनेके योग्य है। इसलिये तुम मुझे ही ले चलो'॥ २१॥

अथ राजा महाबाहो वाक्यान्ते ब्रह्मवादिनः।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य कोटिभी रत्नराशिभिः॥ २२॥
गवां शतसहस्रेण शुनःशेपं नरेश्वरः।
गृहीत्वा परमप्रीतो जगाम रघुनन्दन॥ २३॥

महाबाहु रघुनन्दन! ब्रह्मवादी मझले पुत्रके ऐसा कहनेपर राजा अम्बरीष बड़े प्रसन्न हुए और एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रत्नोंके ढेर तथा एक लाख गौओंके बदले शुनःशेपको लेकर वे घरकी ओर चले॥ २२-२३॥

अम्बरीषस्तु राजर्षी रथमारोप्य सत्वरः।
शुनःशेपं महातेजा जगामाशु महायशाः॥ २४॥

महातेजस्वी महायशस्वी राजर्षि अम्बरीष शुनःशेपको रथपर बिठाकर बड़ी उतावलीके साथ तीव्र गतिसे चले॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकषष्टितमः सर्गः॥ ६१॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें एकसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६१॥

द्विषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा शुनःशेपकी रक्षाका सफल प्रयत्न और तपस्या

शुनःशेपं नरश्रेष्ठ गृहीत्वा तु महायशाः।
व्यश्रमत् पुष्करे राजा मध्याह्ने रघुनन्दन॥ १॥

[शतानन्दजी बोले—] नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! महायशस्वी राजा अम्बरीष शुनःशेपको साथ लेकर दोपहरके समय पुष्कर तीर्थमें आये और वहाँ विश्राम करने लगे॥ १॥

तस्य विश्रममाणस्य शुनःशेपो महायशाः।
पुष्करं ज्येष्ठमागम्य विश्वामित्रं ददर्श ह॥ २॥
तप्यन्तमृषिभिः सार्धं मातुलं परमातुरः।
विषण्णवदनो दीनस्तृष्णया च श्रमेण च॥ ३॥
पपाताङ्के मुने राम वाक्यं चेदमुवाच ह।

श्रीराम! जब वे विश्राम करने लगे, उस समय महायशस्वी शुनःशेप ज्येष्ठ पुष्करमें आकर ऋषियोंके साथ तपस्या करते हुए अपने मामा विश्वामित्रसे मिला। वह अत्यन्त आतुर एवं दीन हो रहा था। उसके मुखपर विषाद छा गया था। वह भूख-प्यास और परिश्रमसे दीन हो मुनिकी गोदमें गिर पड़ा और इस प्रकार बोला—॥ २-३½॥

न मेऽस्ति माता न पिता ज्ञातयो बान्धवाः कुतः॥ ४॥
त्रातुमर्हसि मां सौम्य धर्मेण मुनिपुङ्गव।

'सौम्य! मुनिपुङ्गव! न मेरे माता हैं, न पिता, फिर भाई-बन्धु कहाँसे हो सकते हैं। (मैं असहाय हूँ अतः) आप ही धर्मके द्वारा मेरी रक्षा कीजिये॥ ४½॥

त्राता त्वं हि नरश्रेष्ठ सर्वेषां त्वं हि भावनः॥ ५॥
राजा च कृतकार्यः स्यादहं दीर्घायुरव्ययः।
स्वर्गलोकमुपाश्नीयां तपस्तप्त्वा ह्यनुत्तमम्॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! आप सबके रक्षक तथा अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति करानेवाले हैं। ये राजा अम्बरीष कृतार्थ हो जायँ और मैं भी विकाररहित दीर्घायु होकर सर्वोत्तम तपस्या करके स्वर्गलोक प्राप्त कर लूँ—ऐसी कृपा कीजिये॥ ५-६॥

स मे नाथो ह्यनाथस्य भव भव्येन चेतसा।
पितेव पुत्रं धर्मात्मंस्त्रातुमर्हसि किल्बिषात्॥ ७॥

'धर्मात्मन्! आप अपने निर्मलचित्तसे मुझ अनाथके नाथ (असहायके संरक्षक) हो जायँ। जैसे पिता अपने पुत्रकी रक्षा करता है, उसी प्रकार आप मुझे इस पापमूलक विपत्तिसे बचाइये'॥ ७॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा विश्वामित्रो महातपाः।
सान्त्वयित्वा बहुविधं पुत्रानिदमुवाच ह॥ ८॥

शुनःशेपकी वह बात सुनकर महातपस्वी विश्वामित्र उसे नाना प्रकारसे सान्त्वना दे अपने पुत्रोंसे इस प्रकार बोले—॥

यत्कृते पितरः पुत्राञ्जनयन्ति शुभार्थिनः।
परलोकहितार्थाय तस्य कालोऽयमागतः॥ ९॥

'बच्चो! शुभकी अभिलाषा रखनेवाले पिता जिस पारलौकिक हितके उद्देश्यसे पुत्रोंको जन्म देते हैं, उसकी पूर्तिका यह समय आ गया है॥ ९॥

अयं मुनिसुतो बालो मत्तः शरणमिच्छति।
अस्य जीवितमात्रेण प्रियं कुरुत पुत्रकाः॥ १०॥

'पुत्रो! यह बालक मुनिकुमार मुझसे अपनी रक्षा चाहता है, तुमलोग अपना जीवनमात्र देकर इसका प्रिय करो॥ १०॥

सर्वे सुकृतकर्माणः सर्वे धर्मपरायणाः।
पशुभूता नरेन्द्रस्य तृप्तिमग्नेः प्रयच्छत॥ ११॥

'तुम सब-के-सब पुण्यात्मा और धर्मपरायण हो। अतः राजाके यज्ञमें पशु बनकर अग्निदेवको तृप्ति प्रदान करो॥

नाथवांश्च शुनःशेपो यज्ञश्चाविघ्नतो भवेत्।
देवतास्तर्पिताश्च स्युर्मम चापि कृतं वचः ॥ १२ ॥

'इससे शुनःशेप सनाथ होगा, राजाका यज्ञ भी बिना किसी विघ्नबाधाके पूर्ण हो जायगा, देवता भी तृप्त होंगे और तुम्हारे द्वारा मेरी आज्ञाका पालन भी हो जायगा' ॥ १२ ॥

मुनेस्तद् वचनं श्रुत्वा मधुच्छन्दादयः सुताः।
साभिमानं नरश्रेष्ठ सलीलमिदमब्रुवन् ॥ १३ ॥

'नरश्रेष्ठ ! विश्वामित्र मुनिका वह वचन सुनकर उनके मधुच्छन्द आदि पुत्र अभिमान और अवहेलनापूर्वक इस प्रकार बोले—॥ १३ ॥

कथमात्मसुतान् हित्वा त्रायसेऽन्यसुतं विभो।
अकार्यमिव पश्यामः श्वमांसमिव भोजने ॥ १४ ॥

'प्रभो ! आप अपने बहुत-से पुत्रोंको त्यागकर दूसरेके एक पुत्रकी रक्षा कैसे करते हैं ? जैसे पवित्र भोजनमें कुत्तेका मांस पड़ जाय तो वह अग्राह्य हो जाता है, उसी प्रकार जहाँ अपने पुत्रोंकी रक्षा आवश्यक हो, वहाँ दूसरेके पुत्रकी रक्षाके कार्यको हम अकर्त्तव्यकी कोटिमें ही देखते हैं' ॥ १४ ॥

तेषां तद् वचनं श्रुत्वा पुत्राणां मुनिपुङ्गवः।
क्रोधसंरक्तनयनो व्याहर्तुमुपचक्रमे ॥ १५ ॥

उन पुत्रोंका वह कथन सुनकर मुनिवर विश्वामित्रके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। वे इस प्रकार कहने लगे—॥ १५ ॥

निःसाध्वसमिदं प्रोक्तं धर्मादपि विगर्हितम्।
अतिक्रम्य तु मद्वाक्यं दारुणं रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
श्वमांसभोजिनः सर्वे वासिष्ठा इव जातिषु।
पूर्णं वर्षसहस्रं तु पृथिव्यामनुवत्स्यथ ॥ १७ ॥

'अरे ! तुमलोगोंने निर्भय होकर ऐसी बात कही है, जो धर्मसे रहित एवं निन्दित है। मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जो यह दारुण एवं रोमाञ्चकारी बात तुमने मुँहसे निकाली है, इस अपराधके कारण तुम सब लोग भी वसिष्ठके पुत्रोंकी भाँति कुत्तेका मांस खानेवाली मुष्टिक आदि जातियोंमें जन्म लेकर पूरे एक हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीपर रहोगे' ॥

कृत्वा शापसमायुक्तान् पुत्रान् मुनिवरस्तदा।
शुनःशेपमुवाचार्तं कृत्वा रक्षां निरामयाम् ॥ १८ ॥

इस प्रकार अपने पुत्रोंको शाप देकर मुनिवर विश्वामित्रने उस समय शोकार्त शुनःशेपकी निर्विघ्न रक्षा करके उससे इस प्रकार कहा—॥ १८ ॥

पवित्रपाशैराबद्धो रक्तमाल्यानुलेपनः।
वैष्णवं यूपमासाद्य वाग्भिरग्निमुदाहर ॥ १९ ॥
इमे च गाथे द्वे दिव्ये गायेथा मुनिपुत्रक।
अम्बरीषस्य यज्ञेऽस्मिंस्ततः सिद्धिमवाप्स्यसि ॥ २० ॥

'मुनिकुमार ! अम्बरीषके इस यज्ञमें जब तुम्हें कुश आदिके पवित्र पाशोंसे बाँधकर लाल फूलोंकी माला और लाल चन्दन धारण करा दिया जाय, उस समय तुम विष्णु-देवता-सम्बन्धी यूपके पास जाकर वाणीद्वारा अग्निकी (इन्द्र और विष्णुकी) स्तुति करना और इन दो दिव्य गाथाओं-का गान करना। इससे तुम मनोवाञ्छित सिद्धि प्राप्त कर लोगे' ॥ १९-२० ॥

शुनःशेपो गृहीत्वा ते द्वे गाथे सुसमाहितः।
त्वरया राजसिंहं तमम्बरीषमुवाच ह ॥ २१ ॥

शुनःशेपने एकाग्रचित्त होकर उन दोनों गाथाओंको ग्रहण किया और राजसिंह अम्बरीषके पास जाकर उनसे शीघ्रतापूर्वक कहा—॥ २१ ॥

राजसिंह महाबुद्धे शीघ्रं गच्छावहे वयम्।
निवर्तयस्व राजेन्द्र दीक्षां च समुदाहर ॥ २२ ॥

'राजेन्द्र ! परम बुद्धिमान् राजसिंह ! अब हम दोनों शीघ्र चलें। आप यज्ञकी दीक्षा लें और यज्ञकार्य सम्पन्न करें' ॥ २२ ॥

तद् वाक्यमृषिपुत्रस्य श्रुत्वा हर्षसमन्वितः।
जगाम नृपतिः शीघ्रं यज्ञवाटमतन्द्रितः ॥ २३ ॥

ऋषिकुमारका वह वचन सुनकर राजा अम्बरीष आलस्य छोड़ हर्षसे उत्फुल्ल हो शीघ्रतापूर्वक यज्ञशालामें गये ॥ २३ ॥

सदस्यानुमते राजा पवित्रकृतलक्षणम्।
पशुं रक्ताम्बरं कृत्वा यूपे तं समबन्धयत् ॥ २४ ॥

वहाँ सदस्यकी अनुमति ले राजा अम्बरीषने शुनःशेपको कुशके पवित्रपाशसे बाँधकर उसे पशुके लक्षणसे सम्पन्न कर दिया और यज्ञ-पशुको लाल वस्त्र पहिनाकर यूपमें बाँध दिया ॥ २४ ॥

स बद्धो वाग्भिरग्र्याभिरभितुष्टाव वै सुरौ।
इन्द्रमिन्द्रानुजं चैव यथावन्मुनिपुत्रकः ॥ २५ ॥

बँधे हुए मुनिपुत्र शुनःशेपने उत्तम वाणीद्वारा इन्द्र और उपेन्द्र इन दोनों देवताओंकी यथावत् स्तुति की ॥ २५ ॥

ततः प्रीतः सहस्राक्षो रहस्यस्तुतितोषितः।
दीर्घमायुस्तदा प्रादाच्छुनःशेपाय वासवः ॥ २६ ॥

उस रहस्यभूत स्तुतिसे संतुष्ट होकर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र बड़े प्रसन्न हुए। उस समय उन्होंने शुनःशेपको दीर्घायु प्रदान की ॥ २६ ॥

स च राजा नरश्रेष्ठ यज्ञस्य च समाप्तवान्।
फलं बहुगुणं राम सहस्राक्षप्रसादजम् ॥ २७ ॥

नरश्रेष्ठ श्रीराम ! राजा अम्बरीषने भी देवराज इन्द्रकी कृपासे उस यज्ञका बहुगुणसम्पन्न उत्तम फल प्राप्त किया ॥ २७ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा भूयस्तेपे महातपाः।

पुष्करेषु नरश्रेष्ठ दशवर्षशतानि च ॥ २८ ॥

पुरुषप्रवर ! इसके बाद महातपस्वी धर्मात्मा विश्वामित्रने भी पुष्कर तीर्थमें पुनः एक हजार वर्षोंतक तीव्र तपस्या की ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विषष्टितमः सर्गः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बासठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६२ ॥

त्रिषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रको ऋषि एवं महर्षिपदकी प्राप्ति, मेनकाद्वारा उनका तपोभङ्ग तथा ब्रह्मर्षिपदकी प्राप्तिके लिये उनकी घोर तपस्या

पूर्णे वर्षसहस्रे तु व्रतस्नातं महामुनिम् ।
अभ्यगच्छन् सुराः सर्वे तपःफलचिकीर्षवः ॥ १ ॥

[**शतानन्दजी कहते हैं**—श्रीराम !] जब एक हजार वर्ष पूरे हो गये, तब उन्होंने व्रतकी समाप्तिका स्नान किया । स्नान कर लेनेपर महामुनि विश्वामित्रके पास सम्पूर्ण देवता उन्हें तपस्याका फल देनेकी इच्छासे आये ॥ १ ॥

अब्रवीत् सुमहातेजा ब्रह्मा सुरुचिरं वचः ।
ऋषिस्त्वमसि भद्रं ते स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २ ॥

उस समय महातेजस्वी ब्रह्माजीने मधुर वाणीमें कहा—'मुने ! तुम्हारा कल्याण हो । अब तुम अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके प्रभावसे ऋषि हो गये' ॥ २ ॥

तमेवमुक्त्वा देवेशस्त्रिदिवं पुनरभ्यगात् ।
विश्वामित्रो महातेजा भूयस्तेपे महत् तपः ॥ ३ ॥

उनसे ऐसा कहकर देवेश्वर ब्रह्माजी पुनः स्वर्गको चले गये । इधर महातेजस्वी विश्वामित्र पुनः बड़ी भारी तपस्यामें लग गये ॥ ३ ॥

ततः कालेन महता मेनका परमाप्सराः ।
पुष्करेषु नरश्रेष्ठ स्नातुं समुपचक्रमे ॥ ४ ॥

नरश्रेष्ठ ! तदनन्तर बहुत समय व्यतीत होनेपर परम सुन्दरी अप्सरा मेनका पुष्करमें आयी और वहाँ स्नानकी तैयारी करने लगी ॥ ४ ॥

तां ददर्श महातेजा मेनकां कुशिकात्मजः ।
रूपेणाप्रतिमां तत्र विद्युतं जलदे यथा ॥ ५ ॥

महातेजस्वी कुशिकनन्दन विश्वामित्रने वहाँ उस मेनकाको देखा । उसके रूप और लावण्यकी कहीं तुलना नहीं थी । जैसे बादलमें बिजली चमकती हो, उसी प्रकार वह पुष्करके जलमें शोभा पा रही थी ॥ ५ ॥

कन्दर्पदर्पवशगो मुनिस्तामिदमब्रवीत् ।
अप्सरः स्वागतं तेऽस्तु वस चेह ममाश्रमे ॥ ६ ॥

उसे देखकर विश्वामित्र मुनि कामके अधीन हो गये और उससे इस प्रकार बोले—'अप्सरा ! तेरा स्वागत है, तू मेरे इस आश्रममें निवास कर ॥ ६ ॥

अनुगृह्णीष्व भद्रं ते मदनेन विमोहितम् ।
इत्युक्ता सा वरारोहा तत्र वासमथाकरोत् ॥ ७ ॥

'तेरा भला हो । मैं कामसे मोहित हो रहा हूँ । मुझपर कृपा कर ।' उनके ऐसा कहनेपर सुन्दर कटिप्रदेशवाली मेनका वहाँ निवास करने लगी ॥ ७ ॥

तपसो हि महाविघ्नो विश्वामित्रमुपागमत् ।
तस्यां वसन्त्यां वर्षाणि पञ्च पञ्च च राघव ॥ ८ ॥
विश्वामित्राश्रमे सौम्ये सुखेन व्यतिचक्रमुः ।

इस प्रकार तपस्याका बहुत बड़ा विघ्न विश्वामित्रजीके पास स्वयं उपस्थित हो गया । रघुनन्दन ! मेनकाको विश्वामित्र-जीके उस सौम्य आश्रमपर रहते हुए दस वर्ष बड़े सुखसे बीते ॥

अथ काले गते तस्मिन् विश्वामित्रो महामुनिः ॥ ९ ॥
सव्रीड इव संवृत्तश्चिन्ताशोकपरायणः ।

इतना समय बीत जानेपर महामुनि विश्वामित्र लज्जित-से हो गये । चिन्ता और शोकमें डूब गये ॥ ९½ ॥

बुद्धिर्मुनेः समुत्पन्ना सामर्षा रघुनन्दन ॥ १० ॥
सर्वं सुराणां कर्मैतत् तपोऽपहरणं महत् ।

रघुनन्दन ! मुनिके मनमें रोषपूर्वक यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'यह सब देवताओंकी करतूत है । उन्होंने हमारी तपस्याका अपहरण करनेके लिये यह महान् प्रयास किया है ॥

अहोरात्रापदेशेन गताः संवत्सरा दश ॥ ११ ॥
काममोहाभिभूतस्य विघ्नोऽयं प्रत्युपस्थितः ।

'मैं कामजनित मोहसे ऐसा आक्रान्त हो गया कि मेरे दस वर्ष एक दिन-रातके समान बीत गये । यह मेरी तपस्यामें बहुत बड़ा विघ्न उपस्थित हो गया' ॥ ११½ ॥

स निःश्वसन् मुनिवरः पश्चात्तापेन दुःखितः ॥ १२ ॥

ऐसा विचारकर मुनिवर विश्वामित्र लंबी साँस खींचते हुए पश्चात्तापसे दुःखित हो गये ॥ १२ ॥

भीतामप्सरसं दृष्ट्वा वेपन्तीं प्राञ्जलिं स्थिताम् ।
मेनकां मधुरैर्वाक्यैर्विसृज्य कुशिकात्मजः ॥ १३ ॥
उत्तरं पर्वतं राम विश्वामित्रो जगाम ह ।

उस समय मेनका अप्सरा भयभीत हो थर-थर काँपती हुई हाथ जोड़कर उनके सामने खड़ी हो गयी। उसकी ओर देखकर कुशिकनन्दन विश्वामित्रने मधुर वचनोंद्वारा उसे विदा कर दिया और स्वयं वे उत्तर पर्वत (हिमवान्) पर चले गये॥

स कृत्वा नैष्ठिकीं बुद्धिं जेतुकामो महायशाः ॥ १४ ॥
कौशिकीतीरमासाद्य तपस्तेपे दुरासदम्।

वहाँ उन महायशस्वी मुनिने निश्चयात्मक बुद्धिका आश्रय ले कामदेवको जीतनेके लिये कौशिकी-तटपर जाकर दुर्जय तपस्या आरम्भ की॥ १४½ ॥

तस्य वर्षसहस्राणि घोरं तप उपासतः ॥ १५ ॥
उत्तरे पर्वते राम देवतानामभूद् भयम्।

श्रीराम! वहाँ उत्तर पर्वतपर एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्यामें लगे हुए विश्वामित्रसे देवताओंको बड़ा भय हुआ॥

आमन्त्रयन् समागम्य सर्वे सर्षिगणाः सुराः ॥ १६ ॥
महर्षिशब्दं लभतां साध्वयं कुशिकात्मजः।

सब देवता और ऋषि परस्पर मिलकर सलाह करने लगे—'ये कुशिकनन्दन विश्वामित्र महर्षिकी पदवी प्राप्त करें, यही इनके लिये उत्तम बात होगी'॥ १६½ ॥

देवतानां वचः श्रुत्वा सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥
अब्रवीन्मधुरं वाक्यं विश्वामित्रं तपोधनम्।
महर्षे स्वागतं वत्स तपसोग्रेण तोषितः ॥ १८ ॥
महत्त्वमृषिमुख्यत्वं ददामि तव कौशिक।

देवताओंकी बात सुनकर सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी तपोधन विश्वामित्रके पास जा मधुर वाणीमें बोले—'महर्षे! तुम्हारा स्वागत है। वत्स कौशिक! मैं तुम्हारी उग्र तपस्यासे बहुत संतुष्ट हूँ और तुम्हें महत्ता एवं ऋषियोंमें श्रेष्ठता प्रदान करता हूँ'॥ १७-१८½ ॥

ब्रह्मणस्तु वचः श्रुत्वा विश्वामित्रस्तपोधनः ॥ १९ ॥
प्राञ्जलिः प्रणतो भूत्वा प्रत्युवाच पितामहम्।
ब्रह्मर्षिशब्दमतुलं स्वार्जितैः कर्मभिः शुभैः ॥ २० ॥
यदि मे भगवन्नाह ततोऽहं विजितेन्द्रियः।

ब्रह्माजीका यह वचन सुनकर तपोधन विश्वामित्र हाथ जोड़ प्रणाम करके उनसे बोले—'भगवन्! यदि अपने द्वारा उपार्जित शुभकर्मोंके फलसे मुझे आप ब्रह्मर्षिका अनुपम पद प्रदान कर सकें तो मैं अपनेको जितेन्द्रिय समझूँगा'॥

तमुवाच ततो ब्रह्मा न तावत् त्वं जितेन्द्रियः ॥ २१ ॥
यतस्व मुनिशार्दूल इत्युक्त्वा त्रिदिवं गतः।

तब ब्रह्माजीने उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ! अभी तुम जितेन्द्रिय नहीं हुए हो। इसके लिये प्रयत्न करो।' ऐसा कहकर वे स्वर्गलोकको चले गये॥ २१½ ॥

विप्रस्थितेषु देवेषु विश्वामित्रो महामुनिः ॥ २२ ॥
ऊर्ध्वबाहुर्निरालम्बो वायुभक्षस्तपश्चरन्।

देवताओंके चले जानेपर महामुनि विश्वामित्रने पुनः घोर तपस्या आरम्भ की। वे दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये बिना किसी आधारके खड़े होकर केवल वायु पीकर रहते हुए तपमें संलग्न हो गये॥ २२½ ॥

घर्मे पञ्चतपा भूत्वा वर्षास्वाकाशसंश्रयः ॥ २३ ॥
शिशिरे सलिलेशायी रात्र्यहानि तपोधनः।
एवं वर्षसहस्रं हि तपो घोरमुपागमत् ॥ २४ ॥

गर्मीके दिनोंमें पञ्चाग्निका सेवन करते, वर्षाकालमें खुले आकाशके नीचे रहते और जाड़ेके समय रात-दिन पानीमें खड़े रहते थे। इस प्रकार उन तपोधनने एक हजार वर्षोंतक घोर तपस्या की॥ २३-२४॥

तस्मिन् संतप्यमाने तु विश्वामित्रे महामुनौ।
संतापः सुमहानासीत् सुराणां वासवस्य च ॥ २५ ॥

महामुनि विश्वामित्रके इस प्रकार तपस्या करते समय देवताओं और इन्द्रके मनमें बड़ा भारी संताप हुआ॥ २५ ॥

रम्भामप्सरसं शक्रः सर्वैः सह मरुद्गणैः।
उवाचात्महितं वाक्यमहितं कौशिकस्य च ॥ २६ ॥

समस्त मरुद्गणोंसहित इन्द्रने उस समय रम्भा अप्सरासे ऐसी बात कही, जो अपने लिये हितकर और विश्वामित्रके लिये अहितकर थी॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिषष्टितमः सर्गः॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६३ ॥

चतुःषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रका रम्भाको शाप देकर पुनः घोर तपस्याके लिये दीक्षा लेना

सुरकार्यमिदं रम्भे कर्तव्यं सुमहत् त्वया।
लोभनं कौशिकस्येह काममोहसमन्वितम् ॥ १ ॥

(इन्द्र बोले—) रम्भे! देवताओंका एक बहुत बड़ा कार्य उपस्थित हुआ है। इसे तुम्हें ही पूरा करना है। तू महर्षि विश्वामित्रको इस प्रकार लुभा, जिससे वे काम और मोहके वशीभूत हो जायँ॥ १॥

तथोक्ता साप्सरा राम सहस्राक्षेण धीमता।
व्रीडिता प्राञ्जलिर्वाक्यं प्रत्युवाच सुरेश्वरम् ॥ २ ॥

श्रीराम! बुद्धिमान् इन्द्रके ऐसा कहनेपर वह अप्सरा लज्जित हो हाथ जोड़कर देवेश्वर इन्द्रसे बोली—॥ २ ॥

अयं सुरपते घोरो विश्वामित्रो महामुनिः।
क्रोधमुत्स्रक्ष्यते घोरं मयि देव न संशयः॥ ३ ॥

'सुरपते! ये महामुनि विश्वामित्र बड़े भयंकर हैं। देव! इसमें संदेह नहीं कि ये मुझपर भयानक क्रोधका प्रयोग करेंगे ॥ ३ ॥

ततो हि मे भयं देव प्रसादं कर्तुमर्हसि।
एवमुक्तस्तया राम सभयं भीतया तदा॥ ४ ॥
तामुवाच सहस्राक्षो वेपमानां कृताञ्जलिम्।
मा भैषी रम्भे भद्रं ते कुरुष्व मम शासनम्॥ ५ ॥

'अतः देवेश्वर! मुझे उनसे बड़ा डर लगता है, आप मुझपर कृपा करें।' श्रीराम! डरी हुई रम्भाके इस प्रकार भयपूर्वक कहनेपर सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हाथ जोड़कर खड़ी और थर-थर काँपती हुई रम्भासे इस प्रकार बोले—'रम्भे! तू भय न कर, तेरा भला हो, तू मेरी आज्ञा मान ले॥४-५॥

कोकिलो हृदयग्राही माधवे रुचिरद्रुमे।
अहं कन्दर्पसहितः स्थास्यामि तव पार्श्वतः॥ ६ ॥

'वैशाख मासमें जब कि प्रत्येक वृक्ष नवपल्लवोंसे परम सुन्दर शोभा धारण कर लेता है, अपनी मधुर काकलीसे सबके हृदयको खींचनेवाले कोकिल और कामदेवके साथ मैं भी तेरे पास रहूँगा ॥ ६ ॥

त्वं हि रूपं बहुगुणं कृत्वा परमभास्वरम्।
तमृषिं कौशिकं भद्रे भेदयस्व तपस्विनम्॥ ७ ॥

'भद्रे! तू अपने परम कान्तिमान् रूपको हाव-भाव आदि विविध गुणोंसे सम्पन्न करके उसके द्वारा विश्वामित्र मुनिको तपस्यासे विचलित कर दे' ॥ ७ ॥

सा श्रुत्वा वचनं तस्य कृत्वा रूपमनुत्तमम्।
लोभयामास ललिता विश्वामित्रं शुचिस्मिता॥ ८ ॥

देवराजका यह वचन सुनकर उस मधुर मुसकानवाली सुन्दरी अप्सराने परम उत्तम रूप बनाकर विश्वामित्रको लुभाना आरम्भ किया ॥ ८ ॥

कोकिलस्य तु शुश्राव वल्गु व्याहरतः स्वनम्।
सम्प्रहृष्टेन मनसा स चैनामन्ववैक्षत॥ ९ ॥

विश्वामित्रने मीठी बोली बोलनेवाले कोकिलकी मधुर काकली सुनी। उन्होंने प्रसन्नचित्त होकर जब उस ओर दृष्टिपात किया, तब सामने रम्भा खड़ी दिखायी दी ॥ ९ ॥

अथ तस्य च शब्देन गीतेनाप्रतिमेन च।
दर्शनेन च रम्भाया मुनिः संदेहमागतः॥ १० ॥

कोकिलके कलरव, रम्भाके अनुपम गीत और अप्रत्याशित दर्शनसे मुनिके मनमें संदेह हो गया ॥ १० ॥

सहस्राक्षस्य तत्सर्वं विज्ञाय मुनिपुङ्गवः।
रम्भां क्रोधसमाविष्टः शशाप कुशिकात्मजः॥ ११ ॥

देवराजका वह सारा कुचक्र उनकी समझमें आ गया। फिर तो मुनिवर विश्वामित्रने क्रोधमें भरकर रम्भाको शाप देते हुए कहा—॥ ११ ॥

यन्मां लोभयसे रम्भे कामक्रोधजयैषिणम्।
दशवर्षसहस्राणि शैली स्थास्यसि दुर्भगे॥ १२ ॥

'दुर्भगे रम्भे! मैं काम और क्रोधपर विजय पाना चाहता हूँ और तू आकर मुझे लुभाती है। अतः इस अपराधके कारण तू दस हजार वर्षोंतक पत्थरकी प्रतिमा बनकर खड़ी रहेगी ॥ १२ ॥

ब्राह्मणः सुमहातेजास्तपोबलसमन्वितः।
उद्धरिष्यति रम्भे त्वां मत्क्रोधकलुषीकृताम्॥ १३ ॥

'रम्भे! शापका समय पूरा हो जानेके बाद एक महान् तेजस्वी और तपोबलसम्पन्न ब्राह्मण (ब्रह्माजीके पुत्र वसिष्ठ) मेरे क्रोधसे कलुषित तेरा उद्धार करेंगे' ॥ १३ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।
अशक्नुवन् धारयितुं कोपं संतापमात्मनः॥ १४ ॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी महामुनि विश्वामित्र अपना क्रोध न रोक सकनेके कारण मन-ही-मन संतप्त हो उठे ॥ १४ ॥

तस्य शापेन महता रम्भा शैली तदाभवत्।
वचः श्रुत्वा च कन्दर्पो महर्षेः स च निर्गतः॥ १५ ॥

मुनिके उस महाशापसे रम्भा तत्काल पत्थरकी प्रतिमा बन गयी। महर्षिका वह शापयुक्त वचन सुनकर कन्दर्प और इन्द्र वहाँसे खिसक गये ॥ १५ ॥

कोपेन च महातेजास्तपोऽपहरणे कृते।
इन्द्रियैरजितै राम न लेभे शान्तिमात्मनः॥ १६ ॥

श्रीराम! क्रोधसे तपस्याका क्षय हो गया और इन्द्रियाँ अभीतक काबूमें न आ सकीं, यह विचारकर उन महातेजस्वी मुनिके चित्तको शान्ति नहीं मिलती थी ॥ १६ ॥

बभूवास्य मनश्चिन्ता तपोऽपहरणे कृते।
नैवं क्रोधं गमिष्यामि न च वक्ष्ये कथंचन॥ १७ ॥

तपस्याका अपहरण हो जानेपर उनके मनमें यह विचार उत्पन्न हुआ कि 'अबसे न तो क्रोध करूँगा और न किसी भी अवस्थामें मुँहसे कुछ बोलूँगा ॥ १७ ॥

अथवा नोच्छ्वसिष्यामि संवत्सरशतान्यपि।
अहं हि शोषयिष्यामि आत्मानं विजितेन्द्रियः॥ १८ ॥

'अथवा सौ वर्षोंतक मैं श्वास भी न लूँगा। इन्द्रियोंको जीतकर इस शरीरको सुखा डालूँगा ॥ १८ ॥

तावद् यावद्धि मे प्राप्तं ब्राह्मण्यं तपसार्जितम्।

अनुच्छ्वसन्नभुञ्जानस्तिष्ठेयं शाश्वतीः समाः ॥ १९ ॥

'जबतक अपनी तपस्यासे उपार्जित ब्राह्मणत्व मुझे प्राप्त न होगा, तबतक चाहे अनन्त वर्ष बीत जायँ, मैं बिना खाये-पीये खड़ा रहूँगा और साँसतक न लूँगा ॥ १९ ॥

नहि मे तप्यमानस्य क्षयं यास्यन्ति मूर्तयः ।
एवं वर्षसहस्रस्य दीक्षां स मुनिपुङ्गवः ।
चकाराप्रतिमां लोके प्रतिज्ञां रघुनन्दन ॥ २० ॥

'तपस्या करते समय मेरे शरीरके अवयव कदापि नष्ट नहीं होंगे ।' रघुनन्दन ! ऐसा निश्चय करके मुनिवर विश्वामित्रने पुनः एक हजार वर्षोंतक तपस्या करनेके लिये दीक्षा ग्रहण की । उन्होंने जो प्रतिज्ञा की थी, उसकी संसारमें कहीं तुलना नहीं है ॥ २० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःषष्टितमः सर्गः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमः सर्गः

विश्वामित्रजीकी घोर तपस्या, उन्हें ब्राह्मणत्वकी प्राप्ति तथा राजा जनकका उनकी प्रशंसा करके उनसे विदा ले राजभवनको लौटना

अथ हैमवतीं राम दिशं त्यक्त्वा महामुनिः ।
पूर्वां दिशमनुप्राप्य तपस्तेपे सुदारुणम् ॥ १ ॥

(शतानन्दजी कहते हैं—) श्रीराम! पूर्वोक्त प्रतिज्ञाके अनन्तर महामुनि विश्वामित्र उत्तर दिशाको त्यागकर पूर्व दिशामें चले गये और वहीं रहकर अत्यन्त कठोर तपस्या करने लगे ॥ १ ॥

मौनं वर्षसहस्रस्य कृत्वा व्रतमनुत्तमम् ।
चकाराप्रतिमं राम तपः परमदुष्करम् ॥ २ ॥

रघुनन्दन ! एक सहस्र वर्षोंतक परम उत्तम मौन व्रत धारण करके वे परम दुष्कर तपस्यामें लगे रहे । उनके उस तपकी कहीं तुलना न थी ॥ २ ॥

पूर्णे वर्षसहस्रे तु काष्ठभूतं महामुनिम् ।
विघ्नैर्बहुभिराधूतं क्रोधो नान्तरमाविशत् ॥ ३ ॥

एक हजार वर्ष पूर्ण होनेतक वे महामुनि काष्ठकी भाँति निश्चेष्ट बने रहे । बीच-बीचमें उनपर बहुत-से विघ्नोंका आक्रमण हुआ, परंतु क्रोध उनके भीतर नहीं घुसने पाया ॥

स कृत्वा निश्चयं राम तप आतिष्ठताव्ययम् ।
तस्य वर्षसहस्रस्य व्रते पूर्णे महाव्रतः ॥ ४ ॥
भोक्तुमारब्धवानन्नं तस्मिन् काले रघूत्तम ।
इन्द्रो द्विजातिर्भूत्वा तं सिद्धमन्नमयाचत ॥ ५ ॥

श्रीराम ! अपने निश्चयपर अटल रहकर उन्होंने अक्षय तपका अनुष्ठान किया । उनका एक सहस्र वर्षोंका व्रत पूर्ण होनेपर वे महान् व्रतधारी महर्षि व्रत समाप्त करके अन्न ग्रहण करनेको उद्यत हुए । रघुकुलभूषण ! इसी समय इन्द्रने ब्राह्मणके वेषमें आकर उनसे तैयार अन्नकी याचना की ॥ ४-५ ॥

तस्मै दत्त्वा तदा सिद्धं सर्वं विप्राय निश्चितः ।
निःशेषितेऽन्ने भगवानभुक्त्वैव महातपाः ॥ ६ ॥

तब उन्होंने वह सारा तैयार किया हुआ भोजन उस ब्राह्मणको देनेका निश्चय करके दे डाला । उस अन्नमेंसे कुछ भी शेष नहीं बचा । इसलिये वे महातपस्वी भगवान् विश्वामित्र बिना खाये-पीये ही रह गये ॥ ६ ॥

न किंचिदवदद् विप्रं मौनव्रतमुपास्थितः ।
तथैवासीत् पुनर्मौनमनुच्छ्वासं चकार ह ॥ ७ ॥

फिर भी उन्होंने उस ब्राह्मणसे कुछ कहा नहीं । अपने मौन व्रतका यथार्थरूपसे पालन किया । इसके बाद पुनः पहलेकी ही भाँति श्वासोच्छ्‌वाससे रहित मौन व्रतका अनुष्ठान आरम्भ किया ॥ ७ ॥

अथ वर्षसहस्रं च नोच्छ्‌वसन् मुनिपुङ्गवः ।
तस्यानुच्छ्‌वसमानस्य मूर्ध्नि धूमो व्यजायत ॥ ८ ॥

पूरे एक हजार वर्षोंतक उन मुनिश्रेष्ठने साँसतक नहीं ली । इस तरह साँस न लेनेके कारण उनके मस्तकसे धुआँ उठने लगा ॥ ८ ॥

त्रैलोक्यं येन सम्भ्रान्तमातापितमिवाभवत् ।
ततो देवर्षिगन्धर्वाः पन्नगोरगराक्षसाः ॥ ९ ॥
मोहितास्तपसा तस्य तेजसा मन्दरश्मयः ।
कश्मलोपहताः सर्वे पितामहमथाब्रुवन् ॥ १० ॥

उससे तीनों लोकोंके प्राणी घबरा उठे, सभी संतप्त-से होने लगे । उस समय देवता, ऋषि, गन्धर्व, नाग, सर्प और राक्षस सब मुनिकी तपस्यासे मोहित हो गये । उनके तेजसे सबकी कान्ति फीकी पड़ गयी । वे सब-के-सब दुःखसे व्याकुल हो पितामह ब्रह्माजीसे बोले—॥ ९-१० ॥

बहुभिः कारणैर्देव विश्वामित्रो महामुनिः ।
लोभितः क्रोधितश्चैव तपसा चाभिवर्धते ॥ ११ ॥

'देव ! अनेक प्रकारके निमित्तोंद्वारा महामुनि विश्वामित्रको लोभ और क्रोध दिलानेकी चेष्टा की गयी; किंतु वे अपनी तपस्याके प्रभावसे निरन्तर आगे बढ़ते जा रहे हैं ॥ ११ ॥

नह्यस्य वृजिनं किंचिद् दृश्यते सूक्ष्ममप्युत।
न दीयते यदि त्वस्य मनसा यदभीप्सितम्॥ १२॥
विनाशयति त्रैलोक्यं तपसा सचराचरम्।
व्याकुलाश्च दिशः सर्वा न च किंचित् प्रकाशते॥ १३॥

'हमें उनमें कोई छोटा-सा भी दोष नहीं दिखायी देता। यदि इन्हें इनकी मनचाही वस्तु नहीं दी गयी तो ये अपनी तपस्यासे चराचर प्राणियोंसहित तीनों लोकोंका नाश कर डालेंगे। इस समय सारी दिशाएँ धूमसे आच्छादित हो गयी हैं, कहीं कुछ भी सूझता नहीं है॥ १२-१३॥

सागराः क्षुभिताः सर्वे विशीर्यन्ते च पर्वताः।
प्रकम्पते च वसुधा वायुर्वातीह संकुलः॥ १४॥

'समुद्र क्षुब्ध हो उठे हैं, सारे पर्वत विदीर्ण हुए जाते हैं, धरती डगमग हो रही है और प्रचण्ड आँधी चलने लगी है॥ १४॥

ब्रह्मन् न प्रतिजानीमो नास्तिको जायते जनः।
सम्मूढमिव त्रैलोक्यं सम्प्रक्षुभितमानसम्॥ १५॥

'ब्रह्मन्! हमें इस उपद्रवके निवारणका कोई उपाय नहीं समझमें आता है। सब लोग नास्तिककी भाँति कर्मानुष्ठान-से शून्य हो रहे हैं। तीनों लोकोंके प्राणियोंका मन क्षुब्ध हो गया है। सभी किंकर्तव्यविमूढ़-से हो रहे हैं॥ १५॥

भास्करो निष्प्रभश्चैव महर्षेस्तस्य तेजसा।
बुद्धिं न कुरुते यावन्नाशे देव महामुनिः॥ १६॥
तावत् प्रसादो भगवन्नग्निरूपो महाद्युतिः।

'महर्षि विश्वामित्रके तेजसे सूर्यकी प्रभा फीकी पड़ गयी है। भगवन्! ये महाकान्तिमान् मुनि अग्निस्वरूप हो रहे हैं। देव! महामुनि विश्वामित्र जबतक जगत्के विनाशका विचार नहीं करते तबतक ही इन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये॥ १६½॥

कालाग्निना यथा पूर्वं त्रैलोक्यं दह्यतेऽखिलम्॥ १७॥
देवराज्यं चिकीर्षेत दीयतामस्य यन्मनः।

'जैसे पूर्वकालमें प्रलयकालिक अग्निने सम्पूर्ण त्रिलोकी-को दग्ध कर डाला था, उसी प्रकार ये भी सबको जलाकर भस्म कर देंगे। यदि ये देवताओंका राज्य प्राप्त करना चाहें तो वह भी इन्हें दे दिया जाय। इनके मनमें जो भी अभिलाषा हो, उसे पूर्ण किया जाय'॥ १७½॥

ततः सुरगणाः सर्वे पितामहपुरोगमाः॥ १८॥
विश्वामित्रं महात्मानं वाक्यं मधुरमब्रुवन्।

तदनन्तर ब्रह्मा आदि सब देवता महात्मा विश्वामित्रके पास जाकर मधुर वाणीमें बोले—॥ १८½॥

ब्रह्मर्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः॥ १९॥
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक।

'ब्रह्मर्षे! तुम्हारा स्वागत है, हम तुम्हारी तपस्यासे बहुत संतुष्ट हुए हैं। कुशिकनन्दन! तुमने अपनी उग्र-तपस्यासे ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया॥ १९½॥

दीर्घमायुश्च ते ब्रह्मन् ददामि समरुद्गणः॥ २०॥
स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गच्छ सौम्य यथासुखम्।

'ब्रह्मन्! मरुद्गणोंसहित मैं तुम्हें दीर्घायु प्रदान करता हूँ। तुम्हारा कल्याण हो। सौम्य! तुम मङ्गलके भागी बनो और तुम्हारी जहाँ इच्छा हो वहाँ सुखपूर्वक जाओ'॥ २०½॥

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वेषां त्रिदिवौकसाम्॥ २१॥
कृत्वा प्रणामं मुदितो व्याजहार महामुनिः।

पितामह ब्रह्माजीकी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्रने अत्यन्त प्रसन्न होकर सम्पूर्ण देवताओंको प्रणाम किया और कहा—॥ २१½॥

ब्राह्मण्यं यदि मे प्राप्तं दीर्घमायुस्तथैव च॥ २२॥
ओंकारोऽथ वषट्कारो वेदाश्च वरयन्तु माम्।
क्षत्रवेदविदां श्रेष्ठो ब्रह्मवेदविदामपि॥ २३॥
ब्रह्मपुत्रो वसिष्ठो मामेवं वदतु देवताः।
यद्येवं परमः कामः कृतो यान्तु सुरर्षभाः॥ २४॥

'देवगण! यदि मुझे (आपकी कृपासे) ब्राह्मणत्व मिल गया और दीर्घ आयुकी भी प्राप्ति हो गयी तो ॐकार, वषट्कार और चारों वेद स्वयं आकर मेरा वरण करें। इसके सिवा जो क्षत्रिय-वेद (धनुर्वेद आदि) तथा ब्रह्मवेद (ऋक् आदि चारों वेद) के ज्ञाताओंमें भी सबसे श्रेष्ठ हैं, वे ब्रह्मपुत्र वसिष्ठ स्वयं आकर मुझसे ऐसा कहें (कि तुम ब्राह्मण हो गये), यदि ऐसा हो जाय तो मैं समझूँगा कि मेरा उत्तम मनोरथ पूर्ण हो गया। उस अवस्थामें आप सभी श्रेष्ठ देवगण यहाँसे जा सकते हैं'॥ २२—२४॥

ततः प्रसादितो देवैर्वसिष्ठो जपतां वरः।
सख्यं चकार ब्रह्मर्षिरेवमस्त्विति चाब्रवीत्॥ २५॥

तब देवताओंने मन्त्रजप करनेवालोंमें श्रेष्ठ वसिष्ठ मुनिको प्रसन्न किया। इसके बाद ब्रह्मर्षि वसिष्ठने 'एवमस्तु' कहकर विश्वामित्रका ब्रह्मर्षि होना स्वीकार कर लिया और उनके साथ मित्रता स्थापित कर ली॥ २५॥

ब्रह्मर्षिस्त्वं न संदेहः सर्वं सम्पद्यते तव।
इत्युक्त्वा देवताश्चापि सर्वा जग्मुर्यथागतम्॥ २६॥

'मुने! तुम ब्रह्मर्षि हो गये, इसमें संदेह नहीं है। तुम्हारा सब ब्राह्मणोचित संस्कार सम्पन्न हो गया।' ऐसा कहकर सम्पूर्ण देवता जैसे आये थे वैसे लौट गये॥ २६॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा लब्ध्वा ब्राह्मण्यमुत्तमम्।
पूजयामास ब्रह्मर्षिं वसिष्ठं जपतां वरम्॥ २७॥

इस प्रकार उत्तम ब्राह्मणत्व प्राप्त करके धर्मात्मा

विश्वामित्रजीने भी मन्त्र-जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ ब्रह्मर्षि वसिष्ठका पूजन किया ॥ २७ ॥

कृतकामो महीं सर्वां चचार तपसि स्थितः।
एवं त्वनेन ब्राह्मण्यं प्राप्तं राम महात्मना ॥ २८ ॥

इस तरह अपना मनोरथ सफल करके तपस्यामें लगे रहकर ही ये सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरने लगे। श्रीराम! इस प्रकार कठोर तपस्या करके इन महात्माने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया ॥ २८ ॥

एष राम मुनिश्रेष्ठ एष विग्रहवांस्तपः।
एष धर्मः परो नित्यं वीर्यस्यैष परायणम् ॥ २९ ॥

रघुनन्दन! ये विश्वामित्रजी समस्त मुनियोंमें श्रेष्ठ हैं, ये तपस्याके मूर्तिमान् स्वरूप हैं, उत्तम धर्मके साक्षात् विग्रह हैं और पराक्रमकी परम निधि हैं ॥ २९ ॥

एवमुक्त्वा महातेजा विरराम द्विजोत्तमः।
शतानन्दवचः श्रुत्वा रामलक्ष्मणसंनिधौ ॥ ३० ॥
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच कुशिकात्मजम्।

ऐसा कहकर महातेजस्वी विप्रवर शतानन्दजी चुप हो गये। शतानन्दजीके मुखसे यह कथा सुनकर महाराज जनकने श्रीराम और लक्ष्मणके समीप विश्वामित्रजीसे हाथ जोड़कर कहा—॥ ३०½ ॥

धन्योऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि यस्य मे मुनिपुङ्गव॥ ३१ ॥
यज्ञं काकुत्स्थसहितः प्राप्तवानसि कौशिक।
पावितोऽहं त्वया ब्रह्मन् दर्शनेन महामुने ॥ ३२ ॥

'मुनिप्रवर कौशिक! आप ककुत्स्थकुलनन्दन श्रीराम और लक्ष्मणके साथ मेरे यज्ञमें पधारे, इससे मैं धन्य हो गया। आपने मुझपर बड़ी कृपा की। महामुने! ब्रह्मन्! आपने दर्शन देकर मुझे पवित्र कर दिया ॥ ३१-३२ ॥

गुणा बहुविधाः प्राप्तास्तव संदर्शनान्मया।
विस्तरेण च वै ब्रह्मन् कीर्त्यमानं महत्तपः ॥ ३३ ॥
श्रुतं मया महातेजो रामेण च महात्मना।
सदस्यैः प्राप्य च सदः श्रुतास्ते बहवो गुणाः॥ ३४ ॥

'आपके दर्शनसे मुझे बड़ा लाभ हुआ, अनेक प्रकारके गुण उपलब्ध हुए। ब्रह्मन्! आज इस सभामें आकर मैंने महात्मा राम तथा अन्य सदस्योंके साथ आपके महान् तेज (प्रभाव) का वर्णन सुना है, बहुत-से गुण सुने हैं। ब्रह्मन्! शतानन्दजीने आपके महान् तपका वृत्तान्त विस्तारपूर्वक बताया है ॥ ३३-३४ ॥

अप्रमेयं तपस्तुभ्यमप्रमेयं च ते बलम्।
अप्रमेया गुणाश्चैव नित्यं ते कुशिकात्मज ॥ ३५ ॥

'कुशिकनन्दन! आपकी तपस्या अप्रमेय है, आपका बल अनन्त है तथा आपके गुण भी सदा ही माप और संख्यासे परे हैं ॥ ३५ ॥

तृप्तिराश्चर्यभूतानां कथानां नास्ति मे विभो।
कर्मकालो मुनिश्रेष्ठ लम्बते रविमण्डलम् ॥ ३६ ॥

'प्रभो! आपकी आश्चर्यमयी कथाओंके श्रवणसे मुझे तृप्ति नहीं होती है; किंतु मुनिश्रेष्ठ! यज्ञका समय हो गया है, सूर्यदेव ढलने लगे हैं ॥ ३६ ॥

श्वः प्रभाते महातेजो द्रष्टुमर्हसि मां पुनः।
स्वागतं जपतां श्रेष्ठ मामनुज्ञातुमर्हसि ॥ ३७ ॥

'जप करनेवालोंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी मुने! आपका स्वागत है। कल प्रातःकाल फिर मुझे दर्शन दें, इस समय मुझे जानेकी आज्ञा प्रदान करें' ॥ ३७ ॥

एवमुक्तो मुनिवरः प्रशस्य पुरुषर्षभम्।
विससर्जाशु जनकं प्रीतं प्रीतमनास्तदा ॥ ३८ ॥

राजाके ऐसा कहनेपर मुनिवर विश्वामित्रजी मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। उन्होंने प्रीतियुक्त नरश्रेष्ठ राजा जनककी प्रशंसा करके शीघ्र ही उन्हें विदा कर दिया ॥ ३८ ॥

एवमुक्त्वा मुनिश्रेष्ठं वैदेहो मिथिलाधिपः।
प्रदक्षिणं चकाराशु सोपाध्यायः सबान्धवः ॥ ३९ ॥

उस समय मिथिलापति विदेहराज जनकने मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रसे पूर्वोक्त बात कहकर अपने उपाध्याय और बन्धु-बान्धवोंके साथ उनकी शीघ्र ही परिक्रमा की। फिर वहाँसे वे चल दिये ॥ ३९ ॥

विश्वामित्रोऽपि धर्मात्मा सहरामः सलक्ष्मणः।
स्ववासमभिचक्राम पूज्यमानो महात्मभिः ॥ ४० ॥

तत्पश्चात् धर्मात्मा विश्वामित्र भी महात्माओंसे पूजित होकर श्रीराम और लक्ष्मणके साथ अपने विश्रामस्थानपर लौट आये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चषष्टितमः सर्गः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पैंसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

षट्षष्टितमः सर्गः

राजा जनकका विश्वामित्र और राम-लक्ष्मणका सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुषका परिचय देना और धनुष चढ़ा देनेपर श्रीरामके साथ उनके व्याहका निश्चय प्रकट करना

ततः प्रभाते विमले कृतकर्मा नराधिपः।
विश्वामित्रं महात्मानमाजुहाव सराघवम्॥ १ ॥
तमर्चयित्वा धर्मात्मा शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
राघवौ च महात्मानौ तदा वाक्यमुवाच ह ॥ २ ॥

तदनन्तर दूसरे दिन निर्मल प्रभातकाल आनेपर धर्मात्मा राजा जनकने अपना नित्य नियम पूरा करके श्रीराम और लक्ष्मणसहित महात्मा विश्वामित्रजीको बुलाया और शास्त्रीय विधिके अनुसार मुनि तथा उन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंका पूजन करके इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

भगवन् स्वागतं तेऽस्तु किं करोमि तवानघ।
भवानाज्ञापयतु मामाज्ञाप्यो भवता ह्यहम्॥ ३ ॥

'भगवन्! आपका स्वागत है। निष्पाप महर्षे! आप मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपकी क्या सेवा करूँ; क्योंकि मैं आपका आज्ञापालक हूँ' ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स धर्मात्मा जनकेन महात्मना।
प्रत्युवाच मुनिश्रेष्ठो वाक्यं वाक्यविशारदः॥ ४ ॥

महात्मा जनकके ऐसा कहनेपर बोलनेमें कुशल धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्रने उनसे यह बात कही—॥ ४ ॥

पुत्रौ दशरथस्येमौ क्षत्रियौ लोकविश्रुतौ।
द्रष्टुकामौ धनुःश्रेष्ठं यदेतत्त्वयि तिष्ठति॥ ५ ॥

'महाराज! राजा दशरथके ये दोनों पुत्र विश्वविख्यात क्षत्रिय वीर हैं और आपके यहाँ जो यह श्रेष्ठ धनुष रक्खा है, उसे देखनेकी इच्छा रखते हैं॥ ५ ॥

एतद् दर्शय भद्रं ते कृतकामौ नृपात्मजौ।
दर्शनादस्य धनुषो यथेष्टं प्रतियास्यतः॥ ६ ॥

'आपका कल्याण हो, वह धनुष इन्हें दिखा दीजिये। इससे इनकी इच्छा पूरी हो जायगी। फिर ये दोनों राजकुमार उस धनुषके दर्शनमात्रसे संतुष्ट हो इच्छानुसार अपनी राजधानीको लौट जायँगे' ॥ ६ ॥

एवमुक्तस्तु जनकः प्रत्युवाच महामुनिम्।
श्रूयतामस्य धनुषो यदर्थमिह तिष्ठति॥ ७ ॥

मुनिके ऐसा कहनेपर राजा जनक महामुनि विश्वामित्रसे बोले—'मुनिवर! इस धनुषका वृत्तान्त सुनिये। जिस उद्देश्यसे यह धनुष यहाँ रक्खा गया, वह सब बताता हूँ॥७॥

देवरात इति ख्यातो निमेर्ज्येष्ठो महीपतिः।
न्यासोऽयं तस्य भगवन् हस्ते दत्तो महात्मनः॥ ८ ॥

'भगवन्! निमिके ज्येष्ठ पुत्र राजा देवरातके नामसे विख्यात थे। उन्हीं महात्माके हाथमें यह धनुष धरोहरके रूपमें दिया गया था॥ ८॥

दक्षयज्ञवधे पूर्वं धनुरायम्य वीर्यवान्।
विध्वंस्य त्रिदशान् रोषात् सलीलमिदमब्रवीत्॥ ९ ॥
यस्माद् भागार्थिनो भागं नाकल्पयत मे सुराः।
वराङ्गानि महार्हाणि धनुषा शातयामि वः॥ १० ॥

'कहते हैं, पूर्वकालमें दक्षयज्ञविध्वंसके समय परम पराक्रमी भगवान् शङ्करने खेल-खेलमें ही रोषपूर्वक इस धनुषको उठाकर यज्ञ-विध्वंसके पश्चात् देवताओंसे कहा—'देवगण! मैं यज्ञमें भाग प्राप्त करना चाहता था, किंतु तुमलोगोंने नहीं दिया। इसलिये इस धनुषसे मैं तुम सब लोगोंके परम पूजनीय श्रेष्ठ अङ्ग—मस्तक काट डालूँगा' ॥ ९-१० ॥

ततो विमनसः सर्वे देवा वै मुनिपुङ्गव।
प्रसादयन्त देवेशं तेषां प्रीतोऽभवद् भवः॥ ११ ॥

'मुनिश्रेष्ठ! यह सुनकर सम्पूर्ण देवता उदास हो गये और स्तुतिके द्वारा देवाधिदेव महादेवजीको प्रसन्न करने लगे। अन्तमें उनपर भगवान् शिव प्रसन्न हो गये॥ ११ ॥

प्रीतियुक्तस्तु सर्वेषां ददौ तेषां महात्मनाम्।
तदेतद् देवदेवस्य धनूरत्नं महात्मनः॥ १२ ॥
न्यासभूतं तदा न्यस्तमस्माकं पूर्वजे विभो।

'प्रसन्न होकर उन्होंने उन सब महामनस्वी देवताओंको यह धनुष अर्पण कर दिया। वही यह देवाधिदेव महात्मा भगवान् शङ्करका धनुष-रत्न है, जो मेरे पूर्वज महाराज देवरातके पास धरोहरके रूपमें रक्खा गया था॥ १२½ ॥

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता ततः॥ १३ ॥
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता।
भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा॥ १४ ॥

'एक दिन मैं यज्ञके लिये भूमिशोधन करते समय खेतमें हल चला रहा था। उसी समय हलके अग्रभागसे जोती गयी भूमि (हराई या सीता) से एक कन्या प्रकट हुई। सीता (हलद्वारा खींची गयी रेखा) से उत्पन्न होनेके कारण उसका नाम सीता रखा गया। पृथ्वीसे प्रकट हुई वह मेरी कन्या क्रमशः बढ़कर सयानी हुई॥ १३-१४ ॥

वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।
भूतलादुत्थितां तां तु वर्धमानां ममात्मजाम्॥ १५ ॥
वरयामासुरागत्य राजानो मुनिपुङ्गव।

'अपनी इस अयोनिजा कन्याके विषयमें मैंने यह

निश्चय किया कि जो अपने पराक्रमसे इस धनुषको चढ़ा देगा, उसीके साथ मैं इसका व्याह करूँगा। इस तरह इसे वीर्यशुल्का (पराक्रमरूप शुल्कवाली) बनाकर अपने घरमें रख छोड़ा है। मुनिश्रेष्ठ! भूतलसे प्रकट होकर दिनों-दिन बढ़नेवाली मेरी पुत्री सीताको कई राजाओंने यहाँ आकर माँगा॥ १५½॥

तेषां वरयतां कन्यां सर्वेषां पृथिवीक्षिताम्॥ १६॥
वीर्यशुल्केति भगवन् न ददामि सुतामहम्।

'परंतु भगवन्! कन्याका वरण करनेवाले उन सभी राजाओंको मैंने यह बता दिया कि मेरी कन्या वीर्यशुल्का है। (उचित पराक्रम प्रकट करनेपर ही कोई पुरुष उसके साथ विवाह करनेका अधिकारी हो सकता है।) यही कारण है कि मैंने आजतक किसीको अपनी कन्या नहीं दी॥ १६½॥

ततः सर्वे नृपतयः समेत्य मुनिपुङ्गव॥ १७॥
मिथिलामभ्युपागम्य वीर्यं जिज्ञासवस्तदा।

'मुनिपुङ्गव! तब सभी राजा मिलकर मिथिलामें आये और पूछने लगे कि राजकुमारी सीताको प्राप्त करनेके लिये कौन-सा पराक्रम निश्चित किया गया है॥ १७½॥

तेषां जिज्ञासमानानां शैवं धनुरुपाहृतम्॥ १८॥
न शेकुर्ग्रहणे तस्य धनुषस्तोलनेऽपि वा।

'मैंने पराक्रमकी जिज्ञासा करनेवाले उन राजाओंके सामने यह शिवजीका धनुष रख दिया; परंतु वे लोग इसे उठाने या हिलानेमें भी समर्थ न हो सके॥ १८½॥

तेषां वीर्यवतां वीर्यमल्पं ज्ञात्वा महामुने॥ १९॥
प्रत्याख्याता नृपतयस्तन्निबोध तपोधन।

'महामुने! उन पराक्रमी नरेशोंकी शक्ति बहुत थोड़ी जानकर मैंने उन्हें कन्या देनेसे इन्कार कर दिया। तपोधन! इसके बाद जो घटना घटी, उसे भी आप सुन लीजिये॥

ततः परमकोपेन राजानो मुनिपुङ्गव॥ २०॥
अरुन्धन् मिथिलां सर्वे वीर्यसंदेहमागताः।

'मुनिप्रवर! मेरे इन्कार करनेपर ये सब राजा अत्यन्त कुपित हो उठे और अपने पराक्रमके विषयमें संशयापन्न हो मिथिलाको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥ २०½॥

आत्मानमवधूतं मे विज्ञाय नृपपुङ्गवाः॥ २१॥
रोषेण महताविष्टाः पीडयन् मिथिलां पुरीम्।

'मेरे द्वारा अपना तिरस्कार हुआ मानकर उन श्रेष्ठ नरेशोंने अत्यन्त रुष्ट हो मिथिलापुरीको सब ओरसे पीड़ा देना प्रारम्भ कर दिया॥ २१½॥

ततः संवत्सरे पूर्णे क्षयं यातानि सर्वशः॥ २२॥
साधनानि मुनिश्रेष्ठ ततोऽहं भृशदुःखितः।

'मुनिश्रेष्ठ! पूरे एक वर्षतक वे घेरा डाले रहे। इस बीचमें युद्धके सारे साधन क्षीण हो गये। इससे मुझे बड़ा दुःख हुआ॥ २२½॥

ततो देवगणान् सर्वांस्तपसाहं प्रसादयम्॥ २३॥
ददुश्च परमप्रीताश्चतुरङ्गबलं सुराः।

'तब मैंने तपस्याके द्वारा समस्त देवताओंको प्रसन्न करनेकी चेष्टा की। देवता बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने मुझे चतुरंगिणी सेना प्रदान की॥ २३½॥

ततो भग्ना नृपतयो हन्यमाना दिशो ययुः॥ २४॥
अवीर्या वीर्यसंदिग्धाः सामात्याः पापकारिणः।

'फिर तो हमारे सैनिकोंकी मार खाकर वे सभी पापाचारी राजा, जो बलहीन थे अथवा जिनके बलवान् होनेमें संदेह था, मन्त्रियोंसहित भागकर विभिन्न दिशाओंमें चले गये॥

तदेतन्मुनिशार्दूल धनुः परमभास्वरम्॥ २५॥
रामलक्ष्मणयोश्चापि दर्शयिष्यामि सुव्रत।

'मुनिश्रेष्ठ! यही वह परम प्रकाशमान धनुष है। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! मैं उसे श्रीराम और लक्ष्मणको भी दिखाऊँगा॥ २५½॥

यद्यस्य धनुषो रामः कुर्यादारोपणं मुने।
सुतामयोनिजां सीतां दद्यां दाशरथेरहम्॥ २६॥

'मुने! यदि श्रीराम इस धनुषकी प्रत्यञ्चा चढ़ा दें तो मैं अपनी अयोनिजा कन्या सीताको इन दशरथकुमारके हाथमें दे दूँ'॥ २६॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्षष्टितमः सर्गः॥ ६६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छाछठवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ६६॥

सप्तषष्टितमः सर्गः

श्रीरामके द्वारा धनुर्भङ्ग तथा राजा जनकका विश्वामित्रकी आज्ञासे राजा दशरथको बुलानेके लिये मन्त्रियोंको भेजना

जनकस्य वचः श्रुत्वा विश्वामित्रो महामुनिः।
धनुर्दर्शय रामाय इति होवाच पार्थिवम्॥ १॥

जनककी यह बात सुनकर महामुनि विश्वामित्र बोले— 'राजन्! आप श्रीरामको अपना धनुष दिखाइये'॥ १॥

ततः स राजा जनकः सचिवान् व्यादिदेश ह।
धनुरानीयतां दिव्यं गन्धमाल्यानुलेपितम् ॥ २ ॥

तब राजा जनकने मन्त्रियोंको आज्ञा दी—'चन्दन और मालाओंसे सुशोभित वह दिव्य धनुष यहाँ ले आओ' ॥ २ ॥

जनकेन समादिष्टाः सचिवाः प्राविशन् पुरम्।
तद्धनुः पुरतः कृत्वा निर्जग्मुरमितौजसः ॥ ३ ॥

राजा जनककी आज्ञा पाकर वे अमित तेजस्वी मन्त्री नगरमें गये और उस धनुषको आगे करके पुरीसे बाहर निकले ॥ ३ ॥

नृणां शतानि पञ्चाशद् व्यायतानां महात्मनाम्।
मञ्जूषामष्टचक्रां तां समूहुस्ते कथंचन ॥ ४ ॥

वह धनुष आठ पहियोंवाली लोहेकी बहुत बड़ी संदूकमें रक्खा गया था। उसे मोटे-ताजे पाँच हजार महामनस्वी वीर किसी तरह ठेलकर वहाँतक ला सके ॥ ४ ॥

तामादाय सुमञ्जूषामायसीं यत्र तद्धनुः।
सुरोपमं ते जनकमूचुर्नृपतिमन्त्रिणः ॥ ५ ॥

लोहेकी वह संदूक, जिसमें धनुष रक्खा गया था, लाकर उन मन्त्रियोंने देवोपम राजा जनकसे कहा—॥ ५ ॥

इदं धनुर्वरं राजन् पूजितं सर्वराजभिः।
मिथिलाधिप राजेन्द्र दर्शनीयं यदीच्छसि ॥ ६ ॥

'राजन्! मिथिलापते! राजेन्द्र! यह समस्त राजाओंद्वारा सम्मानित श्रेष्ठ धनुष है। यदि आप इन दोनों राजकुमारोंको दिखाना चाहते हैं तो दिखाइये' ॥ ६ ॥

तेषां नृपो वचः श्रुत्वा कृताञ्जलिरभाषत।
विश्वामित्रं महात्मानं तावुभौ रामलक्ष्मणौ ॥ ७ ॥

उनकी बात सुनकर राजा जनकने हाथ जोड़कर महात्मा विश्वामित्र तथा दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणसे कहा—॥७॥

इदं धनुर्वरं ब्रह्मञ्जनकैरभिपूजितम्।
राजभिश्च महावीर्यैरशक्तैः पूरितं तदा ॥ ८ ॥

'ब्रह्मन्! यही वह श्रेष्ठ धनुष है, जिसका जनकवंशी नरेशोंने सदा ही पूजन किया है तथा जो इसे उठानेमें समर्थ न हो सके, उन महापराक्रमी नरेशोंने भी इसका पूर्वकालमें सम्मान किया है ॥ ८ ॥

नैतत् सुरगणाः सर्वे सासुरा न च राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः ॥ ९ ॥

'इसे समस्त देवता, असुर, राक्षस, गन्धर्व, बड़े-बड़े यक्ष, किन्नर और महानाग भी नहीं चढ़ा सके हैं ॥ ९ ॥

क गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलने तथा ॥ १० ॥

'फिर इस धनुषको खींचने, चढ़ाने, इसपर बाण संधान करने, इसकी प्रत्यञ्चापर टङ्कार देने तथा इसे उठाकर इधर-उधर हिलानेमें मनुष्योंकी कहाँ शक्ति है? ॥ १० ॥

तदेतद् धनुषां श्रेष्ठमानीतं मुनिपुङ्गव।
दर्शयैतन्महाभाग अनयो राजपुत्रयोः ॥ ११ ॥

'मुनिप्रवर! यह श्रेष्ठ धनुष यहाँ लाया गया है। महाभाग! आप इसे इन दोनों राजकुमारोंको दिखाइये' ॥ ११ ॥

विश्वामित्रः सरामस्तु श्रुत्वा जनकभाषितम्।
वत्स राम धनुः पश्य इति राघवमब्रवीत् ॥ १२ ॥

श्रीरामसहित विश्वामित्रने जनकका वह कथन सुनकर रघुनन्दनसे कहा—'वत्स राम! इस धनुषको देखो' ॥१२॥

महर्षेर्वचनाद् रामो यत्र तिष्ठति तद्धनुः।
मञ्जूषां तामपावृत्य दृष्ट्वा धनुरथाब्रवीत् ॥ १३ ॥

महर्षिकी आज्ञासे श्रीरामने जिसमें वह धनुष था उस संदूकको खोलकर उस धनुषको देखा और कहा—॥ १३ ॥

इदं धनुर्वरं दिव्यं संस्पृशामीह पाणिना।
यत्नवांश्च भविष्यामि तोलने पूरणेऽपि वा ॥ १४ ॥

'अच्छा अब मैं इस दिव्य एवं श्रेष्ठ धनुषमें हाथ लगाता हूँ। मैं इसे उठाने और चढ़ानेका भी प्रयत्न करूँगा' ॥१४॥

बाढमित्यब्रवीद् राजा मुनिश्च समभाषत।
लीलया स धनुर्मध्ये जग्राह वचनान्मुनेः ॥ १५ ॥
पश्यतां नृसहस्राणां बहूनां रघुनन्दनः।
आरोपयत् स धर्मात्मा सलीलमिव तद्धनुः ॥ १६ ॥

तब राजा और मुनिने एक स्वरसे कहा—'हाँ, ऐसा ही करो।' मुनिकी आज्ञासे रघुकुलनन्दन धर्मात्मा श्रीरामने उस धनुषको बीचसे पकड़कर लीलापूर्वक उठा लिया और खेल-सा करते हुए उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। उस समय कई हजार मनुष्योंकी दृष्टि उनपर लगी थी ॥ १५-१६ ॥

आरोपयित्वा मौर्वीं च पूरयामास तद्धनुः।
तद् बभञ्ज धनुर्मध्ये नरश्रेष्ठो महायशाः ॥ १७ ॥

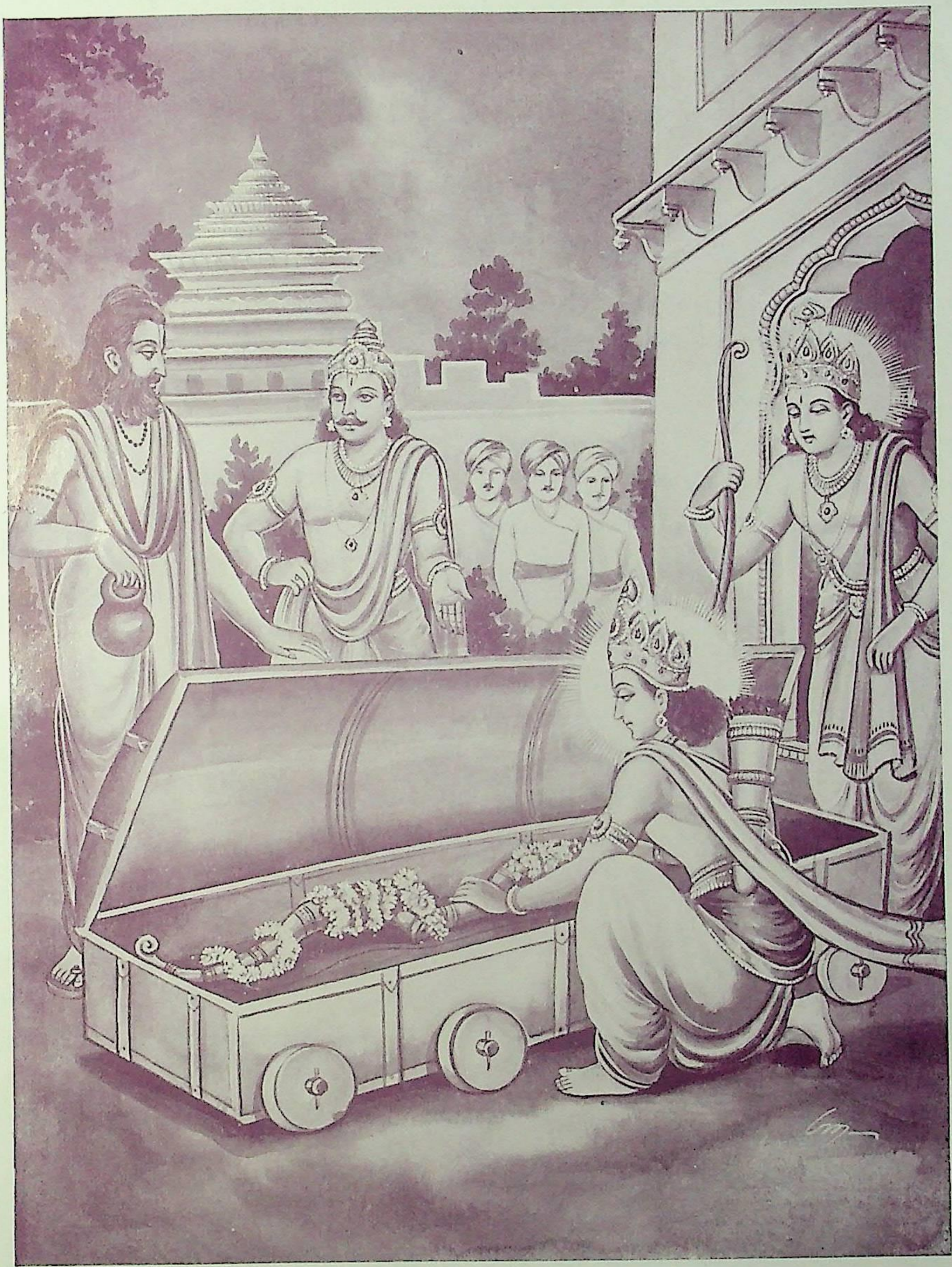
प्रत्यञ्चा चढ़ाकर महायशस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने ज्यों ही उस धनुषको कानतक खींचा त्यों ही वह बीचसे ही टूट गया ॥ १७ ॥

तस्य शब्दो महानासीन्निर्घातसमनिःस्वनः।
भूमिकम्पश्च सुमहान् पर्वतस्येव दीर्यतः ॥ १८ ॥

टूटते समय उससे वज्रपातके समान बड़ी भारी आवाज हुई। ऐसा जान पड़ा मानो पर्वत फट पड़ा हो। उस समय महान् भूकम्प आ गया ॥ १८ ॥

निपेतुश्च नराः सर्वे तेन शब्देन मोहिताः।
वर्जयित्वा मुनिवरं राजानं तौ च राघवौ ॥ १९ ॥

मुनिवर विश्वामित्र, राजा जनक तथा रघुकुलभूषण दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मणको छोड़कर शेष जितने लोग वहाँ



धनुष उठानेको उद्यत श्रीराम

खड़े थे, वे सब धनुष टूटनेके उस भयंकर शब्दसे मूर्छित होकर गिर पड़े ॥ १९ ॥

प्रत्याश्वस्ते जने तस्मिन् राजा विगतसाध्वसः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं वाक्यज्ञो मुनिपुङ्गवम् ॥ २० ॥

थोड़ी देरमें जब सबको चेत हुआ, तब निर्भय हुए राजा जनकने, जो बोलनेमें कुशल और वाक्यके मर्मको समझनेवाले थे, हाथ जोड़कर मुनिवर विश्वामित्रसे कहा—॥ २० ॥

भगवन् दृष्टवीर्यो मे रामो दशरथात्मजः ।
अत्यद्भुतमचिन्त्यं च अतर्कितमिदं मया ॥ २१ ॥

'भगवन् ! मैंने दशरथनन्दन श्रीरामका पराक्रम आज अपनी आँखों देख लिया । महादेवजीके धनुषको चढ़ाना—यह अत्यन्त अद्भुत, अचिन्त्य और अतर्कित घटना है ॥२१॥

जनकानां कुले कीर्तिमाहरिष्यति मे सुता ।
सीता भर्तारमासाद्य रामं दशरथात्मजम् ॥ २२ ॥

'मेरी पुत्री सीता दशरथकुमार श्रीरामको पतिरूपमें प्राप्त करके जनकवंशकी कीर्तिका विस्तार करेगी ॥ २२ ॥

मम सत्या प्रतिज्ञा सा वीर्यशुल्केति कौशिक ।
सीता प्राणैर्बहुमता देया रामाय मे सुता ॥ २३ ॥

'कुशिकनन्दन ! मैंने सीताको वीर्यशुल्का (पराक्रमरूपी शुल्कसे ही प्राप्त होनेवाली) बताकर जो प्रतिज्ञा की थी, वह आज सत्य एवं सफल हो गयी । सीता मेरे लिये प्राणोंसे भी बढ़कर है । अपनी यह पुत्री मैं श्रीरामको समर्पित करूँगा ॥ २३ ॥

भवतोऽनुमते ब्रह्मञ्शीघ्रं गच्छन्तु मन्त्रिणः ।
मम कौशिक भद्रं ते अयोध्यां त्वरिता रथैः ॥ २४ ॥

राजानं प्रश्रितैर्वाक्यैरानयन्तु पुरं मम ।
प्रदानं वीर्यशुल्कायाः कथयन्तु च सर्वशः ॥ २५ ॥

'ब्रह्मन् ! कुशिकनन्दन ! आपका कल्याण हो । यदि आपकी आज्ञा हो तो मेरे मन्त्री रथपर सवार होकर बड़ी उतावलीके साथ शीघ्र ही अयोध्याको जायँ और विनययुक्त वचनोंद्वारा महाराज दशरथको मेरे नगरमें लिवा लायें । साथ ही यहाँका सब समाचार बताकर यह निवेदन करें कि जिसके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया गया था, उस जनककुमारी सीताका विवाह श्रीरामचन्द्रजीके साथ होने जा रहा है ॥ २४-२५ ॥

मुनिगुप्तौ च काकुत्स्थौ कथयन्तु नृपाय वै ।
प्रीतियुक्तं तु राजानमानयन्तु सुशीघ्रगाः ॥ २६ ॥

'ये लोग महाराज दशरथसे यह भी कह दें कि आपके दोनों पुत्र श्रीराम और लक्ष्मण विश्वामित्रजीके द्वारा सुरक्षित हो मिथिलामें पहुँच गये हैं । इस प्रकार प्रीतियुक्त हुए राजा दशरथको ये शीघ्रगामी सचिव जल्दी यहाँ बुला लायें' ॥

कौशिकस्तु तथेत्याह राजा चाभाष्य मन्त्रिणः ।
अयोध्यां प्रेषयामास धर्मात्मा कृतशासनान् ।
यथावृत्तं समाख्यातुमानेतुं च नृपं तथा ॥ २७ ॥

विश्वामित्रने 'तथास्तु' कहकर राजाकी बातका समर्थन किया । तब धर्मात्मा राजा जनकने अपनी आज्ञाका पालन करनेवाले मन्त्रियोंको समझा-बुझाकर यहाँका ठीक-ठीक समाचार महाराज दशरथको बताने और उन्हें मिथिलापुरीमें ले आनेके लिये भेज दिया ॥ २७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तषष्टितमः सर्गः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सरसठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

अष्टषष्टितमः सर्गः

राजा जनकका संदेश पाकर मन्त्रियोंसहित महाराज दशरथका मिथिला जानेके लिये उद्यत होना

जनकेन समादिष्टा दूतास्ते क्लान्तवाहनाः ।
त्रिरात्रमुषिता मार्गे तेऽयोध्यां प्राविशन् पुरीम् ॥ १ ॥

राजा जनककी आज्ञा पाकर उनके दूत अयोध्याके लिये प्रस्थित हुए । रास्तेमें वाहनोंके थक जानेके कारण तीन रात विश्राम करके चौथे दिन वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे ॥ १ ॥

ते राजवचनाद् गत्वा राजवेश्म प्रवेशिताः ।
ददृशुर्देवसंकाशं वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २ ॥

राजाकी आज्ञासे उनका राजमहलमें प्रवेश हुआ । वहाँ जाकर उन्होंने देवतुल्य तेजस्वी बूढ़े महाराज दशरथका दर्शन किया ॥ २ ॥

बद्धाञ्जलिपुटाः सर्वे दूता विगतसाध्वसाः ।
राजानं प्रश्रितं वाक्यमब्रुवन् मधुराक्षरम् ॥ ३ ॥
मैथिलो जनको राजा साग्निहोत्रपुरस्कृतः ।
मुहुर्मुहुर्मधुरया स्नेहसंरक्तया गिरा ॥ ४ ॥
कुशलं चाव्ययं चैव सोपाध्यायपुरोहितम् ।
जनकस्त्वां महाराज पृच्छते सपुरःसरम् ॥ ५ ॥

उन सभी दूतोंने दोनों हाथ जोड़ निर्भय हो राजासे मधुर वाणीमें यह विनययुक्त बात कही—'महाराज ! मिथिलापति राजा जनकने अग्निहोत्रकी अग्निको सामने रखकर स्नेहयुक्त

मधुर वाणीमें सेवकोंसहित आपका तथा आपके उपाध्याय और पुरोहितोंका बारंबार कुशल-मङ्गल पूछा है ॥ ३—५ ॥

पृष्ट्वा कुशलमव्यग्रं वैदेहो मिथिलाधिपः ।
कौशिकानुमते वाक्यं भवन्तमिदमब्रवीत् ॥ ६ ॥

'इस प्रकार व्यग्रतारहित कुशल पूछकर मिथिलापति विदेहराजने महर्षि विश्वामित्रकी आज्ञासे आपको यह संदेश दिया है ॥ ६ ॥

पूर्वं प्रतिज्ञा विदिता वीर्यशुल्का ममात्मजा ।
राजानश्च कृतामर्षा निर्वीर्या विमुखीकृताः ॥ ७ ॥

'राजन्! आपको मेरी पहले की हुई प्रतिज्ञाका हाल मालूम होगा । मैंने अपनी पुत्रीके विवाहके लिये पराक्रमका ही शुल्क नियत किया था । उसे सुनकर कितने ही राजा अमर्षमें भरे हुए आये; किंतु यहाँ पराक्रमहीन सिद्ध हुए और विमुख होकर घर लौट गये ॥ ७ ॥

सेयं मम सुता राजन् विश्वामित्रपुरस्कृतैः ।
यदृच्छयागतै राजन् निर्जिता तव पुत्रकैः ॥ ८ ॥

'नरेश्वर! मेरी इस कन्याको विश्वामित्रजीके साथ अकस्मात् घूमते-फिरते आये हुए आपके पुत्र श्रीरामने अपने पराक्रमसे जीत लिया है ॥ ८ ॥

तच्च रत्नं धनुर्दिव्यं मध्ये भग्नं महात्मना ।
रामेण हि महाबाहो महत्यां जनसंसदि ॥ ९ ॥

'महाबाहो! महात्मा श्रीरामने महान् जनसमुदायके मध्य मेरे यहाँ रक्खे हुए रत्नस्वरूप दिव्य धनुषको बीचसे तोड़ डाला है ॥ ९ ॥

अस्मै देया मया सीता वीर्यशुल्का महात्मने ।
प्रतिज्ञां तर्तुमिच्छामि तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ १० ॥

'अतः मैं इन महात्मा श्रीरामचन्द्रजीको अपनी वीर्य-शुल्का कन्या सीता प्रदान करूँगा । ऐसा करके मैं अपनी प्रतिज्ञासे पार होना चाहता हूँ । आप इसके लिये मुझे आज्ञा देनेकी कृपा करें ॥ १० ॥

सोपाध्यायो महाराज पुरोहितपुरस्कृतः ।
शीघ्रमागच्छ भद्रं ते द्रष्टुमर्हसि राघवौ ॥ ११ ॥

'महाराज! आप अपने गुरु एवं पुरोहितके साथ यहाँ शीघ्र पधारें और अपने दोनों पुत्र रघुकुलभूषण श्रीराम और लक्ष्मणको देखें । आपका भला हो ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञां मम राजेन्द्र निर्वर्तयितुमर्हसि ।
पुत्रयोरुभयोरेव प्रीतिं त्वमुपलप्स्यसे ॥ १२ ॥

'राजेन्द्र! यहाँ पधारकर आप मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण करें । यहाँ आनेसे आपको अपने दोनों पुत्रोंके विवाहजनित आनन्द-की प्राप्ति होगी ॥ १२ ॥

एवं विदेहाधिपतिर्मधुरं वाक्यमब्रवीत् ।
विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः शतानन्दमते स्थितः ॥ १३ ॥

'राजन्! इस तरह विदेहराजने आपके पास यह मधुर संदेश भेजा था । इसके लिये उन्हें विश्वामित्रजीकी आज्ञा और शतानन्दजीकी सम्मति भी प्राप्त हुई थी' ॥ १३ ॥

दूतवाक्यं तु तच्छ्रुत्वा राजा परमहर्षितः ।
वसिष्ठं वामदेवं च मन्त्रिणश्चैवमब्रवीत् ॥ १४ ॥

संदेशवाहक मन्त्रियोंका यह वचन सुनकर राजा दशरथ बड़े प्रसन्न हुए । उन्होंने महर्षि वसिष्ठ, वामदेव तथा अन्य मन्त्रियोंसे कहा—॥ १४ ॥

गुप्तः कुशिकपुत्रेण कौसल्यानन्दवर्धनः ।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा विदेहेषु वसत्यसौ ॥ १५ ॥

'कुशिकनन्दन विश्वामित्रसे सुरक्षित हो कौसल्याका आनन्दवर्धन करनेवाले श्रीराम अपने छोटे भाई लक्ष्मणके साथ विदेहदेशमें निवास करते हैं ॥ १५ ॥

दृष्टवीर्यस्तु काकुत्स्थो जनकेन महात्मना ।
सम्प्रदानं सुतायास्तु राघवे कर्तुमिच्छति ॥ १६ ॥

'वहाँ महात्मा राजा जनकने ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामके पराक्रमको प्रत्यक्ष देखा है । इसलिये वे अपनी पुत्री सीताका विवाह रघुकुलरत्न रामके साथ करना चाहते हैं ॥ १६ ॥

यदि वो रोचते वृत्तं जनकस्य महात्मनः ।
पुरीं गच्छामहे शीघ्रं मा भूत् कालस्य पर्ययः ॥ १७ ॥

'यदि आपलोगोंकी रुचि एवं सम्मति हो तो हमलोग शीघ्र ही महात्मा जनककी मिथिलापुरीको चलें । इसमें विलम्ब न हो' ॥ १७ ॥

मन्त्रिणो बाढमित्याहुः सह सर्वैर्महर्षिभिः ।
सुप्रीतश्चाब्रवीद् राजा श्वो यात्रेति च मन्त्रिणः ॥ १८ ॥

यह सुनकर समस्त महर्षियोंसहित मन्त्रियोंने 'बहुत अच्छा' कहकर एक स्वरसे चलनेकी सम्मति दी । राजा बड़े प्रसन्न हुए और मन्त्रियोंसे बोले—'कल सवेरे ही यात्रा कर देनी चाहिये' ॥ १८ ॥

मन्त्रिणस्तु नरेन्द्रस्य रात्रिं परमसत्कृताः ।
ऊषुः प्रमुदिताः सर्वे गुणैः सर्वैः समन्विताः ॥ १९ ॥

महाराज दशरथके सभी मन्त्री समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थे । राजाने उनका बड़ा सत्कार किया । अतः बारात चलनेकी बात सुनकर उन्होंने बड़े आनन्दसे वह रात्रि व्यतीत की ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डेऽष्टषष्टितमः सर्गः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें अड़सठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

एकोनसप्ततितमः सर्गः

दल-बलसहित राजा दशरथकी मिथिला-यात्रा और वहाँ राजा जनकके द्वारा उनका स्वागत-सत्कार

ततो रात्र्यां व्यतीतायां सोपाध्यायः सबान्धवः।
राजा दशरथो हृष्टः सुमन्त्रमिदमब्रवीत्॥ १॥

तदनन्तर रात्रि व्यतीत होनेपर उपाध्याय और बन्धु-बान्धवोंसहित राजा दशरथ हर्षमें भरकर सुमन्त्रसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

अद्य सर्वे धनाध्यक्षा धनमादाय पुष्कलम्।
व्रजन्त्वग्रे सुविहिता नानारत्नसमन्विताः॥ २॥

'आज हमारे सभी धनाध्यक्ष (खजांची) बहुत-सा धन लेकर नाना प्रकारके रत्नोंसे सम्पन्न हो सबसे आगे चलें। उनकी रक्षाके लिये हर तरहकी सुव्यवस्था होनी चाहिये॥

चतुरङ्गबलं चापि शीघ्रं निर्यातु सर्वशः।
ममाज्ञासमकालं च यानं युग्यमनुत्तमम्॥ ३॥

'सारी चतुरङ्गिणी सेना भी यहाँसे शीघ्र ही कूच कर दे। अभी मेरी आज्ञा सुनते ही सुन्दर-सुन्दर पालकियाँ और अच्छे-अच्छे घोड़े आदि वाहन तैयार होकर चल दें॥ ३॥

वसिष्ठो वामदेवश्च जाबालिरथ कश्यपः।
मार्कण्डेयस्तु दीर्घायुर्ऋषिः कात्यायनस्तथा॥ ४॥
एते द्विजाः प्रयान्त्वग्रे स्यन्दनं योजयस्व मे।
यथा कालात्ययो न स्याद् दूता हि त्वरयन्ति माम्॥ ५॥

'वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, दीर्घजीवी मार्कण्डेय मुनि तथा कात्यायन—ये सभी ब्रह्मर्षि आगे-आगे चलें। मेरा रथ भी तैयार करो। देर नहीं होनी चाहिये। राजा जनकके दूत मुझे जल्दी करनेके लिये प्रेरित कर रहे हैं'॥ ४-५॥

वचनाच्च नरेन्द्रस्य सेना च चतुरङ्गिणी।
राजानमृषिभिः सार्धं व्रजन्तं पृष्ठतोऽन्वयात्॥ ६॥

राजाकी इस आज्ञाके अनुसार चतुरङ्गिणी सेना तैयार हो गयी और ऋषियोंके साथ यात्रा करते हुए महाराज दशरथके पीछे-पीछे चली॥ ६॥

गत्वा चतुरहं मार्गं विदेहानभ्युपेयिवान्।
राजा च जनकः श्रीमाञ्छ्रुत्वा पूजामकल्पयत्॥ ७॥

चार दिनका मार्ग तय करके वे सब लोग विदेह-देशमें जा पहुँचे। उनके आगमनका समाचार सुनकर श्रीमान् राजा जनकने स्वागत-सत्कारकी तैयारी की॥ ७॥

ततो राजानमासाद्य वृद्धं दशरथं नृपम्।
मुदितो जनको राजा प्रहर्षं परमं ययौ॥ ८॥

तत्पश्चात् आनन्दमग्न हुए राजा जनक बूढ़े महाराज दशरथके पास पहुँचे। उनसे मिलकर उन्हें बड़ा हर्ष हुआ॥

उवाच वचनं श्रेष्ठो नरश्रेष्ठं मुदान्वितम्।
स्वागतं ते नरश्रेष्ठ दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥ ९॥

राजाओंमें श्रेष्ठ मिथिलानरेशने आनन्दमग्न हुए पुरुष-प्रवर राजा दशरथसे कहा—'नरश्रेष्ठ रघुनन्दन! आपका स्वागत है। मेरे बड़े भाग्य, जो आप यहाँ पधारे॥ ९॥

पुत्रयोरुभयोः प्रीतिं लप्स्यसे वीर्यनिर्जिताम्।
दिष्ट्या प्राप्तो महातेजा वसिष्ठो भगवानृषिः॥ १०॥
सह सर्वैर्द्विजश्रेष्ठैर्देवैरिव शतक्रतुः।

'आप यहाँ अपने दोनों पुत्रोंकी प्रीति प्राप्त करेंगे, जो उन्होंने अपने पराक्रमसे जीतकर पायी है। महातेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने भी हमारे सौभाग्यसे ही यहाँ पदार्पण किया है। ये इन सभी श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ वैसी ही शोभा पा रहे हैं, जैसे देवताओंके साथ इन्द्र सुशोभित होते हैं॥ १०½॥

दिष्ट्या मे निर्जिता विघ्ना दिष्ट्या मे पूजितं कुलम्॥ ११॥
राघवैः सह सम्बन्धाद् वीर्यश्रेष्ठैर्महाबलैः।

'सौभाग्यसे मेरी सारी विघ्न-बाधाएँ पराजित हो गयीं। रघुकुलके महापुरुष महान् बलसे सम्पन्न और पराक्रममें सबसे श्रेष्ठ होते हैं। इस कुलके साथ सम्बन्ध होनेके कारण आज मेरे कुलका सम्मान बढ़ गया॥ ११½॥

श्वः प्रभाते नरेन्द्र त्वं संवर्तयितुमर्हसि॥ १२॥
यज्ञस्यान्ते नरश्रेष्ठ विवाहमृषिसत्तमैः।

'नरश्रेष्ठ नरेन्द्र! कल सबेरे इन सभी महर्षियोंके साथ उपस्थित हो मेरे यज्ञकी समाप्तिके बाद आप श्रीरामके विवाह-का शुभकार्य सम्पन्न करें'॥ १२½॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा ऋषिमध्ये नराधिपः॥ १३॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः प्रत्युवाच महीपतिम्।

ऋषियोंकी मण्डलीमें राजा जनककी यह बात सुनकर बोलनेकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ एवं वाक्यमर्मज्ञ महाराज दशरथने मिथिलानरेशको इस प्रकार उत्तर दिया—॥

प्रतिग्रहो दातृवशः श्रुतमेतन्मया पुरा॥ १४॥
यथा वक्ष्यसि धर्मज्ञ तत् करिष्यामहे वयम्।

'धर्मज्ञ! मैंने पहलेसे यह सुन रक्खा है कि प्रतिग्रह दाताके अधीन होता है। अतः आप जैसा कहेंगे, हम वैसा ही करेंगे'॥ १४½॥

तद् धर्मिष्ठं यशस्यं च वचनं सत्यवादिनः॥ १५॥
श्रुत्वा विदेहाधिपतिः परं विस्मयमागतः।

सत्यवादी राजा दशरथका वह धर्मानुकूल तथा यशोवर्धक वचन सुनकर विदेहराज जनकको बड़ा विस्मय हुआ॥ १५½॥

ततः सर्वे मुनिगणाः परस्परसमागमे॥ १६॥
हर्षेण महता युक्तास्तां रात्रिमवसन् सुखम्।

तदनन्तर सभी महर्षि एक-दूसरेसे मिलकर बहुत प्रसन्न हुए और सबने बड़े सुखसे वह रात बितायी ॥ १६½ ॥

अथ रामो महातेजा लक्ष्मणेन समं ययौ ॥१७॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य पितुः पादावुपस्पृशन् ।

इधर महातेजस्वी श्रीराम विश्वामित्रजीको आगे करके लक्ष्मणके साथ पिताजीके पास गये और उनके चरणोंका स्पर्श किया ॥१७½॥

राजा च राघवौ पुत्रौ निशाम्य परिहर्षितः ॥ १८ ॥
उवास परमप्रीतो जनकेनाभिपूजितः ।

राजा दशरथने भी जनकके द्वारा आदर-सत्कार पाकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया तथा अपने दोनों रघुकुल-रत्न पुत्रोंको सकुशल देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। वे रातमें बड़े सुखसे वहाँ रहे ॥ १८½ ॥

जनकोऽपि महातेजाः क्रिया धर्मेण तत्त्ववित् ।
यज्ञस्य च सुताभ्यां च कृत्वा रात्रिमुवास ह ॥ १९ ॥

महातेजस्वी तत्त्वज्ञ राजा जनकने भी धर्मके अनुसार यज्ञ-कार्य सम्पन्न किया तथा अपनी दोनों कन्याओंके लिये मङ्गला-चारका सम्पादन करके सुखसे वह रात्रि व्यतीत की ॥ १९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकोनसप्ततितमः सर्गः ॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें उनहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ६९ ॥

सप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने भाई कुशध्वजको सांकाश्या नगरीसे बुलवाना, राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सूर्यवंशका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये सीता तथा ऊर्मिलाको वरण करना

ततः प्रभाते जनकः कृतकर्मा महर्षिभिः ।
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञः शतानन्दं पुरोहितम् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब सबेरा हुआ और राजा जनक महर्षियोंके सहयोगसे अपना यज्ञ-कार्य सम्पन्न कर चुके, तब वे वाक्य-मर्मज्ञ नरेश अपने पुरोहित शतानन्दजीसे इस प्रकार बोले—॥

भ्राता मम महातेजा वीर्यवानतिधार्मिकः ।
कुशध्वज इति ख्यातः पुरीमध्यवसच्छुभाम् ॥ २ ॥
वार्याफलकपर्यन्तां पिबन्निक्षुमतीं नदीम् ।
सांकाश्यां पुण्यसंकाशां विमानमिव पुष्पकम् ॥ ३ ॥

'ब्रह्मन् ! मेरे महातेजस्वी और पराक्रमी भाई कुशध्वज जो अत्यन्त धर्मात्मा हैं, इस समय इक्षुमती नदीका जल पीते हुए उसके किनारे बसी हुई कल्याणमयी सांकाश्या नगरीमें निवास करते हैं। उसके चारों ओरके परकोटोंकी रक्षाके लिये शत्रुओंके निवारणमें समर्थ बड़े-बड़े यन्त्र लगाये गये हैं। वह पुरी पुष्पक विमानके समान विस्तृत तथा पुण्यसे उपलब्ध होनेवाले स्वर्गलोकके सदृश सुन्दर है ॥ २-३ ॥

तमहं द्रष्टुमिच्छामि यज्ञगोप्ता स मे मतः ।
प्रीतिं सोऽपि महातेजा इमां भोक्ता मया सह ॥ ४ ॥

'वहाँ रहनेवाले अपने भाईको इस शुभ अवसरपर मैं यहाँ उपस्थित देखना चाहता हूँ; क्योंकि मेरी दृष्टिमें वे मेरे इस यज्ञके संरक्षक हैं। महातेजस्वी कुशध्वज भी मेरे साथ श्रीसीता-रामके विवाहसम्बन्धी इस मङ्गल समारोहका सुख उठावेंगे' ॥ ४ ॥

एवमुक्ते तु वचने शतानन्दस्य संनिधौ ।
आगताः केचिदव्यग्रा जनकस्तान् समादिशत् ॥ ५ ॥

राजाके इस प्रकार कहनेपर शतानन्दजीके समीप कुछ धीर स्वभावके पुरुष आये और राजा जनकने उन्हें पूर्वोक्त आदेश सुनाया ॥ ५ ॥

शासनात् तु नरेन्द्रस्य प्रययुः शीघ्रवाजिभिः ।
समानेतुं नरव्याघ्रं विष्णुमिन्द्राज्ञया यथा ॥ ६ ॥

राजाकी आज्ञासे वे श्रेष्ठ दूत तेज चलनेवाले घोड़ोंपर सवार हो पुरुषसिंह कुशध्वजको बुला लानेके लिये चल दिये। मानो इन्द्रकी आज्ञासे उनके दूत भगवान विष्णुको बुलाने जा रहे हों ॥ ६ ॥

सांकाश्यां ते समागम्य ददृशुश्च कुशध्वजम् ।
न्यवेदयन् यथावृत्तं जनकस्य च चिन्तितम् ॥ ७ ॥

सांकाश्यामें पहुँचकर उन्होंने कुशध्वजसे भेंट की और मिथिलाका यथार्थ समाचार एवं जनकका अभिप्राय भी निवेदन किया ॥ ७ ॥

तद्वृत्तं नृपतिः श्रुत्वा दूतश्रेष्ठैर्महाजवैः ।
आज्ञया तु नरेन्द्रस्य आजगाम कुशध्वजः ॥ ८ ॥

उन महावेगशाली श्रेष्ठ दूतोंके मुखसे मिथिलाका सारा वृत्तान्त सुनकर राजा कुशध्वज महाराज जनककी आज्ञाके अनुसार मिथिलामें आये ॥ ८ ॥

स ददर्श महात्मानं जनकं धर्मवत्सलम् ।
सोऽभिवाद्य शतानन्दं जनकं चातिधार्मिकम् ॥ ९ ॥
राजार्हं परमं दिव्यमासनं सोऽध्यरोहत ।

वहाँ उन्होंने धर्मवत्सल महात्मा जनकका दर्शन किया। फिर शतानन्दजी तथा अत्यन्त धार्मिक जनकको प्रणाम करके वे राजाके योग्य परम दिव्य सिंहासनपर विराजमान हुए॥ ९½॥

उपविष्टावुभौ तौ तु भ्रातरावमितद्युती॥ १०॥
प्रेषयामासतुर्वीरौ मन्त्रिश्रेष्ठं सुदामनम्।
गच्छ मन्त्रिपते शीघ्रमिक्ष्वाकुममितप्रभम्॥ ११॥
आत्मजैः सह दुर्धर्षमानयस्व समन्त्रिणम्।

सिंहासनपर बैठे हुए उन दोनों अमिततेजस्वी वीर-बन्धुओंने मन्त्रिप्रवर सुदामनको भेजा और कहा—'मन्त्रिवर! आप शीघ्र ही अमिततेजस्वी इक्ष्वाकुकुलभूषण महाराज दशरथके पास जाइये और पुत्रों तथा मन्त्रियोंसहित उन दुर्जय नरेशको यहाँ बुला लाइये'॥ १०-११½॥

औपकार्यां स गत्वा तु रघूणां कुलवर्धनम्॥ १२॥
ददर्श शिरसा चैनमभिवाद्येदमब्रवीत्।

आज्ञा पाकर मन्त्री सुदामन महाराज दशरथके खेमेमें जाकर रघुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले उन नरेशसे मिले और मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम करनेके पश्चात् इस प्रकार बोले—॥ १२½॥

अयोध्याधिपते वीर वैदेहो मिथिलाधिपः॥ १३॥
स त्वां द्रष्टुं व्यवसितः सोपाध्यायपुरोहितम्।

'वीर अयोध्यानरेश! मिथिलापति विदेहराज जनक इस समय उपाध्याय और पुरोहितसहित आपका दर्शन करना चाहते हैं'॥ १३½॥

मन्त्रिश्रेष्ठवचः श्रुत्वा राजा सर्षिगणस्तथा॥ १४॥
सबन्धुरगमत् तत्र जनको यत्र वर्तते।

मन्त्रिवर सुदामनकी बात सुनकर राजा दशरथ ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ उस स्थानपर गये जहाँ राजा जनक विद्यमान थे॥ १४½॥

राजा च मन्त्रिसहितः सोपाध्यायः सबान्धवः॥ १५॥
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठो वैदेहमिदमब्रवीत्।

मन्त्री, उपाध्याय और भाई-बन्धुओंसहित राजा दशरथ, जो बोलनेकी कला जाननेवाले विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे, विदेहराज जनकसे इस प्रकार बोले—॥ १५½॥

विदितं ते महाराज इक्ष्वाकुकुलदैवतम्॥ १६॥
वक्ता सर्वेषु कृत्येषु वसिष्ठो भगवानृषिः।

'महाराज! आपको तो विदित ही होगा कि इक्ष्वाकु-कुलके देवता ये महर्षि वसिष्ठजी हैं। हमारे यहाँ सभी कार्योंमें ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ही कर्तव्यका उपदेश करते हैं और इन्हींकी आज्ञाका पालन किया जाता है॥ १६½॥

विश्वामित्राभ्यनुज्ञातः सह सर्वैर्महर्षिभिः॥ १७॥
एष वक्ष्यति धर्मात्मा वसिष्ठो मे यथाक्रमम्।

'यदि सम्पूर्ण महर्षियोंसहित विश्वामित्रजीकी आज्ञा हो तो ये धर्मात्मा वसिष्ठ ही पहले मेरी कुल-परम्पराका क्रमशः परिचय देंगे'॥ १७½॥

तूष्णींभूते दशरथे वसिष्ठो भगवानृषिः॥ १८॥
उवाच वाक्यं वाक्यज्ञो वैदेहं सपुरोधसम्।

यों कहकर जब राजा दशरथ चुप हो गये, तब वाक्यवेत्ता भगवान् वसिष्ठ मुनि पुरोहितसहित विदेहराजसे इस प्रकार बोले—॥ १८½॥

अव्यक्तप्रभवो ब्रह्मा शाश्वतो नित्य अव्ययः॥ १९॥
तस्मान्मरीचिः संजज्ञे मरीचेः कश्यपः सुतः।
विवस्वान् कश्यपाज्जज्ञे मनुर्वैवस्वतः स्मृतः॥ २०॥

'ब्रह्माजीकी उत्पत्तिका कारण अव्यक्त है—ये स्वयम्भू हैं। नित्य, शाश्वत और अविनाशी हैं। उनसे मरीचिकी उत्पत्ति हुई। मरीचिके पुत्र कश्यप हैं, कश्यपसे विवस्वान्‌का और विवस्वान्‌से वैवस्वत मनुका जन्म हुआ॥ १९-२०॥

मनुः प्रजापतिः पूर्वमिक्ष्वाकुश्च मनोः सुतः।
तमिक्ष्वाकुमयोध्यायां राजानं विद्धि पूर्वकम्॥ २१॥

'मनु पहले प्रजापति थे, उनसे इक्ष्वाकु नामक पुत्र हुआ। उन इक्ष्वाकुको ही आप अयोध्याके प्रथम राजा समझें॥ २१॥

इक्ष्वाकोस्तु सुतः श्रीमान् कुक्षिरित्येव विश्रुतः।
कुक्षेरथात्मजः श्रीमान् विकुक्षिरुदपद्यत॥ २२॥

'इक्ष्वाकुके पुत्रका नाम कुक्षि था। वे बड़े तेजस्वी थे। कुक्षिसे विकुक्षि नामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ॥ २२॥

विकुक्षेस्तु महातेजा बाणः पुत्रः प्रतापवान्।
बाणस्य तु महातेजा अनरण्यः प्रतापवान्॥ २३॥

'विकुक्षिके पुत्र महातेजस्वी और प्रतापी बाण हुए। बाणके पुत्रका नाम अनरण्य था। वे भी बड़े तेजस्वी और प्रतापी थे॥ २३॥

अनरण्यात् पृथुर्जज्ञे त्रिशङ्कुस्तु पृथोरपि।
त्रिशङ्कोरभवत् पुत्रो धुन्धुमारो महायशाः॥ २४॥

'अनरण्यसे पृथु और पृथुसे त्रिशङ्कुका जन्म हुआ। त्रिशङ्कुके पुत्र महायशस्वी धुन्धुमार थे॥ २४॥

धुन्धुमारान्महातेजा युवनाश्वो महारथः।
युवनाश्वसुतश्चासीन्मान्धाता पृथिवीपतिः॥ २५॥

'धुन्धुमारसे महातेजस्वी महारथी युवनाश्वका जन्म हुआ। युवनाश्वके पुत्र मान्धाता हुए, जो समस्त भूमण्डलके स्वामी थे॥ २५॥

मान्धातुस्तु सुतः श्रीमान् सुसंधिरुदपद्यत।

सुसंधेरपि पुत्रौ द्वौ ध्रुवसंधिः प्रसेनजित् ॥ २६ ॥

'मान्धातासे सुसन्धिनामक कान्तिमान् पुत्रका जन्म हुआ। ससुन्धिके भी दो पुत्र हुए—ध्रुवसन्धि और प्रसेनजित् ॥

यशस्वी ध्रुवसंधेस्तु भरतो नाम नामतः।
भरतात् तु महातेजा असितो नाम जायत ॥ २७ ॥

'ध्रुवसन्धिसे भरतनामक यशस्वी पुत्रका जन्म हुआ। भरतसे महातेजस्वी असितकी उत्पत्ति हुई ॥ २७ ॥

यस्यैते प्रतिराजान उदपद्यन्त शत्रवः।
हैहयास्तालजङ्घाश्च शूराश्च शशविन्दवः ॥ २८ ॥

'राजा असितके साथ हैहय, तालजङ्घ और शशविन्दु—इन तीन राजवंशोंके लोग शत्रुता रखने लगे थे ॥ २८ ॥

तांश्च स प्रतियुध्यन् वै युद्धे राजा प्रवासितः।
हिमवन्तमुपागम्य भार्याभ्यां सहितस्तदा ॥ २९ ॥

'युद्धमें इन तीनों शत्रुओंका सामना करते हुए राजा असित प्रवासी हो गये। वे अपनी दो रानियोंके साथ हिमालयपर आकर रहने लगे ॥ २९ ॥

असितोऽल्पबलो राजा कालधर्ममुपेयिवान्।
द्वे चास्य भार्ये गर्भिण्यौ बभूवतुरिति श्रुतिः ॥ ३० ॥

'राजा असितके पास बहुत थोड़ी सेना शेष रह गयी थी। वे हिमालयपर ही मृत्युको प्राप्त हो गये। उस समय उनकी दोनों रानियाँ गर्भवती थीं, ऐसा सुना गया है ॥ ३० ॥

एका गर्भविनाशार्थं सपत्न्यै सगरं ददौ।

'उनमेंसे एक रानीने अपनी सौतका गर्भ नष्ट करनेके लिये उसे विषयुक्त भोजन दे दिया ॥ ३०½ ॥

ततः शैलवरे रम्ये बभूवाभिरतो मुनिः ॥ ३१ ॥
भार्गवश्च्यवनो नाम हिमवन्तमुपाश्रितः।
तत्र चैका महाभागा भार्गवं देववर्चसम् ॥ ३२ ॥
ववन्दे पद्मपत्राक्षी काङ्क्षन्ती सुतमुत्तमम्।
तमृषिं साभ्युपागम्य कालिन्दी चाभ्यवादयत् ॥ ३३ ॥

'उस समय उस रमणीय एवं श्रेष्ठ पर्वतपर भृगुकुलमें उत्पन्न हुए महामुनि च्यवन तपस्यामें लगे हुए थे। हिमालयपर ही उनका आश्रम था। उन दोनों रानियोंमेंसे एक (जिसे जहर दिया गया था) कालिन्दीनामसे प्रसिद्ध थी। विकसित कमलदलके समान नेत्रोंवाली महाभागा कालिन्दी एक उत्तम पुत्र पानेकी इच्छा रखती थी। उसने देवतुल्य तेजस्वी भृगुनन्दन च्यवनके पास जाकर उन्हें प्रणाम किया ॥ ३१—३३ ॥

स तामभ्यवदद् विप्रः पुत्रेप्सुं पुत्रजन्मनि।
तव कुक्षौ महाभागे सुपुत्रः सुमहाबलः ॥ ३४ ॥
महावीर्यो महातेजा अचिरात् संजनिष्यति।
गरेण सहितः श्रीमान् मा शुचः कमलेक्षणे ॥ ३५ ॥

'उस समय ब्रह्मर्षि च्यवनने पुत्रकी अभिलाषा रखनेवाली कालिन्दीसे पुत्र-जन्मके विषयमें कहा—'महाभागे! तुम्हारे उदरमें एक महान् बलवान्, महातेजस्वी और महापराक्रमी उत्तम पुत्र है, वह कान्तिमान् बालक थोड़े ही दिनोंमें गर (जहर) के साथ उत्पन्न होगा। अतः कमललोचने! तुम पुत्रके लिये चिन्ता न करो' ॥ ३४-३५ ॥

च्यवनं च नमस्कृत्य राजपुत्री पतिव्रता।
पत्या विरहिता तस्मात् पुत्रं देवी व्यजायत ॥ ३६ ॥

'वह विधवा राजकुमारी कालिन्दी बड़ी पतिव्रता थी। महर्षि च्यवनको नमस्कार करके वह देवी अपने आश्रमपर लौट आयी। फिर समय आनेपर उसने एक पुत्रको जन्म दिया ॥ ३६ ॥

सपत्न्या तु गरस्तस्यै दत्तो गर्भजिघांसया।
सह तेन गरेणैव संजातः सगरोऽभवत् ॥ ३७ ॥

'उसकी सौतने उसके गर्भको नष्ट कर देनेके लिये जो गर (विष) दिया था, उसके साथ ही उत्पन्न होनेके कारण वह राजकुमार 'सगर' नामसे विख्यात हुआ ॥ ३७ ॥

सगरस्यासमञ्जस्तु असमञ्जादथांशुमान्।
दिलीपोंऽशुमतः पुत्रो दिलीपस्य भगीरथः ॥ ३८ ॥

'सगरके पुत्र असमंज और असमंजके पुत्र अंशुमान् हुए। अंशुमान्के पुत्र दिलीप और दिलीपके पुत्र भगीरथ हुए ॥ ३८ ॥

भगीरथात् ककुत्स्थश्च ककुत्स्थाच्च रघुस्तथा।
रघोस्तु पुत्रस्तेजस्वी प्रवृद्धः पुरुषादकः ॥ ३९ ॥

'भगीरथसे ककुत्स्थ और ककुत्स्थसे रघुका जन्म हुआ। रघुके तेजस्वी पुत्र प्रवृद्ध हुए, जो शापसे राक्षस हो गये थे ॥ ३९ ॥

कल्माषपादोऽप्यभवत् तस्माज्जातस्तु शङ्खणः।
सुदर्शनः शङ्खणस्य अग्निवर्णः सुदर्शनात् ॥ ४० ॥

'वे ही कल्माषपाद नामसे भी प्रसिद्ध हुए थे। उनसे शङ्खण नामक पुत्रका जन्म हुआ था। शङ्खणके पुत्र सुदर्शन और सुदर्शनके अग्निवर्ण हुए ॥ ४० ॥

शीघ्रगस्त्वग्निवर्णस्य शीघ्रगस्य मरुः सुतः।
मरोः प्रशुश्रुकस्त्वासीदम्बरीषः प्रशुश्रुकात् ॥ ४१ ॥

'अग्निवर्णके शीघ्रग और शीघ्रगके पुत्र मरु थे। मरुसे प्रशुश्रुक और प्रशुश्रुकसे अम्बरीषकी उत्पत्ति हुई ॥ ४१ ॥

अम्बरीषस्य पुत्रोऽभून्नहुषश्च महीपतिः।
नहुषस्य ययातिस्तु नाभागस्तु ययातिजः ॥ ४२ ॥
नाभागस्य बभूवाज अजाद् दशरथोऽभवत्।
अस्माद् दशरथाज्जातौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥ ४३ ॥

'अम्बरीषके पुत्र राजा नहुष हुए। नहुषके ययाति और ययातिके पुत्र नाभाग थे। नाभागके अज हुए। अजसे

दशरथका जन्म हुआ । इन्हीं महाराज दशरथसे ये दोनों भाई श्रीराम और लक्ष्मण उत्पन्न हुए हैं ॥ ४२-४३ ॥

आदिवंशविशुद्धानां राज्ञां परमधर्मिणाम् ।
इक्ष्वाकुकुलजातानां वीराणां सत्यवादिनाम् ॥ ४४ ॥

'इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए राजाओंका वंश आदिकालसे ही शुद्ध रहा है । ये सब-के-सब परम धर्मात्मा, वीर और सत्यवादी होते आये हैं ॥ ४४ ॥

रामलक्ष्मणयोरर्थे त्वत्सुते वरये नृप ।
सदृशाभ्यां नरश्रेष्ठ सदृशे दातुमर्हसि ॥ ४५ ॥

'नरश्रेष्ठ ! नरेश्वर ! इसी इक्ष्वाकुकुलमें उत्पन्न हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये मैं आपकी दो कन्याओंका वरण करता हूँ । ये आपकी कन्याओंके योग्य हैं और आपकी कन्याएँ इनके योग्य । अतः आप इन्हें कन्यादान करें' ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्ततितमः सर्गः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमः सर्गः

राजा जनकका अपने कुलका परिचय देते हुए श्रीराम और लक्ष्मणके लिये क्रमशः सीता और ऊर्मिलाको देनेकी प्रतिज्ञा करना

एवं ब्रुवाणं जनकः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ।
श्रोतुमर्हसि भद्रं ते कुलं नः परिकीर्तितम् ॥ १ ॥
प्रदाने हि मुनिश्रेष्ठ कुलं निरवशेषतः ।
वक्तव्यं कुलजातेन तन्निबोध महामते ॥ २ ॥

महर्षि वसिष्ठ जब इस प्रकार इक्ष्वाकुवंशका परिचय दे चुके, तब राजा जनकने हाथ जोड़कर उनसे कहा—'मुनिश्रेष्ठ ! आपका भला हो । अब हम भी अपने कुलका परिचय दे रहे हैं, सुनिये । महामते ! कुलीन पुरुषके लिये कन्यादानके समय अपने कुलका पूर्णरूपेण परिचय देना आवश्यक है; अतः आप सुननेकी कृपा करें ॥ १-२ ॥

राजाभूत् त्रिषु लोकेषु विश्रुतः स्वेन कर्मणा ।
निमिः परमधर्मात्मा सर्वसत्त्ववतां वरः ॥ ३ ॥

'प्राचीन कालमें निमिनामक एक परम धर्मात्मा राजा हुए हैं, जो सम्पूर्ण धैर्यशाली महापुरुषोंमें श्रेष्ठ तथा अपने पराक्रमसे तीनों लोकोंमें विख्यात थे ॥ ३ ॥

तस्य पुत्रो मिथिर्नाम जनको मिथिपुत्रकः ।
प्रथमो जनको राजा जनकादप्युदावसुः ॥ ४ ॥

'उनके मिथिनामक एक पुत्र हुआ । मिथिके पुत्रका नाम जनक हुआ । ये ही हमारे कुलमें पहले जनक हुए हैं (इन्हींके नामपर हमारे वंशका प्रत्येक राजा 'जनक' कहलाता है) । जनकसे उदावसुका जन्म हुआ ॥ ४ ॥

उदावसोस्तु धर्मात्मा जातो वै नन्दिवर्धनः ।
नन्दिवर्धसुतः शूरः सुकेतुर्नाम नामतः ॥ ५ ॥

'उदावसुसे धर्मात्मा नन्दिवर्धन उत्पन्न हुए । नन्दिवर्धनके शूरवीर पुत्रका नाम सुकेतु हुआ ॥ ५ ॥

सुकेतोरपि धर्मात्मा देवरातो महाबलः ।
देवरातस्य राजर्षेर्बृहद्रथ इति स्मृतः ॥ ६ ॥

'सुकेतुके भी देवरात नामक पुत्र हुआ । देवरात महान् बलवान् और धर्मात्मा थे । राजर्षि देवरातके बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक पुत्र हुआ ॥ ६ ॥

बृहद्रथस्य शूरोऽभून्महावीरः प्रतापवान् ।
महावीरस्य धृतिमान् सुधृतिः सत्यविक्रमः ॥ ७ ॥

'बृहद्रथके पुत्र महावीर हुए, जो शूर और प्रतापी थे । महावीरके सुधृति हुए, जो धैर्यवान् और सत्यपराक्रमी थे ॥ ७ ॥

सुधृतेरपि धर्मात्मा धृष्टकेतुः सुधार्मिकः ।
धृष्टकेतोश्च राजर्षेर्हर्यश्व इति विश्रुतः ॥ ८ ॥

'सुधृतिके भी धर्मात्मा धृष्टकेतु हुए, जो परम धार्मिक थे । राजर्षि धृष्टकेतुका पुत्र हर्यश्व नामसे विख्यात हुआ ॥ ८ ॥

हर्यश्वस्य मरुः पुत्रो मरोः पुत्रः प्रतीन्धकः ।
प्रतीन्धकस्य धर्मात्मा राजा कीर्तिरथः सुतः ॥ ९ ॥

'हर्यश्वके पुत्र मरु, मरुके पुत्र प्रतीन्धक तथा प्रतीन्धकके पुत्र धर्मात्मा राजा कीर्तिरथ हुए ॥ ९ ॥

पुत्रः कीर्तिरथस्यापि देवमीढ इति स्मृतः ।
देवमीढस्य विबुधो विबुधस्य महीध्रकः ॥ १० ॥

'कीर्तिरथके पुत्र देवमीढ नामसे विख्यात हुए । देवमीढके विबुध और विबुधके पुत्र महीध्रक हुए ॥ १० ॥

महीध्रकसुतो राजा कीर्तिरातो महाबलः ।
कीर्तिरातस्य राजर्षेर्महारोमा व्यजायत ॥ ११ ॥

'महीध्रकके पुत्र महाबली राजा कीर्तिरात हुए । राजर्षि कीर्तिरातके महारोमा नामक पुत्र उत्पन्न हुआ ॥ ११ ॥

महारोम्णस्तु धर्मात्मा स्वर्णरोमा व्यजायत ।
स्वर्णरोम्णस्तु राजर्षेर्ह्रस्वरोमा व्यजायत ॥ १२ ॥

'महारोमासे धर्मात्मा स्वर्णरोमाका जन्म हुआ। राजर्षि स्वर्णरोमासे ह्रस्वरोमा उत्पन्न हुए ॥ १२ ॥

तस्य पुत्रद्वयं राज्ञो धर्मज्ञस्य महात्मनः।
ज्येष्ठोऽहमनुजो भ्राता मम वीरः कुशध्वजः ॥ १३ ॥

'धर्मज्ञ महात्मा राजा ह्रस्वरोमाके दो पुत्र उत्पन्न हुए, जिनमें ज्येष्ठ तो मैं ही हूँ और कनिष्ठ मेरा छोटा भाई वीर कुशध्वज है ॥ १३ ॥

मां तु ज्येष्ठं पिता राज्ये सोऽभिषिच्य पिता मम।
कुशध्वजं समावेश्य भारं मयि वनं गतः ॥ १४ ॥

'मेरे पिता मुझ ज्येष्ठ पुत्रको राज्यपर अभिषिक्त करके कुशध्वजका सारा भार मुझे सौंपकर वनमें चले गये ॥ १४ ॥

वृद्धे पितरि स्वर्याते धर्मेण धुरमावहम्।
भ्रातरं देवसंकाशं स्नेहात् पश्यन् कुशध्वजम् ॥ १५ ॥

'वृद्ध पिताके स्वर्गगामी हो जानेपर अपने देवतुल्य भाई कुशध्वजको स्नेह-दृष्टिसे देखता हुआ मैं इस राज्यका भार धर्मके अनुसार वहन करने लगा ॥ १५ ॥

कस्यचित्त्वथ कालस्य सांकाश्यादागतः पुरात्।
सुधन्वा वीर्यवान् राजा मिथिलामवरोधकः ॥ १६ ॥

'कुछ कालके अनन्तर पराक्रमी राजा सुधन्वाने सांकाश्य नगरसे आकर मिथिलाको चारों ओरसे घेर लिया ॥ १६ ॥

स च मे प्रेषयामास शैवं धनुरनुत्तमम्।
सीता च कन्या पद्माक्षी मह्यं वै दीयतामिति ॥ १७ ॥

'उसने मेरे पास दूत भेजकर कहलाया कि 'तुम शिवजीके परम उत्तम धनुष तथा अपनी कमलनयनी कन्या सीताको मेरे हवाले कर दो' ॥ १७ ॥

तस्याप्रदानान्महर्षे युद्धमासीन्मया सह।
स हतोऽभिमुखो राजा सुधन्वा तु मया रणे ॥ १८ ॥

'महर्षे! मैंने उसकी माँग पूरी नहीं की। इसलिये मेरे साथ उसका युद्ध हुआ। उस संग्राममें सम्मुख युद्ध करता हुआ राजा सुधन्वा मेरे हाथसे मारा गया ॥ १८ ॥

निहत्य तं मुनिश्रेष्ठ सुधन्वानं नराधिपम्।
सांकाश्ये भ्रातरं शूरमभ्यषिञ्चं कुशध्वजम् ॥ १९ ॥

'मुनिश्रेष्ठ! राजा सुधन्वाका वध करके मैंने सांकाश्य नगरके राज्यपर अपने शूरवीर भ्राता कुशध्वजको अभिषिक्त कर दिया ॥ १९ ॥

कनीयानेष मे भ्राता अहं ज्येष्ठो महामुने।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २० ॥

'महामुने! ये मेरे छोटे भाई कुशध्वज हैं और मैं इनका बड़ा भाई हूँ। मुनिवर! मैं बड़ी प्रसन्नताके साथ आपको दो बहुएँ प्रदान करता हूँ ॥ २० ॥

सीतां रामाय भद्रं ते ऊर्मिलां लक्ष्मणाय वै।
वीर्यशुल्कां मम सुतां सीतां सुरसुतोपमाम् ॥ २१ ॥
द्वितीयामूर्मिलां चैव त्रिर्वदामि न संशयः।
ददामि परमप्रीतो वध्वौ ते मुनिपुङ्गव ॥ २२ ॥

'आपका भला हो! मैं सीताको श्रीरामके लिये और ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये समर्पित करता हूँ। पराक्रम ही जिसको पानेका शुल्क (शर्त) था, उस देवकन्याके समान सुन्दरी अपनी प्रथम पुत्री सीताको श्रीरामके लिये तथा दूसरी पुत्री ऊर्मिलाको लक्ष्मणके लिये दे रहा हूँ। मैं इस बातको तीन बार दुहराता हूँ, इसमें संशय नहीं है। मुनिप्रवर! मैं परम प्रसन्न होकर आपको दो बहुएँ दे रहा हूँ' ॥ २१-२२ ॥

रामलक्ष्मणयो राजन् गोदानं कारयस्व ह।
पितृकार्यं च भद्रं ते ततो वैवाहिकं कुरु ॥ २३ ॥

(वसिष्ठजीसे ऐसा कहकर राजा जनकने महाराज दशरथसे कहा—) 'राजन्! अब आप श्रीराम और लक्ष्मणके मङ्गलके लिये इनसे गोदान करवाइये, आपका कल्याण हो। नान्दीमुख श्राद्धका कार्य भी सम्पन्न कीजिये। इसके बाद विवाहका कार्य आरम्भ कीजियेगा ॥ २३ ॥

मघा ह्यद्य महाबाहो तृतीयदिवसे प्रभो।
फल्गुन्यामुत्तरे राजंस्तस्मिन् वैवाहिकं कुरु।
रामलक्ष्मणयोरर्थे दानं कार्यं सुखोदयम् ॥ २४ ॥

'महाबाहो! प्रभो! आज मघा नक्षत्र है। राजन्! आजके तीसरे दिन उत्तरा-फाल्गुनी नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य कीजियेगा। आज श्रीराम और लक्ष्मणके अभ्युदयके लिये (गो, भूमि, तिल और सुवर्ण आदिका) दान कराना चाहिये; क्योंकि वह भविष्यमें सुख देनेवाला होता है' ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे एकसप्ततितमः सर्गः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें इकहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रद्वारा भरत और शत्रुघ्नके लिये कुशध्वजकी कन्याओंका वरण, राजा जनकद्वारा इसकी स्वीकृति तथा राजा दशरथका अपने पुत्रोंके मङ्गलके लिये नान्दीश्राद्ध एवं गोदान करना

तमुक्तवन्तं वैदेहं विश्वामित्रो महामुनिः।
उवाच वचनं वीरं वसिष्ठसहितो नृपम्॥ १॥

विदेहराज जनक जब अपनी बात समाप्त कर चुके, तब वसिष्ठसहित महामुनि विश्वामित्र उन वीर नरेशसे इस प्रकार बोले—॥ १॥

अचिन्त्यान्यप्रमेयाणि कुलानि नरपुङ्गव।
इक्ष्वाकूणां विदेहानां नैषां तुल्योऽस्ति कश्चन॥ २॥

'नरश्रेष्ठ! इक्ष्वाकु और विदेह दोनों ही राजाओंके वंश अचिन्तनीय हैं। दोनोंके ही प्रभावकी कोई सीमा नहीं है। इन दोनोंकी समानता करनेवाला दूसरा कोई राजवंश नहीं है॥

सदृशो धर्मसम्बन्धः सदृशो रूपसम्पदा।
रामलक्ष्मणयो राजन् सीता चोर्मिलया सह॥ ३॥

'राजन्! इन दोनों कुलोंमें जो यह धर्म-सम्बन्ध स्थापित होने जा रहा है, सर्वथा एक दूसरेके योग्य है। रूप-वैभवकी दृष्टिसे भी समान योग्यताका है; क्योंकि ऊर्मिलासहित सीता श्रीराम और लक्ष्मणके अनुरूप है॥ ३॥

वक्तव्यं च नरश्रेष्ठ श्रूयतां वचनं मम।
भ्राता यवीयान् धर्मज्ञ एष राजा कुशध्वजः॥ ४॥
अस्य धर्मात्मनो राजन् रूपेणाप्रतिमं भुवि।
सुताद्वयं नरश्रेष्ठ पत्न्यर्थं वरयामहे॥ ५॥
भरतस्य कुमारस्य शत्रुघ्नस्य च धीमतः।
वरये ते सुते राजंस्तयोरर्थे महात्मनोः॥ ६॥

'नरश्रेष्ठ! इसके बाद मुझे भी कुछ कहना है; आप मेरी बात सुनिये। राजन्! आपके छोटे भाई जो ये धर्मज्ञ राजा कुशध्वज बैठे हैं, इन धर्मात्मा नरेशके भी दो कन्याएँ हैं, जो इस भूमण्डलमें अनुपम सुन्दरी हैं। नरश्रेष्ठ! भूपाल! मैं आपकी उन दोनों कन्याओंका कुमार भरत और बुद्धिमान् शत्रुघ्न इन दोनों महामनस्वी राजकुमारोंके लिये इनकी धर्मपत्नी बनानेके उद्देश्यसे वरण करता हूँ॥ ४—६॥

पुत्रा दशरथस्येमे रूपयौवनशालिनः।
लोकपालसमाः सर्वे देवतुल्यपराक्रमाः॥ ७॥

'राजा दशरथके ये सभी पुत्र रूप और यौवनसे सुशोभित, लोकपालोंके समान तेजस्वी तथा देवताओंके तुल्य पराक्रमी हैं॥

उभयोरपि राजेन्द्र सम्बन्धेनानुबध्यताम्।
इक्ष्वाकुकुलमव्यग्रं भवतः पुण्यकर्मणः॥ ८॥

'राजेन्द्र! इन दोनों भाइयों (भरत और शत्रुघ्न) को भी कन्यादान करके आप इस समस्त इक्ष्वाकुकुलको अपने सम्बन्धसे बाँध लीजिये। आप पुण्यकर्मा पुरुष हैं; आपके चित्तमें व्यग्रता नहीं आनी चाहिये (अर्थात् आप यह सोचकर व्यग्र न हों कि ऐसे महान् सम्राट्के साथ मैं एक ही समय चार वैवाहिक-सम्बन्धोंका निर्वाह कैसे कर सकता हूँ।)' ॥८॥

विश्वामित्रवचः श्रुत्वा वसिष्ठस्य मते तदा।
जनकः प्राञ्जलिर्वाक्यमुवाच मुनिपुङ्गवौ॥ ९॥

वसिष्ठजीकी सम्मतिके अनुसार विश्वामित्रजीका यह वचन सुनकर उस समय राजा जनकने हाथ जोड़कर उन दोनों मुनिवरोंसे कहा—॥ ९॥

कुलं धन्यमिदं मन्ये येषां तौ मुनिपुङ्गवौ।
सदृशं कुलसम्बन्धं यदाज्ञापयतः स्वयम्॥ १०॥

'मुनिपुङ्गवो! मैं अपने इस कुलको धन्य मानता हूँ, जिसे आप दोनों इक्ष्वाकुवंशके योग्य समझकर इसके साथ सम्बन्ध जोड़नेके लिये स्वयं आज्ञा दे रहे हैं॥ १०॥

एवं भवतु भद्रं वः कुशध्वजसुते इमे।
पत्न्यौ भजेतां सहितौ शत्रुघ्नभरतावुभौ॥ ११॥

'आपका कल्याण हो। आप जैसा कहते हैं, ऐसा ही हो। ये सदा साथ रहनेवाले दोनों भाई भरत और शत्रुघ्न कुशध्वज-की इन दोनों कन्याओं (मेंसे एक-एक) को अपनी-अपनी धर्मपत्नीके रूपमें ग्रहण करें॥ ११॥

एकाह्ना राजपुत्रीणां चतसृणां महामुने।
पाणीन् गृह्णन्तु चत्वारो राजपुत्रा महाबलाः॥ १२॥

'महामुने! ये चारों महाबली राजकुमार एक ही दिन हमारी चारों राजकुमारियोंका पाणिग्रहण करें॥ १२॥

उत्तरे दिवसे ब्रह्मन् फल्गुनीभ्यां मनीषिणः।
वैवाहिकं प्रशंसन्ति भगो यत्र प्रजापतिः॥ १३॥

'ब्रह्मन्! अगले दो दिन फाल्गुनी नामक नक्षत्रोंसे युक्त हैं। इनमें (पहले दिन तो पूर्वा फाल्गुनी है और) दूसरे दिन (अर्थात् परसों) उत्तराफाल्गुनी नामक नक्षत्र होगा, जिसके देवता प्रजापति भग (तथा अर्यमा) हैं। मनीषी पुरुष उस नक्षत्रमें वैवाहिक कार्य करना बहुत उत्तम बताते हैं' ॥१३॥

एवमुक्त्वा वचः सौम्यं प्रत्युत्थाय कृताञ्जलिः।
उभौ मुनिवरौ राजा जनको वाक्यमब्रवीत्॥ १४॥

इस प्रकार सौम्य (मनोहर) वचन कहकर राजा जनक उठकर खड़े हो गये और उन दोनों मुनिवरोंसे हाथ जोड़कर बोले—॥ १४॥

परो धर्मः कृतो मह्यं शिष्योऽस्मि भवतोस्तथा।
इमान्यासनमुख्यानि आस्यतां मुनिपुङ्गवौ ॥ १५ ॥

'आपलोगोंने कन्याओंका विवाह निश्चित करके मेरे लिये महान् धर्मका सम्पादन कर दिया; मैं आप दोनोंका शिष्य हूँ। मुनिवरो! इन श्रेष्ठ आसनोंपर आप दोनों विराजमान हों ॥

यथा दशरथस्येयं तथायोध्या पुरी मम।
प्रभुत्वे नास्ति संदेहो यथार्हं कर्तुमर्हथ ॥ १६ ॥

'आपके लिये जैसी राजा दशरथकी अयोध्या है, वैसी ही यह मेरी मिथिलापुरी भी है। आपका इसपर पूरा अधिकार है, इसमें संदेह नहीं; अतः आप हमें यथायोग्य आज्ञा प्रदान करते रहें' ॥ १६ ॥

तथा ब्रुवति वैदेहे जनके रघुनन्दनः।
राजा दशरथो हृष्टः प्रत्युवाच महीपतिम् ॥ १७ ॥

विदेहराज जनकके ऐसा कहनेपर रघुकुलका आनन्द बढ़ानेवाले राजा दशरथने प्रसन्न होकर उन मिथिलानरेशको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ १७ ॥

युवामसंख्येयगुणौ भ्रातरौ मिथिलेश्वरौ।
ऋषयो राजसङ्घाश्च भवद्भ्यामभिपूजिताः ॥ १८ ॥

'मिथिलेश्वर! आप दोनों भाइयोंके गुण असंख्य हैं; आपलोगोंने ऋषियों तथा राजसमूहोंका भलीभाँति सत्कार किया है ॥ १८ ॥

स्वस्ति प्राप्नुहि भद्रं ते गमिष्यामः स्वमालयम्।
श्राद्धकर्माणि विधिवद्विधास्य इति चाब्रवीत् ॥ १९ ॥

'आपका कल्याण हो, आप मङ्गलके भागी हों। अब हम अपने विश्रामस्थानको जायँगे। वहाँ जाकर मैं विधिपूर्वक नान्दीमुखश्राद्धका कार्य सम्पन्न करूँगा।' यह बात भी राजा दशरथने कही ॥ १९ ॥

तमापृष्ट्वा नरपतिं राजा दशरथस्तदा।
मुनीन्द्रौ तौ पुरस्कृत्य जगामाशु महायशाः ॥ २० ॥

तदनन्तर मिथिलानरेशकी अनुमति ले महायशस्वी राजा दशरथ मुनिश्रेष्ठ विश्वामित्र और वसिष्ठको आगे करके तुरंत अपने आवासस्थानपर चले गये ॥ २० ॥

स गत्वा निलयं राजा श्राद्धं कृत्वा विधानतः।
प्रभाते काल्यमुत्थाय चक्रे गोदानमुत्तमम् ॥ २१ ॥

डेरेपर जाकर राजा दशरथने (अपराह्णकालमें) विधिपूर्वक आभ्युदयिक श्राद्ध सम्पन्न किया। तत्पश्चात् (रात बीतनेपर) प्रातःकाल उठकर राजाने तत्कालोचित उत्तम गोदान-कर्म किया ॥ २१ ॥

गवां शतसहस्रं च ब्राह्मणेभ्यो नराधिपः।
एकैकशो ददौ राजा पुत्रानुद्दिश्य धर्मतः ॥ २२ ॥

राजा दशरथने अपने एक-एक पुत्रके मङ्गलके लिये धर्मानुसार एक-एक लाख गौएँ ब्राह्मणोंको दान कीं ॥ २२ ॥

सुवर्णशृङ्ग्यः सम्पन्नाः सवत्साः कांस्यदोहनाः।
गवां शतसहस्राणि चत्वारि पुरुषर्षभः ॥ २३ ॥
वित्तमन्यच्च सुबहु द्विजेभ्यो रघुनन्दनः।
ददौ गोदानमुद्दिश्य पुत्राणां पुत्रवत्सलः ॥ २४ ॥

उन सबके सींग सोनेसे मढ़े हुए थे। उन सबके साथ बछड़े और काँसेके दुग्धपात्र थे। इस प्रकार पुत्रवत्सल रघुकुलनन्दन पुरुषशिरोमणि राजा दशरथने चार लाख गौओंका दान किया तथा और भी बहुत-सा धन पुत्रोंके लिये गोदानके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको दिया ॥ २३-२४ ॥

स सुतैः कृतगोदानैर्वृतः सन्नृपतिस्तदा।
लोकपालैरिवाभाति वृतः सौम्यः प्रजापतिः ॥ २५ ॥

गोदान-कर्म सम्पन्न करके आये हुए पुत्रोंसे घिरे हुए राजा दशरथ उस समय लोकपालोंसे घिरकर बैठे हुए शान्तस्वभाव प्रजापति ब्रह्माके समान शोभा पा रहे थे ॥ २५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे द्विसप्ततितमः सर्गः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें बहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमः सर्गः

श्रीराम आदि चारों भाइयोंका विवाह

यस्मिंस्तु दिवसे राजा चक्रे गोदानमुत्तमम्।
तस्मिंस्तु दिवसे वीरो युधाजित् समुपेयिवान् ॥ १ ॥
पुत्रः केकयराजस्य साक्षाद्भरतमातुलः।
दृष्ट्वा पृष्ट्वा च कुशलं राजानमिदमब्रवीत् ॥ २ ॥

राजा दशरथने जिस दिन अपने पुत्रोंके विवाहके निमित्त उत्तम गोदान किया, उसी दिन भरतके सगे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित् वहाँ आ पहुँचे। उन्होंने महाराजका दर्शन करके कुशल-मङ्गल पूछा और इस प्रकार कहा—॥ १-२ ॥

केकयाधिपती राजा स्नेहात् कुशलमब्रवीत्।
येषां कुशलकामोऽसि तेषां सम्प्रत्यनामयम् ॥ ३ ॥

स्वस्रीयं मम राजेन्द्र द्रष्टुकामो महीपतिः।
तदर्थमुपयातोऽहमयोध्यां रघुनन्दन ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन ! केकयदेशके महाराजने बड़े स्नेहके साथ आपका कुशल-समाचार पूछा है और आप भी हमारे यहाँके जिन-जिन लोगोंकी कुशलवार्ता जानना चाहते होंगे, वे सब इस समय स्वस्थ और सानन्द हैं। राजेन्द्र ! केकयनरेश मेरे भान्जे भरतको देखना चाहते हैं। अतः इन्हें लेनेके लिये ही मैं अयोध्या आया था ॥ ३-४ ॥

श्रुत्वा त्वहमयोध्यायां विवाहार्थं तवात्मजान्।
मिथिलामुपयातांस्तु त्वया सह महीपते ॥ ५ ॥
त्वरयाभ्युपयातोऽहं द्रष्टुकामः स्वसुः सुतम्।

'परंतु पृथ्वीनाथ ! अयोध्यामें यह सुनकर कि 'आपके सभी पुत्र विवाहके लिये आपके साथ मिथिला पधारे हैं' मैं तुरंत यहाँ चला आया; क्योंकि मेरे मनमें अपनी बहिनके बेटेको देखनेकी बड़ी लालसा थी' ॥ ५$\frac{1}{2}$ ॥

अथ राजा दशरथः प्रियातिथिमुपस्थितम् ॥ ६ ॥
दृष्ट्वा परमसत्कारैः पूजनार्हमपूजयत्।

महाराज दशरथने अपने प्रिय अतिथिको उपस्थित देख बड़े सत्कारके साथ उनकी आवभगत की; क्योंकि वे सम्मान पानेके ही योग्य थे ॥ ६$\frac{1}{2}$ ॥

ततस्तामुषितो रात्रिं सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ७ ॥
प्रभाते पुनरुत्थाय कृत्वा कर्माणि तत्त्ववित्।
ऋषींस्तदा पुरस्कृत्य यज्ञवाटमुपागमत् ॥ ८ ॥

तदनन्तर अपने महामनस्वी पुत्रोंके साथ वह रात व्यतीत करके वे तत्त्वज्ञ नरेश प्रातःकाल उठे और नित्य कर्म करके ऋषियोंको आगे किये जनककी यज्ञशालामें जा पहुँचे ॥७-८॥

युक्ते मुहूर्ते विजये सर्वाभरणभूषितैः।
भ्रातृभिः सहितो रामः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ ९ ॥
वसिष्ठं पुरतः कृत्वा महर्षीनपरानपि।
वसिष्ठो भगवानेत्य वैदेहमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य विजय नामक मुहूर्त आनेपर दूल्हेके अनुरूप समस्त वेष-भूषासे अलंकृत हुए भाइयोंके साथ श्रीरामचन्द्रजी भी वहाँ आये। वे विवाहकालोचित मङ्गलाचार पूर्ण कर चुके थे तथा वसिष्ठ मुनि एवं अन्यान्य महर्षियोंको आगे करके उस मण्डपमें पधारे थे। उस समय भगवान् वसिष्ठने विदेहराज जनकके पास जाकर इस प्रकार कहा— ॥ ९-१० ॥

राजा दशरथो राजन् कृतकौतुकमङ्गलैः।
पुत्रैर्नरवरश्रेष्ठो दातारमभिकाङ्क्षते ॥ ११ ॥

'राजन् ! नरेशोंमें श्रेष्ठ महाराज दशरथ अपने पुत्रोंका वैवाहिकसूत्र-बन्धनरूप मङ्गलाचार सम्पन्न करके उन सबके साथ पधारे हैं और भीतर आनेके लिये दाताके आदेशकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ११ ॥

दातृप्रतिग्रहीतृभ्यां सर्वार्थाः सम्भवन्ति हि।
स्वधर्मं प्रतिपद्यस्व कृत्वा वैवाह्यमुत्तमम् ॥ १२ ॥

'क्योंकि दाता और प्रतिग्रहीता (दान ग्रहण करनेवाले) का संयोग होनेपर ही समस्त दान-धर्मोंका सम्पादन सम्भव होता है; अतः आप विवाह-कालोपयोगी शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके उन्हें बुलाइये और कन्यादानरूप स्वधर्मका पालन कीजिये' ॥ १२ ॥

इत्युक्तः परमोदारो वसिष्ठेन महात्मना।
प्रत्युवाच महातेजा वाक्यं परमधर्मवित् ॥ १३ ॥

महात्मा वसिष्ठके ऐसा कहनेपर परम उदार, परम धर्मज्ञ और महातेजस्वी राजा जनकने इस प्रकार उत्तर दिया—॥

कः स्थितः प्रतिहारो मे कस्याज्ञां सम्प्रतीक्षते।
स्वगृहे को विचारोऽस्ति यथा राज्यमिदं तव ॥ १४ ॥
कृतकौतुकसर्वस्वा वेदिमूलमुपागताः।
मम कन्या मुनिश्रेष्ठ दीप्ता वह्नेरिवार्चिषः ॥ १५ ॥

'मुनिश्रेष्ठ ! महाराजके लिये मेरे यहाँ कौन-सा पहरेदार खड़ा है। वे किसके आदेशकी प्रतीक्षा करते हैं। अपने घरमें आनेके लिये कैसा सोच-विचार है ? यह जैसे मेरा राज्य है, वैसे ही आपका है। मेरी कन्याओंका वैवाहिक सूत्र-बन्धनरूप मङ्गलकृत्य सम्पन्न हो चुका है। अब वे यज्ञवेदीके पास आकर बैठी हैं और अग्निकी प्रज्वलित शिखाओंके समान प्रकाशित हो रही हैं ॥ १४-१५ ॥

सद्योऽहं त्वत्प्रतीक्षोऽस्मि वेद्यामस्यां प्रतिष्ठितः।
अविघ्नं क्रियतां सर्वं किमर्थं हि विलम्ब्यते ॥ १६ ॥

'इस समय तो मैं आपकी ही प्रतीक्षामें वेदीपर बैठा हूँ। आप निर्विघ्नतापूर्वक सब कार्य पूर्ण कीजिये। विलम्ब किसलिये करते हैं ?' ॥ १६ ॥

तद् वाक्यं जनकेनोक्तं श्रुत्वा दशरथस्तदा।
प्रवेशयामास सुतान् सर्वानृषिगणानपि ॥ १७ ॥

वसिष्ठजीके मुखसे राजा जनककी कही हुई बात सुनकर महाराज दशरथ उस समय अपने पुत्रों और सम्पूर्ण महर्षियोंको महलके भीतर ले आये ॥ १७ ॥

ततो राजा विदेहानां वसिष्ठमिदमब्रवीत्।
कारयस्व ऋषे सर्वामृषिभिः सह धार्मिक ॥ १८ ॥
रामस्य लोकरामस्य क्रियां वैवाहिकीं प्रभो।

तदनन्तर विदेहराजने वसिष्ठजीसे इस प्रकार कहा— 'धर्मात्मा महर्षे ! प्रभो ! आप ऋषियोंको साथ लेकर लोकाभिराम श्रीरामके विवाहकी सम्पूर्ण क्रिया कराइये' ॥१८$\frac{1}{2}$॥

तथेत्युक्त्वा तु जनकं वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ १९ ॥
विश्वामित्रं पुरस्कृत्य शतानन्दं च धार्मिकम् ।
प्रपामध्ये तु विधिवद् वेदिं कृत्वा महातपाः ॥ २० ॥
अलंचकार तां वेदिं गन्धपुष्पैः समन्ततः ।
सुवर्णपालिकाभिश्च चित्रकुम्भैश्च साङ्कुरैः ॥ २१ ॥
अङ्कुराढ्यैः शरावैश्च धूपपात्रैः सधूपकैः ।
शङ्खपात्रैः स्रुवैः स्रुग्भिः पात्रैरर्घ्यादिपूजितैः ॥ २२ ॥
लाजपूर्णैश्च पात्रीभिरक्षतैरपि संस्कृतैः ।
दर्भैः समैः समास्तीर्य विधिवन्मन्त्रपूर्वकम् ॥ २३ ॥
अग्निमाधाय तं वेद्यां विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ।
जुहावाग्नौ महातेजा वसिष्ठो मुनिपुङ्गवः ॥ २४ ॥

तब जनकजीसे 'बहुत अच्छा' कहकर महातपस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने विश्वामित्र और धर्मात्मा शतानन्दजीको आगे करके विवाह-मण्डपके मध्यभागमें विधिपूर्वक वेदी बनायी और गन्ध तथा फूलोंके द्वारा उसे चारों ओरसे सुन्दर रूपमें सजाया। साथ ही बहुत-सी सुवर्ण-पालिकाएँ, यवके अङ्कुरोंसे युक्त चित्रित कलश, अङ्कुर जमाये हुए सकोरे, धूपयुक्त धूपपात्र, शङ्खपात्र, स्रुवा, स्रुक्, अर्घ्य आदि पूजनपात्र, लावा (खीलों) से भरे हुए पात्र तथा धोये हुए अक्षत आदि समस्त सामग्रियोंको भी यथास्थान रख दिया। तत्पश्चात् महातेजस्वी मुनिवर वसिष्ठजीने बराबर-बराबर कुशोंको वेदीके चारों ओर बिछाकर मन्त्रोच्चारण करते हुए विधिपूर्वक अग्नि-स्थापन किया और विधिको प्रधानता देते हुए मन्त्रपाठपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें हवन किया ॥ १९—२४ ॥

ततः सीतां समानीय सर्वाभरणभूषिताम् ।
समक्षमग्नेः संस्थाप्य राघवाभिमुखे तदा ॥ २५ ॥
अब्रवीज्जनको राजा कौसल्यानन्दवर्धनम् ।
इयं सीता मम सुता सहधर्मचरी तव ॥ २६ ॥
प्रतीच्छ चैनां भद्रं ते पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
पतिव्रता महाभागा छायेवानुगता सदा ॥ २७ ॥

तदनन्तर राजा जनकने सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित सीताको ले आकर अग्निके समक्ष श्रीरामचन्द्रजीके सामने बिठा दिया और माता कौसल्याका आनन्द बढ़ानेवाले उन श्रीरामसे कहा—'रघुनन्दन ! तुम्हारा कल्याण हो। यह मेरी पुत्री सीता तुम्हारी सहधर्मिणीके रूपमें उपस्थित है; इसे स्वीकार करो और इसका हाथ अपने हाथमें लो। यह परम पतिव्रता, महान् सौभाग्यवती और छायाकी भाँति सदा तुम्हारे पीछे चलनेवाली होगी' ॥ २५—२७ ॥

इत्युक्त्वा प्राक्षिपद् राजा मन्त्रपूतं जलं तदा ।
साधुसाध्विति देवानामृषीणां वदतां तदा ॥ २८ ॥

यह कहकर राजाने श्रीरामके हाथमें मन्त्रसे पवित्र हुआ संकल्पका जल छोड़ दिया। उस समय देवताओं और ऋषियोंके मुखसे जनकके लिये साधुवाद सुनायी देने लगा ॥

देवदुन्दुभिनिर्घोषः पुष्पवर्षो महानभूत् ।
एवं दत्त्वा सुतां सीतां मन्त्रोदकपुरस्कृताम् ॥ २९ ॥
अब्रवीज्जनको राजा हर्षेणाभिपरिप्लुतः ।
लक्ष्मणागच्छ भद्रं ते ऊर्मिलामुद्यतां मया ॥ ३० ॥
प्रतीच्छ पाणिं गृह्णीष्व मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

देवताओंके नगाड़े बजने लगे और आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई। इस प्रकार मन्त्र और संकल्पके जलके साथ अपनी पुत्री सीताका दान करके हर्षमग्न हुए राजा जनकने लक्ष्मणसे कहा—'लक्ष्मण ! तुम्हारा कल्याण हो। आओ, मैं ऊर्मिलाको तुम्हारी सेवामें दे रहा हूँ। इसे स्वीकार करो। इसका हाथ अपने हाथमें लो। इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ २९-३०½ ॥

तमेवमुक्त्वा जनको भरतं चाभ्यभाषत ॥ ३१ ॥
गृहाण पाणिं माण्डव्याः पाणिना रघुनन्दन ।

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर जनकने भरतसे कहा—'रघुनन्दन ! माण्डवीका हाथ अपने हाथमें लो' ॥ ३१½ ॥

शत्रुघ्नं चापि धर्मात्मा अब्रवीन्मिथिलेश्वरः ॥ ३२ ॥
श्रुतकीर्तेर्महाबाहो पाणिं गृह्णीष्व पाणिना ।
सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ३३ ॥
पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत् कालस्य पर्ययः ।

फिर धर्मात्मा मिथिलेशने शत्रुघ्नको सम्बोधित करके कहा—'महाबाहो ! तुम अपने हाथसे श्रुतकीर्तिका पाणिग्रहण करो। तुम चारों भाई शान्तस्वभाव हो। तुम सबने उत्तम व्रतका भलीभाँति आचरण किया है। ककुत्स्थकुलके भूषण-रूप तुम चारों भाई पत्नीसे संयुक्त हो जाओ। इस कार्यमें विलम्ब नहीं होना चाहिये' ॥ ३२-३३½ ॥

जनकस्य वचः श्रुत्वा पाणीन् पाणिभिरस्पृशन् ॥ ३४ ॥
चत्वारस्ते चतसृणां वसिष्ठस्य मते स्थिताः ।
अग्निं प्रदक्षिणं कृत्वा वेदिं राजानमेव च ॥ ३५ ॥
ऋषींश्चापि महात्मानः सहभार्या रघूद्वहाः ।
यथोक्तेन ततश्चक्रुर्विवाहं विधिपूर्वकम् ॥ ३६ ॥

राजा जनकका यह वचन सुनकर उन चारों राजकुमारोंने चारों राजकुमारियोंके हाथ अपने हाथमें लिये। फिर वसिष्ठजीकी सम्मतिसे उन रघुकुलरत्न महामनस्वी राजकुमारोंने अपनी-अपनी पत्नीके साथ अग्नि, वेदी, राजा दशरथ तथा ऋषि-मुनियोंकी परिक्रमा की और वेदोक्त विधिके अनुसार वैवाहिक कार्य पूर्ण किया ॥ ३४—३६ ॥

पुष्पवृष्टिर्महत्यासीदन्तरिक्षात् सुभास्वरा ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्घोषैर्गीतवादित्रनिःस्वनैः ॥ ३७ ॥

ननृतुश्चाप्सरःसङ्घा गन्धर्वाश्च जगुः कलम्।
विवाहे रघुमुख्यानां तदद्भुतमदृश्यत ॥ ३८ ॥

उस समय आकाशसे फूलोंकी बड़ी भारी वर्षा हुई, जो सुहावनी लगती थी। दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि, दिव्य गीतोंके मनोहर शब्द और दिव्य वाद्योंके मधुर घोषके साथ झुंड-की-झुंड अप्सराएँ नृत्य करने लगीं और गन्धर्व मधुर गीत गाने लगे। उन रघुवंशशिरोमणि राजकुमारोंके विवाहमें वह अद्भुत दृश्य दिखायी दिया ॥ ३७-३८ ॥

ईदृशे वर्तमाने तु तूर्योद्घुष्टनिनादिते।
त्रिरग्निं ते परिक्रम्य ऊहुर्भार्या महौजसः ॥ ३९ ॥

शहनाई आदि बाजोंके मधुर घोषसे गूँजते हुए उस वर्तमान विवाहोत्सवमें उन महातेजस्वी राजकुमारोंने अग्निकी तीन बार परिक्रमा करके पत्नियोंको स्वीकार करते हुए विवाह-कर्म सम्पन्न किया ॥ ३९ ॥

अथोपकार्यं जग्मुस्ते सभार्या रघुनन्दनाः।
राजाप्यनुययौ पश्यन् सर्षिसङ्घः सबान्धवः ॥ ४० ॥

तदनन्तर रघुकुलको आनन्द प्रदान करनेवाले वे चारों भाई अपनी पत्नियोंके साथ जनवासेमें चले गये। राजा दशरथ भी ऋषियों और बन्धु-बान्धवोंके साथ पुत्रों और पुत्र-वधुओंको देखते हुए उनके पीछे-पीछे गये ॥ ४० ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे त्रिसप्ततितमः सर्गः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें तिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

चतुःसप्ततितमः सर्गः

विश्वामित्रका अपने आश्रमको प्रस्थान, राजा जनकका कन्याओंको भारी दहेज देकर राजा दशरथ आदिको विदा करना, मार्गमें शुभाशुभ शकुन और परशुरामजीका आगमन

अथ रात्र्यां व्यतीतायां विश्वामित्रो महामुनिः।
आपृष्ट्वा तौ च राजानौ जगामोत्तरपर्वतम् ॥ १ ॥

तदनन्तर जब रात बीती और सबेरा हुआ, तब महामुनि विश्वामित्र राजा जनक और महाराज दशरथ दोनों राजाओंसे पूछकर उनकी स्वीकृति ले उत्तरपर्वतपर (हिमालयकी शाखाभूत पर्वतपर, जहाँ कौशिकीके तटपर उनका आश्रम था, वहाँ) चले गये ॥ १ ॥

विश्वामित्रे गते राजा वैदेहं मिथिलाधिपम्।
आपृष्ट्वैव जगामाशु राजा दशरथः पुरीम् ॥ २ ॥

विश्वामित्रजीके चले जानेपर महाराज दशरथ भी विदेहराज मिथिलानरेशसे अनुमति लेकर ही शीघ्र अपनी पुरी अयोध्याको जानेके लिये तैयार हो गये ॥ २ ॥

अथ राजा विदेहानां ददौ कन्याधनं बहु।
गवां शतसहस्राणि बहूनि मिथिलेश्वरः ॥ ३ ॥
कम्बलानां च मुख्यानां क्षौमान् कोट्यम्बराणि च।
हस्त्यश्वरथपादातं दिव्यरूपं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥

उस समय विदेहराज जनकने अपनी कन्याओंके निमित्त दहेजमें बहुत अधिक धन दिया। उन मिथिला-नरेशने कई लाख गौएँ, कितनी ही अच्छी-अच्छी कालीनें तथा करोड़ोंकी संख्यामें रेशमी और सूती वस्त्र दिये, भाँति-भाँतिके गहनोंसे सजे हुए बहुत-से दिव्य हाथी, घोड़े, रथ और पैदल सैनिक भेंट किये ॥ ३-४ ॥

ददौ कन्याशतं तासां दासीदासमनुत्तमम्।
हिरण्यस्य सुवर्णस्य मुक्तानां विद्रुमस्य च ॥ ५ ॥

अपनी पुत्रियोंके लिये सहेलीके रूपमें उन्होंने सौ-सौ कन्याएँ तथा उत्तम दास-दासियाँ अर्पित कीं। इन सबके अतिरिक्त राजाने उन सबके लिये एक करोड़ स्वर्णमुद्रा, रजतमुद्रा, मोती तथा मूँगे भी दिये ॥ ५ ॥

ददौ राजा सुसंहृष्टः कन्याधनमनुत्तमम्।
दत्त्वा बहुविधं राजा समनुज्ञाप्य पार्थिवम् ॥ ६ ॥
प्रविवेश स्वनिलयं मिथिलां मिथिलेश्वरः।
राजाप्ययोध्याधिपतिः सह पुत्रैर्महात्मभिः ॥ ७ ॥
ऋषीन् सर्वान् पुरस्कृत्य जगाम सबलानुगः।

इस प्रकार मिथिलापति राजा जनकने बड़े हर्षके साथ उत्तमोत्तम कन्याधन (दहेज) दिया। नाना प्रकारकी वस्तुएँ दहेजमें देकर महाराज दशरथकी आज्ञा ले वे पुनः मिथिला-नगरके भीतर अपने महलमें लौट आये। उधर अयोध्या-नरेश राजा दशरथ भी सम्पूर्ण महर्षियोंको आगे करके अपने महात्मा पुत्रों, सैनिकों तथा सेवकोंके साथ अपनी राजधानीकी ओर प्रस्थित हुए ॥ ६-७½ ॥

गच्छन्तं तु नरव्याघ्रं सर्षिसङ्घं सराघवम् ॥ ८ ॥
घोरास्तु पक्षिणो वाचो व्याहरन्ति समन्ततः।
भौमाश्चैव मृगाः सर्वे गच्छन्ति स्म प्रदक्षिणम् ॥ ९ ॥

उस समय ऋषि-समूह तथा श्रीरामचन्द्रजीके साथ यात्रा करते हुए पुरुषसिंह महाराज दशरथके चारों ओर भयंकर

बोली बोलनेवाले पक्षी चहचहाने लगे और भूमिपर विचरनेवाले समस्त मृग उन्हें दाहिने रखकर जाने लगे ॥ ८-९ ॥

तान् दृष्ट्वा राजशार्दूलो वसिष्ठं पर्यपृच्छत।
असौम्याः पक्षिणो घोरा मृगाश्चापि प्रदक्षिणाः॥ १०॥
किमिदं हृदयोत्कम्पि मनो मम विषीदति।

उन सबको देखकर राजसिंह दशरथने वसिष्ठजीसे पूछा—'मुनिवर! एक ओर तो ये भयंकर पक्षी घोर शब्द कर रहे हैं और दूसरी ओर ये मृग हमें दाहिनी ओर करके जा रहे हैं; यह अशुभ और शुभ दो प्रकारका शकुन कैसा? यह मेरे हृदयको कम्पित किये देता है। मेरा मन विषादमें डूबा जाता है' ॥ १०½ ॥

राज्ञो दशरथस्यैतच्छ्रुत्वा वाक्यं महानृषिः॥ ११॥
उवाच मधुरां वाणीं श्रूयतामस्य यत् फलम्।
उपस्थितं भयं घोरं दिव्यं पक्षिमुखाच्च्युतम्॥ १२॥
मृगाः प्रशमयन्त्येते संतापस्त्यज्यतामयम्।

राजा दशरथका यह वचन सुनकर महर्षि वसिष्ठने मधुर वाणीमें कहा—'राजन्! इस शकुनका जो फल है, उसे सुनिये—आकाशमें पक्षियोंके मुखसे जो बात निकल रही है, वह बताती है कि इस समय कोई घोर भय उपस्थित होनेवाला है, परंतु हमें दाहिने रखकर जानेवाले ये मृग उस भयके शान्त हो जानेकी सूचना दे रहे हैं; इसलिये आप यह चिन्ता छोड़िये' ॥ ११-१२½ ॥

तेषां संवदतां तत्र वायुः प्रादुर्बभूव ह॥ १३॥
कम्पयन् मेदिनीं सर्वां पातयंश्च महाद्रुमान्।
तमसा संवृतः सूर्यः सर्वे नावेदिषुर्दिशः॥ १४॥
भस्मना चावृतं सर्वं सम्मूढमिव तद्बलम्।

इन लोगोंमें इस प्रकार बातें हो ही रही थीं कि वहाँ बड़े जोरोंकी आँधी उठी। वह सारी पृथ्वीको कँपाती हुई बड़े-बड़े वृक्षोंको धराशायी करने लगी। सूर्य अन्धकारसे आच्छन्न हो गये। किसीको दिशाओंका भान न रहा। धूलसे ढक जानेके कारण वह सारी सेना मूर्च्छित-सी हो गयी ॥ १३-१४½ ॥

वसिष्ठ ऋषयश्चान्ये राजा च ससुतस्तदा॥ १५॥
ससंज्ञा इव तत्रासन् सर्वमन्यद्विचेतनम्।
तस्मिंस्तमसि घोरे तु भस्मच्छन्नेव सा चमूः॥ १६॥

उस समय केवल वसिष्ठ मुनि, अन्यान्य ऋषियों तथा पुत्रोंसहित राजा दशरथको ही चेत रह गया था, शेष सभी लोग अचेत हो गये थे। उस घोर अन्धकारमें राजाकी वह सेना धूलसे आच्छादित-सी हो गयी थी ॥ १५-१६ ॥

ददर्श भीमसंकाशं जटामण्डलधारिणम्।
भार्गवं जामदग्न्येयं राजा राजविमर्दनम्॥ १७॥
कैलासमिव दुर्धर्षं कालाग्निमिव दुःसहम्।
ज्वलन्तमिव तेजोभिर्दुर्निरीक्ष्यं पृथग्जनैः॥ १८॥
स्कन्धे चासज्ज्य परशुं धनुर्विद्युद्गणोपमम्।
प्रगृह्य शरमुग्रं च त्रिपुरघ्नं यथा शिवम्॥ १९॥

उस समय राजा दशरथने देखा—क्षत्रिय राजाओंका मान-मर्दन करनेवाले भृगुकुलनन्दन जमदग्निकुमार परशुराम सामनेसे आ रहे हैं। वे बड़े भयानक-से दिखायी देते थे। उन्होंने मस्तकपर बड़ी-बड़ी जटाएँ धारण कर रखी थीं। वे कैलासके समान दुर्जय और कालाग्निके समान दुःसह प्रतीत होते थे। तेजोमण्डलद्वारा जाज्वल्यमान-से हो रहे थे। साधारण लोगोंके लिये उनकी ओर देखना भी कठिन था। वे कंधेपर फरसा रखे और हाथमें विद्युद्गणोंके समान दीप्तिमान् धनुष एवं भयंकर बाण लिये त्रिपुरविनाशक भगवान् शिवके समान जान पड़ते थे ॥ १७—१९ ॥

तं दृष्ट्वा भीमसंकाशं ज्वलन्तमिव पावकम्।
वसिष्ठप्रमुखा विप्रा जपहोमपरायणाः॥ २०॥
संगता मुनयः सर्वे संजजल्पुरथो मिथः।

प्रज्वलित अग्निके समान भयानक-से प्रतीत होनेवाले परशुरामको उपस्थित देख जप और होममें तत्पर रहनेवाले वसिष्ठ आदि सभी ब्रह्मर्षि एकत्र हो परस्पर इस प्रकार बातें करने लगे—॥ २०½ ॥

कच्चित् पितृवधामर्षी क्षत्रं नोत्सादयिष्यति॥ २१॥
पूर्वं क्षत्रवधं कृत्वा गतमन्युर्गतज्वरः।
क्षत्रस्योत्सादनं भूयो न खल्वस्य चिकीर्षितम्॥ २२॥

'क्या अपने पिताके वधसे अमर्षके वशीभूत हो ये क्षत्रियोंका संहार नहीं कर डालेंगे? पूर्वकालमें क्षत्रियोंका वध करके इन्होंने अपना क्रोध उतार लिया है। अब इनकी बदला लेनेकी चिन्ता दूर हो चुकी है। अतः फिर क्षत्रियोंका संहार करना इनके लिये अभीष्ट नहीं है, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है' ॥ २१-२२ ॥

एवमुक्त्वार्घ्यमादाय भार्गवं भीमदर्शनम्।
ऋषयो रामरामेति मधुरं वाक्यमब्रुवन्॥ २३॥

ऐसा कहकर ऋषियोंने भयंकर दिखायी देनेवाले भृगुनन्दन परशुरामको अर्घ्य लेकर दिया और 'राम! राम!' कहकर उनसे मधुर वाणीमें बातचीत की ॥ २३ ॥

प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिदत्तां प्रतापवान्।

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्योऽभ्यभाषत ॥ २४ ॥

ऋषियोंकी दी हुई उस पूजाको स्वीकार करके प्रतापी जमदग्निपुत्र परशुरामने दशरथनन्दन श्रीरामसे इस प्रकार कहा ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे चतुःसप्ततितमः सर्गः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें चौहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

पञ्चसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथकी बात अनसुनी करके परशुरामका श्रीरामको वैष्णव-धनुषपर बाण चढ़ानेके लिये ललकारना

राम दाशरथे वीर वीर्यं ते श्रूयतेऽद्भुतम् ।
धनुषो भेदनं चैव निखिलेन मया श्रुतम् ॥ १ ॥

'दशरथनन्दन श्रीराम ! वीर ! सुना जाता है कि तुम्हारा पराक्रम अद्भुत है । तुम्हारेद्वारा शिव-धनुषके तोड़े जानेका सारा समाचार भी मेरे कानोंमें पड़ चुका है ॥ १ ॥

तदद्भुतमचिन्त्यं च भेदनं धनुषस्तथा ।
तच्छ्रुत्वाहमनुप्राप्तो धनुर्गृह्यापरं शुभम् ॥ २ ॥

'उस धनुषका तोड़ना अद्भुत और अचिन्त्य है; उसके टूटनेकी बात सुनकर मैं एक दूसरा उत्तम धनुष लेकर आया हूँ ॥ २ ॥

तदिदं घोरसंकाशं जामदग्न्यं महद्धनुः ।
पूरयस्व शरेणैव स्वबलं दर्शयस्व च ॥ ३ ॥

'यह है वह जमदग्निकुमार परशुरामका भयंकर और विशाल धनुष । तुम इसे खींचकर इसके ऊपर बाण चढ़ाओ और अपना बल दिखाओ ॥ ३ ॥

तदहं ते बलं दृष्ट्वा धनुषोऽप्यस्य पूरणे ।
द्वन्द्वयुद्धं प्रदास्यामि वीर्यश्लाघ्यमहं तव ॥ ४ ॥

'इस धनुषके चढ़ानेमें भी तुम्हारा बल कैसा है ? यह देखकर मैं तुम्हें ऐसा द्वन्द्वयुद्ध प्रदान करूँगा, जो तुम्हारे पराक्रमके लिये स्पृहणीय होगा' ॥ ४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा राजा दशरथस्तदा ।
विषण्णवदनो दीनः प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ ५ ॥

परशुरामजीका वह वचन सुनकर उस समय राजा दशरथके मुखपर विषाद छा गया । वे दीनभावसे हाथ जोड़कर बोले—॥ ५ ॥

क्षत्ररोषात् प्रशान्तस्त्वं ब्राह्मणश्च महातपाः ।
बालानां मम पुत्राणामभयं दातुमर्हसि ॥ ६ ॥
भार्गवाणां कुले जातः स्वाध्यायव्रतशालिनाम् ।
सहस्राक्षे प्रतिज्ञाय शस्त्रं प्रक्षिप्तवानसि ॥ ७ ॥

'ब्रह्मन् ! आप स्वाध्याय और व्रतसे शोभा पानेवाले भृगुवंशी ब्राह्मणोंके कुलमें उत्पन्न हुए हैं और स्वयं भी महान् तपस्वी और ब्रह्मज्ञानी हैं; क्षत्रियोंपर अपना रोष प्रकट करके अब शान्त हो चुके हैं; इसलिये मेरे बालक पुत्रोंको आप अभयदान देनेकी कृपा करें; क्योंकि आपने इन्द्रके समीप प्रतिज्ञा करके शस्त्रका परित्याग कर दिया है ॥ ६-७ ॥

स त्वं धर्मपरो भूत्वा कश्यपाय वसुंधराम् ।
दत्त्वा वनमुपागम्य महेन्द्रकृतकेतनः ॥ ८ ॥

'इस तरह आप धर्ममें तत्पर हो कश्यपजीको पृथ्वीका दान करके वनमें आकर महेन्द्रपर्वतपर आश्रम बनाकर रहते हैं ॥ ८ ॥

मम सर्वविनाशाय सम्प्राप्तस्त्वं महामुने ।
न चैकस्मिन् हते रामे सर्वे जीवामहे वयम् ॥ ९ ॥

'महामुने ! (इस प्रकार शस्त्रत्यागकी प्रतिज्ञा करके भी) आप मेरा सर्वनाश करनेके लिये कैसे आ गये ? (यदि कहें—मेरा रोष तो केवल रामपर है तो) एकमात्र रामके मारे जानेपर ही हम सब लोग अपने जीवनका परित्याग कर देंगे' ॥

ब्रुवत्येवं दशरथे जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
अनादृत्य तु तद्वाक्यं राममेवाभ्यभाषत ॥ १० ॥

राजा दशरथ इस प्रकार कहते ही रह गये; परंतु प्रतापी परशुरामने उनके उन वचनोंकी अवहेलना करके रामसे ही बातचीत जारी रक्खी ॥ १० ॥

इमे द्वे धनुषी श्रेष्ठे दिव्ये लोकाभिपूजिते ।
दृढे बलवती मुख्ये सुकृते विश्वकर्मणा ॥ ११ ॥

वे बोले—'रघुनन्दन ! ये दो धनुष सबसे श्रेष्ठ और दिव्य थे । सारा संसार इन्हें सम्मानकी दृष्टिसे देखता था । साक्षात् विश्वकर्माने इन्हें बनाया था । ये बड़े प्रबल और दृढ़ थे ॥ ११ ॥

अनुसृष्टं सुरैरेकं त्र्यम्बकाय युयुत्सवे ।
त्रिपुरघ्नं नरश्रेष्ठ भग्नं काकुत्स्थ यत्त्वया ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ ! इनमेंसे एकको देवताओंने त्रिपुरासुरसे युद्ध करनेके लिये भगवान् शङ्करको दे दिया था । ककुत्स्थनन्दन !

जिससे त्रिपुरका नाश हुआ था, वह वही धनुष था; जिसे तुमने तोड़ डाला है ॥ १२ ॥

इदं द्वितीयं दुर्धर्षं विष्णोर्दत्तं सुरोत्तमैः ।
तदिदं वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ १३ ॥

'और दूसरा दुर्धर्ष धनुष यह है, जो मेरे हाथमें है। इसे श्रेष्ठ देवताओंने भगवान् विष्णुको दिया था। श्रीराम! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाला वही यह वैष्णव धनुष है ॥ १३ ॥

समानसारं काकुत्स्थ रौद्रेण धनुषा त्विदम् ।
तदा तु देवताः सर्वाः पृच्छन्ति स्म पितामहम् ॥ १४ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च बलाबलनिरीक्षया ।

'ककुत्स्थनन्दन! यह भी शिवजीके धनुषके समान ही प्रबल है। उन दिनों समस्त देवताओंने भगवान् शिव और विष्णुके बलाबलकी परीक्षाके लिये पितामह ब्रह्माजीसे पूछा था कि 'इन दोनों देवताओंमें कौन अधिक बलशाली है' ॥

अभिप्रायं तु विज्ञाय देवतानां पितामहः ॥ १५ ॥
विरोधं जनयामास तयोः सत्यवतां वरः ।

'देवताओंके इस अभिप्रायको जानकर सत्यवादियोंमें श्रेष्ठ पितामह ब्रह्माजीने उन दोनों देवताओं (शिव और विष्णु) में विरोध उत्पन्न कर दिया ॥ १५½ ॥

विरोधे तु महद् युद्धमभवद् रोमहर्षणम् ॥ १६ ॥
शितिकण्ठस्य विष्णोश्च परस्परजयैषिणोः ।

'विरोध पैदा होनेपर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छावाले शिव और विष्णुमें बड़ा भारी युद्ध हुआ, जो रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ १६½ ॥

तदा तु जृम्भितं शैवं धनुर्भीमपराक्रमम् ॥ १७ ॥
हुंकारेण महादेवः स्तम्भितोऽथ त्रिलोचनः ।

'उस समय भगवान् विष्णुने हुङ्कारमात्रसे शिवजीके भयंकर बलशाली धनुषको शिथिल तथा त्रिनेत्रधारी महादेवजीको भी स्तम्भित कर दिया ॥ १७½ ॥

देवैस्तदा समागम्य सर्षिसङ्घैः सचारणैः ॥ १८ ॥
याचितौ प्रशमं तत्र जग्मतुस्तौ सुरोत्तमौ ।

'तब ऋषिसमूहों तथा चारणोंसहित देवताओंने आकर उन दोनों श्रेष्ठ देवताओंसे शान्तिके लिये याचना की; फिर वे दोनों वहाँ शान्त हो गये ॥ १८½ ॥

जृम्भितं तद् धनुर्दृष्ट्वा शैवं विष्णुपराक्रमैः ॥ १९ ॥
अधिकं मेनिरे विष्णुं देवाः सर्षिगणास्तथा ।

'भगवान् विष्णुके पराक्रमसे शिवजीके उस धनुषको शिथिल हुआ देख ऋषियोंसहित देवताओंने भगवान् विष्णुको श्रेष्ठ माना ॥ १९½ ॥

धनू रुद्रस्तु संक्रुद्धो विदेहेषु महायशाः ॥ २० ॥
देवरातस्य राजर्षेर्ददौ हस्ते ससायकम् ।

'तदनन्तर कुपित हुए महायशस्वी रुद्रने बाणसहित अपना धनुष विदेहदेशके राजर्षि देवरातके हाथमें दे दिया ॥

इदं च वैष्णवं राम धनुः परपुरंजयम् ॥ २१ ॥
ऋचीके भार्गवे प्रादाद् विष्णुः स न्यासमुत्तमम् ।

'श्रीराम! शत्रुनगरीपर विजय पानेवाले इस वैष्णव-धनुषको भगवान् विष्णुने भृगुवंशी ऋचीकमुनिको उत्तम धरोहरके रूपमें दिया था ॥ २१½ ॥

ऋचीकस्तु महातेजाः पुत्रस्याप्रतिकर्मणः ॥ २२ ॥
पितुर्मम ददौ दिव्यं जमदग्नेर्महात्मनः ।

'फिर महातेजस्वी ऋचीकने प्रतीकार (प्रतिशोध) की भावनासे रहित अपने पुत्र एवं मेरे पिता महात्मा जमदग्निके अधिकारमें यह दिव्य धनुष दे दिया ॥ २२½ ॥

न्यस्तशस्त्रे पितरि मे तपोबलसमन्विते ॥ २३ ॥
अर्जुनो विदधे मृत्युं प्राकृतां बुद्धिमास्थितः ।

'तपोबलसे सम्पन्न मेरे पिता जमदग्नि अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके जब ध्यानस्थ होकर बैठे थे, उस समय प्राकृत बुद्धिका आश्रय लेनेवाले कृतवीर्यकुमार अर्जुनने उनको मार डाला ॥ २३½ ॥

वधमप्रतिरूपं तु पितुः श्रुत्वा सुदारुणम् ।
क्षत्रमुत्सादयं रोषाज्जातं जातमनेकशः ॥ २४ ॥

'पिताके इस अत्यन्त भयंकर वधका, जो उनके योग्य नहीं था, समाचार सुनकर मैंने रोषपूर्वक बारंबार उत्पन्न हुए क्षत्रियोंका अनेक बार संहार किया ॥ २४ ॥

पृथिवीं चाखिलां प्राप्य कश्यपाय महात्मने ।
यज्ञस्यान्तेऽददं राम दक्षिणां पुण्यकर्मणे ॥ २५ ॥

'श्रीराम! फिर सारी पृथ्वीपर अधिकार करके मैंने एक यज्ञ किया और उस यज्ञके समाप्त होनेपर पुण्यकर्मा महात्मा कश्यपको दक्षिणारूपसे यह सारी पृथ्वी दे डाली ॥ २५ ॥

दत्त्वा महेन्द्रनिलयस्तपोबलसमन्वितः ।
श्रुत्वा तु धनुषो भेदं ततोऽहं द्रुतमागतः ॥ २६ ॥

'पृथ्वीका दान करके मैं महेन्द्रपर्वतपर रहने लगा और वहाँ तपस्या करके तपोबलसे सम्पन्न हुआ। वहाँसे शिवजीके धनुषके तोड़े जानेका समाचार सुनकर मैं शीघ्रतापूर्वक यहाँ आया हूँ ॥ २६ ॥

तदेवं वैष्णवं राम पितृपैतामहं महत् ।
क्षत्रधर्मं पुरस्कृत्य गृह्णीष्व धनुरुत्तमम् ॥ २७ ॥
योजयस्व धनुःश्रेष्ठे शरं परपुरंजयम् ।
यदि शक्तोऽसि काकुत्स्थ द्वन्द्वं दास्यामि ते ततः ॥ २८ ॥

'श्रीराम! इस प्रकार वह महान् वैष्णवधनुष मेरे पिता-पितामहोंके अधिकारमें रहता चला आया है; अब तुम क्षत्रियधर्मको

सामने रखकर यह उत्तम धनुष हाथमें लो और इस श्रेष्ठ धनुषपर एक ऐसा बाण चढ़ाओ, जो शत्रुनगरीपर विजय पानेमें समर्थ हो; यदि तुम ऐसा कर सके तो मैं तुम्हें द्वन्द्व-युद्धका अवसर दूँगा ॥ २७-२८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे पञ्चसप्ततितमः सर्गः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें पचहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमः सर्गः

श्रीरामका वैष्णव-धनुषको चढ़ाकर अमोघ बाणके द्वारा परशुरामके तपःप्राप्त पुण्यलोकोंका नाश करना तथा परशुरामका महेन्द्रपर्वतको लौट जाना

श्रुत्वा तु जामदग्न्यस्य वाक्यं दाशरथिस्तदा ।
गौरवाद्यन्त्रितकथः पितू राममथाब्रवीत् ॥ १ ॥

दशरथनन्दन श्रीरामचन्द्रजी अपने पिताके गौरवका ध्यान रखकर संकोचवश वहाँ कुछ बोल नहीं रहे थे, परंतु जमदग्निकुमार परशुरामजीकी उपर्युक्त बात सुनकर उस समय वे मौन न रह सके । उन्होंने परशुरामजीसे कहा—॥ १ ॥

कृतवानसि यत् कर्म श्रुतवानस्मि भार्गव ।
अनुरुध्यामहे ब्रह्मन् पितुरानृण्यमास्थितः ॥ २ ॥

'भृगुनन्दन ! ब्रह्मन् ! आपने पिताके ऋणसे उऋण होनेकी—पिताके मारनेवालेका वध करके वैरका बदला चुकानेकी भावना लेकर जो क्षत्रिय-संहाररूपी कर्म किया है, उसे मैंने सुना है और हमलोग आपके उस कर्मका अनुमोदन भी करते हैं (क्योंकि वीर पुरुष वैरका प्रतिशोध लेते ही हैं) ॥ २ ॥

वीर्यहीनमिवाशक्तं क्षत्रधर्मेण भार्गव ।
अवजानासि मे तेजः पश्य मेऽद्य पराक्रमम् ॥ ३ ॥

'भार्गव ! मैं क्षत्रियधर्मसे युक्त हूँ (इसीलिये आप ब्राह्मण-देवताके समक्ष विनीत रहकर कुछ बोल नहीं रहा हूँ) तो भी आप मुझे पराक्रमहीन और असमर्थ-सा मानकर मेरा तिरस्कार कर रहे हैं । अच्छा, अब मेरा तेज और पराक्रम देखिये' ॥ ३ ॥

इत्युक्त्वा राघवः क्रुद्धो भार्गवस्य वरायुधम् ।
शरं च प्रतिजग्राह हस्ताल्लघुपराक्रमः ॥ ४ ॥

ऐसा कहकर शीघ्र पराक्रम करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने कुपित हो परशुरामजीके हाथसे वह उत्तम धनुष और बाण ले लिया (साथ ही उनसे अपनी वैष्णवी शक्तिको भी वापस ले लिया) ॥ ४ ॥

आरोप्य स धनू रामः शरं सज्यं चकार ह ।
जामदग्न्यं ततो रामं रामः क्रुद्धोऽब्रवीदिदम् ॥ ५ ॥

उस धनुषको चढ़ाकर श्रीरामने उसकी प्रत्यञ्चापर बाण रक्खा, फिर कुपित होकर उन्होंने जमदग्निकुमार परशुरामजीसे इस प्रकार कहा—॥ ५ ॥

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेन च ।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम् ॥ ६ ॥

'(भृगुनन्दन) राम ! आप ब्राह्मण होनेके नाते मेरे पूज्य हैं तथा विश्वामित्रजीके साथ भी आपका सम्बन्ध है—इन सब कारणोंसे मैं इस प्राण-संहारक बाणको आपके शरीरपर नहीं छोड़ सकता ॥ ६ ॥

इमां वा त्वद्गतिं राम तपोबलसमर्जितान् ।
लोकानप्रतिमान् वापि हनिष्यामीति मे मतिः ॥ ७ ॥
न ह्ययं वैष्णवो दिव्यः शरः परपुरंजयः ।
मोघः पतति वीर्येण बलदर्पविनाशनः ॥ ८ ॥

'राम ! मेरा विचार है कि आपको जो सर्वत्र शीघ्रतापूर्वक आने-जानेकी शक्ति प्राप्त हुई है, उसे अथवा आपने अपने तपोबलसे जिन अनुपम पुण्यलोकोंको प्राप्त किया है उन्हींको नष्ट कर डालूँ; क्योंकि अपने पराक्रमसे विपक्षीके बलके घमंडको चूर कर देनेवाला यह दिव्य वैष्णव बाण, जो शत्रुओंकी नगरीपर विजय दिलानेवाला है, कभी निष्फल नहीं जाता है' ॥ ७-८ ॥

वरायुधधरं रामं द्रष्टुं सर्षिगणाः सुराः ।
पितामहं पुरस्कृत्य समेतास्तत्र सर्वशः ॥ ९ ॥

उस समय उस उत्तम धनुष और बाणको धारण करके खड़े हुए श्रीरामचन्द्रजीको देखनेके लिये सम्पूर्ण देवता और ऋषि ब्रह्माजीको आगे करके वहाँ एकत्र हो गये ॥ ९ ॥

गन्धर्वाप्सरसश्चैव सिद्धचारणकिन्नराः ।
यक्षराक्षसनागाश्च तद् द्रष्टुं महदद्भुतम् ॥ १० ॥

गन्धर्व, अप्सराएँ, सिद्ध, चारण, किन्नर, यक्ष, राक्षस और नाग भी उस अत्यन्त अद्भुत दृश्यको देखनेके लिये वहाँ आ पहुँचे ॥ १० ॥

जडीकृते तदा लोके रामे वरधनुर्धरे ।
निर्वीर्यो जामदग्न्योऽसौ रामो राममुदैक्षत ॥ ११ ॥

जब श्रीरामचन्द्रजीने वह श्रेष्ठ धनुष हाथमें ले लिया, उस समय सब लोग आश्चर्यसे जडवत् हो गये । (परशुरामजीका वैष्णव तेज निकलकर श्रीरामचन्द्रजीमें मिल गया । इसलिये) वीर्यहीन हुए जमदग्निकुमार रामने दशरथनन्दन श्रीरामकी ओर देखा ॥ ११ ॥

तेजोभिर्गतवीर्यत्वाज्जामदग्न्यो जडीकृतः ।
रामं कमलपत्राक्षं मन्दं मन्दमुवाच ह ॥ १२ ॥

तेज निकल जानेसे वीर्यहीन हो जानेके कारण जडवत् बने हुए जमदग्निकुमार परशुरामने कमलनयन श्रीरामसे धीरे-धीरे कहा—॥ १२ ॥

काश्यपाय मया दत्ता यदा पूर्वं वसुंधरा।
विषये मे न वस्तव्यमिति मां काश्यपोऽब्रवीत्॥ १३॥

'रघुनन्दन! पूर्वकालमें मैंने कश्यपजीको जब यह पृथिवी दान की थी, तब उन्होंने मुझसे कहा था कि 'तुम्हें मेरे राज्यमें नहीं रहना चाहिये'॥ १३॥

सोऽहं गुरुवचः कुर्वन् पृथिव्यां न वसे निशाम्।
तदाप्रभृति काकुत्स्थ कृता मे काश्यपस्य ह॥ १४॥

'ककुत्स्थकुलनन्दन! तभीसे अपने गुरु कश्यपजीकी इस आज्ञाका पालन करता हुआ मैं कभी रातमें पृथिवीपर नहीं निवास करता हूँ; क्योंकि यह बात सर्वविदित है कि मैंने कश्यपके सामने रातको पृथिवीपर न रहनेकी प्रतिज्ञा कर रखी है॥ १४॥

तामिमां मद्गतिं वीर हन्तुं नार्हसि राघव।
मनोजवं गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ १५॥

'इसलिये वीर राघव! आप मेरी इस गमनशक्तिको नष्ट न करें। मैं मनके समान वेगसे अभी महेन्द्र नामक श्रेष्ठ पर्वतपर चला जाऊँगा॥ १५॥

लोकास्त्वप्रतिमा राम निर्जितास्तपसा मया।
जहि ताञ्छरमुख्येन मा भूत् कालस्य पर्ययः॥ १६॥

'परंतु श्रीराम! मैंने अपनी तपस्यासे जिन अनुपम लोकोंपर विजय पायी है, उन्हींको आप इस श्रेष्ठ बाणसे नष्ट कर दें; अब इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये॥ १६॥

अक्षय्यं मधुहन्तारं जानामि त्वां सुरेश्वरम्।
धनुषोऽस्य परामर्शात् स्वस्ति तेऽस्तु परंतप॥ १७॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर! आपने जो इस धनुषको चढ़ा दिया, इससे मुझे निश्चितरूपसे ज्ञात हो गया कि आप मधु दैत्यको मारनेवाले अविनाशी देवेश्वर विष्णु हैं। आपका कल्याण हो॥ १७॥

एते सुरगणाः सर्वे निरीक्षन्ते समागताः।
त्वामप्रतिमकर्माणमप्रतिद्वन्द्वमाहवे॥ १८॥

'ये सब देवता एकत्र होकर आपकी ओर देख रहे हैं। आपके कर्म अनुपम हैं; युद्धमें आपका सामना करनेवाला दूसरा कोई नहीं है॥ १८॥

न चेयं तव काकुत्स्थ व्रीडा भवितुमर्हति।
त्वया त्रैलोक्यनाथेन यदहं विमुखीकृतः॥ १९॥

'ककुत्स्थकुलभूषण! आपके सामने जो मेरी असमर्थता प्रकट हुई—यह मेरे लिये लज्जाजनक नहीं हो सकती; क्योंकि आप त्रिलोकीनाथ श्रीहरिने मुझे पराजित किया है॥

शरमप्रतिमं राम मोक्तुमर्हसि सुव्रत।
शरमोक्षे गमिष्यामि महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ २०॥

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले श्रीराम! अब आप अपना अनुपम बाण छोड़िये; इसके छूटनेके बाद ही मैं श्रेष्ठ महेन्द्र पर्वतपर जाऊँगा'॥ २०॥

तथा ब्रुवति रामे तु जामदग्न्ये प्रतापवान्।
रामो दाशरथिः श्रीमांश्चिक्षेप शरमुत्तमम्॥ २१॥

जमदग्निनन्दन परशुरामजीके ऐसा कहनेपर प्रतापी दशरथनन्दन श्रीमान् रामचन्द्रजीने वह उत्तम बाण छोड़ दिया॥ २१॥

स हतान् दृश्य रामेण स्वाँल्लोकांस्तपसार्जितान्।
जामदग्न्यो जगामाशु महेन्द्रं पर्वतोत्तमम्॥ २२॥

अपनी तपस्याद्वारा उपार्जित किये हुए पुण्यलोकोंको श्रीरामचन्द्रजीके चलाये हुए उस बाणसे नष्ट हुआ देखकर परशुरामजी शीघ्र ही उत्तम महेन्द्र पर्वतपर चले गये॥२२॥

ततो वितिमिराः सर्वा दिशश्चोपदिशस्तथा।
सुराः सर्षिगणा रामं प्रशशंसुरुदायुधम्॥ २३॥

उनके जाते ही समस्त दिशाओं तथा उपदिशाओंका अन्धकार दूर हो गया। उस समय ऋषियोंसहित देवता उत्तम आयुधधारी श्रीरामकी भूरि-भूरि प्रशंसा करने लगे॥२३॥

रामं दाशरथिं रामो जामदग्न्यः प्रपूजितः।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य जगामात्मगतिं प्रभुः॥ २४॥

तदनन्तर दशरथनन्दन श्रीरामने जमदग्निकुमार परशुरामका पूजन किया। उनसे पूजित हो प्रभावशाली परशुराम दशरथकुमार रामकी परिक्रमा करके अपने स्थानको चले गये॥ २४॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे षट्सप्ततितमः सर्गः॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें छिहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ७६॥

सप्तसप्ततितमः सर्गः

राजा दशरथका पुत्रों और वधुओंके साथ अयोध्यामें प्रवेश, शत्रुघ्नसहित भरतका मामाके यहाँ जाना, श्रीरामके बर्तावसे सबका संतोष तथा सीता और श्रीरामका पारस्परिक प्रेम

गते रामे प्रशान्तात्मा रामो दाशरथिर्धनुः।
वरुणायाप्रमेयाय ददौ हस्ते महायशाः॥ १॥

जमदग्निकुमार परशुरामजीके चले जानेपर महायशस्वी दशरथनन्दन श्रीरामने शान्तचित्त होकर अपार

शक्तिशाली वरुणके हाथमें वह धनुष दे दिया ॥ १ ॥

अभिवाद्य ततो रामो वसिष्ठप्रमुखानृषीन् ।
पितरं विकलं दृष्ट्वा प्रोवाच रघुनन्दनः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् वसिष्ठ आदि ऋषियोंको प्रणाम करके रघुनन्दन श्रीरामने अपने पिताको विकल देखकर उनसे कहा—॥ २ ॥

जामदग्न्यो गतो रामः प्रयातु चतुरङ्गिणी ।
अयोध्याभिमुखी सेना त्वया नाथेन पालिता ॥ ३ ॥

'पिताजी ! जमदग्निकुमार परशुरामजी चले गये । अब आपके अधिनायकत्वमें सुरक्षित यह चतुरङ्गिणी सेना अयोध्याकी ओर प्रस्थान करे' ॥ ३ ॥

रामस्य वचनं श्रुत्वा राजा दशरथः सुतम् ।
बाहुभ्यां सम्परिष्वज्य मूर्ध्न्युपाघ्राय राघवम् ॥ ४ ॥
गतो राम इति श्रुत्वा हृष्टः प्रमुदितो नृपः ।
पुनर्जातं तदा मेने पुत्रमात्मानमेव च ॥ ५ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर राजा दशरथने अपने पुत्र रघुनाथजीको दोनों भुजाओंसे खींचकर छातीसे लगा लिया और उनका मस्तक सूँघा । 'परशुरामजी चले गये' यह सुनकर राजा दशरथको बड़ा हर्ष हुआ, वे आनन्दमग्न हो गये । उस समय उन्होंने अपना और अपने पुत्रका पुनर्जन्म हुआ माना ॥ ४-५ ॥

चोदयामास तां सेनां जगामाशु ततः पुरीम् ।
पताकाध्वजिनीं रम्यां तूर्योद्‌घुष्टनिनादिताम् ॥ ६ ॥

तदनन्तर उन्होंने सेनाको नगरकी ओर कूँच करनेकी आज्ञा दी और वहाँसे चलकर बड़ी शीघ्रताके साथ वे अयोध्यापुरीमें जा पहुँचे । उस समय उस पुरीमें सब ओर ध्वजा-पताकाएँ फहरा रही थीं । सजावटसे नगरकी रमणीयता बढ़ गयी थी और भाँति-भाँतिके वाद्योंकी ध्वनिसे सारी अयोध्या गूँज उठी थी ॥ ६ ॥

सिक्तराजपथारम्यां प्रकीर्णकुसुमोत्कराम् ।
राजप्रवेशसुमुखैः पौरैर्मङ्गलपाणिभिः ॥ ७ ॥
सम्पूर्णां प्राविशद् राजा जनौघैः समलंकृताम् ।
पौरैः प्रत्युद्गतो दूरं द्विजैश्च पुरवासिभिः ॥ ८ ॥

सड़कोंपर जलका छिड़काव हुआ था, जिससे पुरीकी सुरम्य शोभा बढ़ गयी थी । यत्र-तत्र ढेर-के-ढेर फूल बिखेरे गये थे । पुरवासी मनुष्य हाथोंमें माङ्गलिक वस्तुएँ लेकर राजाके प्रवेशमार्गपर प्रसन्नमुख होकर खड़े थे । इन सबसे भरी-पूरी तथा भारी जनसमुदायसे अलंकृत हुई अयोध्यापुरीमें राजाने प्रवेश किया । नागरिकों तथा पुरवासी ब्राह्मणोंने दूर-तक आगे जाकर महाराजकी अगवानी की थी ॥ ७-८ ॥

पुत्रैरनुगतः श्रीमाञ्श्रीमद्भिश्च महायशाः ।
प्रविवेश गृहं राजा हिमवत्सदृशं प्रियम् ॥ ९ ॥

अपने कान्तिमान् पुत्रोंके साथ महायशस्वी श्रीमान् राजा दशरथने अपने प्रिय राजभवनमें, जो हिमालयके समान सुन्दर एवं गगनचुम्बी था, प्रवेश किया ॥ ९ ॥

ननन्द स्वजनै राजा गृहे कामैः सुपूजितः ।
कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयी च सुमध्यमा ॥ १० ॥
वधूप्रतिग्रहे युक्ता याश्चान्या राजयोषितः ।

राजमहलमें स्वजनोंद्वारा मनोवाञ्छित वस्तुओंसे परम पूजित हो राजा दशरथने बड़े आनन्दका अनुभव किया । महारानी कौसल्या, सुमित्रा, सुन्दर कटिप्रदेशवाली कैकेयी तथा जो अन्य राजपत्नियाँ थीं, वे सब बहुओंको उतारनेके कार्यमें जुट गयीं ॥ १०½ ॥

ततः सीतां महाभागामूर्मिलां च यशस्विनीम् ॥ ११ ॥
कुशध्वजसुते चोभे जगृहुर्नृपयोषितः ।
मङ्गलालापनैर्होमैः शोभिताः क्षौमवाससः ॥ १२ ॥

तदनन्तर राजपरिवारकी उन स्त्रियोंने परम सौभाग्यवती सीता, यशस्विनी ऊर्मिला तथा कुशध्वजकी दोनों कन्याओं—माण्डवी और श्रुतकीर्तिको सवारीसे उतारा और मङ्गल गीत गाती हुई सब वधुओंको घरमें ले गयीं । वे प्रवेशकालिक होमकर्मसे सुशोभित तथा रेशमी साड़ियोंसे अलंकृत थीं ॥

देवतायतनान्याशु सर्वास्ताः प्रत्यपूजयन् ।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वा राजसुतास्तदा ॥ १३ ॥
रेमिरे मुदिताः सर्वा भर्तृभिर्मुदिता रहः ।

उन सबने देवमन्दिरोंमें ले जाकर उन बहुओंसे देवताओंका पूजन करवाया । तदनन्तर नववधूरूपमें आयी हुई उन सभी राजकुमारियोंने वन्दनीय सास-ससुर आदिके चरणोंमें प्रणाम किया और अपने-अपने पतिके साथ एकान्तमें रहकर वे सब-की-सब बड़े आनन्दसे समय व्यतीत करने लगीं ॥

कृतदाराः कृतास्त्राश्च सधनाः ससुहृज्जनाः ॥ १४ ॥
शुश्रूषमाणाः पितरं वर्तयन्ति नरर्षभाः ।
कस्यचित्त्वथ कालस्य राजा दशरथः सुतम् ॥ १५ ॥
भरतं कैकयीपुत्रमब्रवीद् रघुनन्दनः ।

श्रीराम आदि पुरुषश्रेष्ठ चारों भाई अस्त्रविद्यामें निपुण और विवाहित होकर धन और मित्रोंके साथ रहते हुए पिताकी सेवा करने लगे । कुछ कालके बाद रघुकुलनन्दन राजा दशरथने अपने पुत्र कैकेयीकुमार भरतसे कहा—॥ १४-१५½ ॥

अयं केकयराजस्य पुत्रो वसति पुत्रक ॥ १६ ॥
त्वां नेतुमागतो वीरो युधाजिन्मातुलस्तव ।

'बेटा ! ये तुम्हारे मामा केकयराजकुमार वीर युधाजित्

तुम्हें लेनेके लिये आये हैं और कई दिनोंसे यहाँ ठहरे हुए हैं' ॥ १६½ ॥

श्रुत्वा दशरथस्यैतद् भरतः कैकयीसुतः ॥ १७ ॥
गमनायाभिचक्राम शत्रुघ्नसहितस्तदा ।

दशरथजीकी यह बात सुनकर कैकेयीकुमार भरतने उस समय शत्रुघ्नके साथ मामाके यहाँ जानेका विचार किया ॥ १७½ ॥

आपृच्छ्य पितरं शूरो रामं चाक्लिष्टकारिणम् ॥ १८ ॥
मातॄश्चापि नरश्रेष्ठः शत्रुघ्नसहितो ययौ ।

वे नरश्रेष्ठ शूरवीर भरत अपने पिता राजा दशरथ, अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीराम तथा सभी माताओंसे पूछकर उनकी आज्ञा ले शत्रुघ्नसहित वहाँसे चल दिये ॥ १८½ ॥

युधाजित् प्राप्य भरतं सशत्रुघ्नं प्रहर्षितः ॥ १९ ॥
स्वपुरं प्राविशद् वीरः पिता तस्य तुतोष ह ।

शत्रुघ्नसहित भरतको साथ लेकर वीर युधाजित्ने बड़े हर्षके साथ अपने नगरमें प्रवेश किया, इससे उनके पिताको बड़ा संतोष हुआ ॥ १९½ ॥

गते च भरते रामो लक्ष्मणश्च महाबलः ॥ २० ॥
पितरं देवसंकाशं पूजयामासतुस्तदा ।

भरतके चले जानेपर महाबली श्रीराम और लक्ष्मण उन दिनों अपने देवोपम पिताकी सेवा-पूजामें संलग्न रहने लगे ॥

पितुराज्ञां पुरस्कृत्य पौरकार्याणि सर्वशः ॥ २१ ॥
चकार रामः सर्वाणि प्रियाणि च हितानि च ।

पिताकी आज्ञा शिरोधार्य करके वे नगरवासियोंके सब काम देखने तथा उनके समस्त प्रिय तथा हितकर कार्य करने लगे ॥ २१½ ॥

मातृभ्यो मातृकार्याणि कृत्वा परमयन्त्रितः ॥ २२ ॥
गुरूणां गुरुकार्याणि काले कालेऽन्ववैक्षत ।

वे अपनेको बड़े संयममें रखते थे और समय-समयपर माताओंके लिये उनके आवश्यक कार्य पूर्ण करके गुरुजनोंके भारी-से-भारी कार्योंको भी सिद्ध करनेका ध्यान रखते थे ॥

एवं दशरथः प्रीतो ब्राह्मणा नैगमास्तथा ॥ २३ ॥
रामस्य शीलवृत्तेन सर्वे विषयवासिनः ।

उनके इस बर्तावसे राजा दशरथ, वेदवेत्ता ब्राह्मण तथा वैश्यवर्ग बड़े प्रसन्न रहते थे; श्रीरामके उत्तम शील और सद्‌व्यवहारसे उस राज्यके भीतर निवास करनेवाले सभी मनुष्य बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ २३½ ॥

तेषामतियशा लोके रामः सत्यपराक्रमः ॥ २४ ॥
स्वयंभूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः ।

राजाके उन चारों पुत्रोंमें सत्यपराक्रमी श्रीराम ही लोकमें अत्यन्त यशस्वी तथा महान् गुणवान् हुए—ठीक उसी तरह जैसे समस्त भूतोंमें स्वयम्भू ब्रह्मा ही अत्यन्त यशस्वी और महान् गुणवान् हैं ॥ २४½ ॥

रामश्च सीतया सार्धं विजहार बहूनृतून् ॥ २५ ॥
मनस्वी तद्गतमनास्तस्या हृदि समर्पितः ।

श्रीरामचन्द्रजी सदा सीताके हृदयमन्दिरमें विराजमान रहते थे तथा मनस्वी श्रीरामका मन भी सीतामें ही लगा रहता था; श्रीरामने सीताके साथ अनेक ऋतुओंतक विहार किया ॥

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति ॥ २६ ॥
गुणाद्रूपगुणाच्चापि प्रीतिर्भूयोऽभिवर्धते ।
तस्याश्च भर्ता द्विगुणं हृदये परिवर्तते ॥ २७ ॥

सीता श्रीरामको बहुत ही प्रिय थीं; क्योंकि वे अपने पिता राजा जनकद्वारा श्रीरामके हाथमें पत्नीरूपसे समर्पित की गयी थीं। सीताके पातिव्रत्य आदि गुणसे तथा उनके सौन्दर्य-गुणसे भी श्रीरामका उनके प्रति अधिकाधिक प्रेम बढ़ता रहता था; इसी प्रकार सीताके हृदयमें भी उनके पति श्रीराम अपने गुण और सौन्दर्यके कारण द्विगुण प्रीतिपात्र बनकर रहते थे ॥ २६-२७ ॥

अन्तर्गतमपि व्यक्तमाख्याति हृदयं हृदा ।
तस्य भूयो विशेषेण मैथिली जनकात्मजा ।
देवताभिः समा रूपे सीता श्रीरिव रूपिणी ॥ २८ ॥

जनकनन्दिनी मिथिलेशकुमारी सीता श्रीरामके हार्दिक अभिप्रायको भी अपने हृदयसे ही और अधिकरूपसे जान लेती थीं तथा स्पष्टरूपसे बता भी देती थीं। वे रूपमें देवाङ्गनाओंके समान थीं और मूर्तिमती लक्ष्मी-सी प्रतीत होती थीं ॥ २८ ॥

तया स राजर्षिसुतोऽभिकामया
समेयिवानुत्तमराजकन्यया ।
अतीव रामः शुशुभे मुदान्वितो
विभुः श्रिया विष्णुरिवामरेश्वरः ॥ २९ ॥

श्रेष्ठ राजकुमारी सीता श्रीरामकी ही कामना रखती थीं और श्रीराम भी एकमात्र उन्हींको चाहते थे; जैसे लक्ष्मीके साथ देवेश्वर भगवान् विष्णुकी शोभा होती है, उसी प्रकार उन सीतादेवीके साथ राजर्षि दशरथकुमार श्रीराम परम प्रसन्न रहकर बड़ी शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये बालकाण्डे सप्तसप्ततितमः सर्गः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके बालकाण्डमें सतहत्तरवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

बालकाण्डं सम्पूर्णम्

श्रीसीतारामचन्द्राभ्यां नमः

श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम्

अयोध्याकाण्डम्

प्रथमः सर्गः

श्रीरामके सद्गुणोंका वर्णन, राजा दशरथका श्रीरामको युवराज बनानेका विचार तथा विभिन्न नरेशों और नगर एवं जनपदके लोगोंको मन्त्रणाके लिये अपने दरबारमें बुलाना

गच्छता मातुलकुलं भरतेन तदानघः।
शत्रुघ्नो नित्यशत्रुघ्नो नीतः प्रीतिपुरस्कृतः॥ १॥

(पहले यह बताया जा चुका है कि) भरत अपने मामाके यहाँ जाते समय काम आदि शत्रुओंको सदाके लिये नष्ट कर देनेवाले निष्पाप शत्रुघ्नको भी प्रेमवश अपने साथ लेते गये थे॥ १॥

स तत्र न्यवसद् भ्रात्रा सह सत्कारसत्कृतः।
मातुलेनाश्वपतिना पुत्रस्नेहेन लालितः॥ २॥

वहाँ भाईसहित उनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ और वे वहाँ सुखपूर्वक रहने लगे। उनके मामा युधाजित्, जो अश्वयूथके अधिपति थे, उन दोनोंपर पुत्रसे भी अधिक स्नेह रखते और बड़ा लाड़-प्यार करते थे॥ २॥

तत्रापि निवसन्तौ तौ तर्प्यमाणौ च कामतः।
भ्रातरौ स्मरतां वीरौ वृद्धं दशरथं नृपम्॥ ३॥

यद्यपि मामाके यहाँ उन दोनों वीर भाइयोंकी सभी इच्छाएँ पूर्ण करके उन्हें पूर्णतः तृप्त किया जाता था, तथापि वहाँ रहते हुए भी उन्हें अपने वृद्ध पिता महाराज दशरथकी याद कभी नहीं भूलती थी॥ ३॥

राजापि तौ महातेजाः सस्मार प्रोषितौ सुतौ।
उभौ भरतशत्रुघ्नौ महेन्द्रवरुणोपमौ॥ ४॥

महातेजस्वी राजा दशरथ भी परदेशमें गये हुए महेन्द्र और वरुणके समान पराक्रमी अपने उन दोनों पुत्र भरत और शत्रुघ्नका सदा स्मरण किया करते थे॥ ४॥

सर्व एव तु तस्येष्टाश्चत्वारः पुरुषर्षभाः।
स्वशरीराद् विनिर्वृत्ताश्चत्वार इव बाहवः॥ ५॥

अपने शरीरसे प्रकट हुई चारों भुजाओंके समान वे सब चारों ही पुरुषशिरोमणि पुत्र महाराजको बहुत ही प्रिय थे॥

तेषामपि महातेजा रामो रतिकरः पितुः।
स्वयम्भूरिव भूतानां बभूव गुणवत्तरः॥ ६॥

परंतु उनमें भी महातेजस्वी श्रीराम सबकी अपेक्षा अधिक गुणवान् होनेके कारण समस्त प्राणियोंके लिये ब्रह्माजीकी भाँति पिताके लिये विशेष प्रीतिवर्धक थे॥ ६॥

स हि देवैरुदीर्णस्य रावणस्य वधार्थिभिः।
अर्थितो मानुषे लोके जज्ञे विष्णुः सनातनः॥ ७॥

इसका एक कारण और भी था—वे साक्षात् सनातन विष्णु थे और परम प्रचण्ड रावणके वधकी अभिलाषा रखनेवाले देवताओंकी प्रार्थनापर मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए थे॥

कौसल्या शुशुभे तेन पुत्रेणामिततेजसा।
यथा वरेण देवानामदितिर्वज्रपाणिना॥ ८॥

उन अमित तेजस्वी पुत्र श्रीरामचन्द्रजीसे महारानी कौसल्याकी वैसी ही शोभा होती थी, जैसे वज्रधारी देवराज इन्द्रसे देवमाता अदिति सुशोभित होती हैं॥ ८॥

स हि रूपोपपन्नश्च वीर्यवाननसूयकः।
भूमावनुपमः सूनुर्गुणैर्दशरथोपमः॥ ९॥

श्रीराम बड़े ही रूपवान् और पराक्रमी थे। वे किसीके दोष नहीं देखते थे। भूमण्डलमें उनकी समता करनेवाला कोई नहीं था। वे अपने गुणोंसे पिता दशरथके समान एवं योग्य पुत्र थे॥ ९॥

स च नित्यं प्रशान्तात्मा मृदुपूर्वं च भाषते।
उच्यमानोऽपि परुषं नोत्तरं प्रतिपद्यते॥ १०॥

वे सदा शान्त-चित्त रहते और सान्त्वनापूर्वक मीठे वचन बोलते थे; यदि उनसे कोई कठोर बात भी कह देता तो वे उसका उत्तर नहीं देते थे॥ १०॥

कदाचिदुपकारेण कृतेनैकेन तुष्यति।
न स्मरत्यपकाराणां शतमप्यात्मवत्तया॥ ११॥

कभी कोई एक बार भी उपकार कर देता तो वे उसके उस एक ही उपकारसे सदा संतुष्ट रहते थे और मनको वशमें रखनेके कारण किसीके सैकड़ों अपराध करनेपर भी उसके अपराधोंको याद नहीं रखते थे॥ ११॥

शीलवृद्धैर्ज्ञानवृद्धैर्वयोवृद्धैश्च सज्जनैः।
कथयन्नास्त वै नित्यमस्त्रयोग्यान्तरेष्वपि ॥ १२ ॥

अस्त्र-शस्त्रोंके अभ्यासके लिये उपयुक्त समयमें भी बीच-बीचमें अवसर निकालकर वे उत्तम चरित्रमें, ज्ञानमें तथा अवस्थामें बढ़े-चढ़े सत्पुरुषोंके साथ ही सदा बातचीत करते (और उनसे शिक्षा लेते थे) ॥ १२ ॥

बुद्धिमान् मधुराभाषी पूर्वभाषी प्रियंवदः।
वीर्यवान्न च वीर्येण महता स्वेन विस्मितः ॥ १३ ॥

वे बड़े बुद्धिमान् थे और सदा मीठे वचन बोलते थे। अपने पास आये हुए मनुष्योंसे पहले स्वयं ही बात करते और ऐसी बातें मुँहसे निकालते जो उन्हें प्रिय लगें; बल और पराक्रमसे सम्पन्न होनेपर भी अपने महान् पराक्रमके कारण उन्हें कभी गर्व नहीं होता था ॥ १३ ॥

न चानृतकथो विद्वान् वृद्धानां प्रतिपूजकः।
अनुरक्तः प्रजाभिश्च प्रजाश्चाप्यनुरज्यते ॥ १४ ॥

झूठी बात तो उनके मुखसे कभी निकलती ही नहीं थी। वे विद्वान् थे और सदा वृद्ध पुरुषोंका सम्मान किया करते थे। प्रजाका श्रीरामके प्रति और श्रीरामका प्रजाके प्रति बड़ा अनुराग था ॥ १४ ॥

सानुक्रोशो जितक्रोधो ब्राह्मणप्रतिपूजकः।
दीनानुकम्पी धर्मज्ञो नित्यं प्रग्रहवाञ्छुचिः ॥ १५ ॥

वे परम दयालु क्रोधको जीतनेवाले और ब्राह्मणोंके पुजारी थे। उनके मनमें दीन-दुखियोंके प्रति बड़ी दया थी। वे धर्मके रहस्यको जाननेवाले, इन्द्रियोंको सदा वशमें रखनेवाले और बाहर-भीतरसे परम पवित्र थे ॥ १५ ॥

कुलोचितमतिः क्षात्रं स्वधर्मं बहु मन्यते।
मन्यते परया प्रीत्या महत् स्वर्गफलं ततः ॥ १६ ॥

अपने कुलोचित आचार, दया, उदारता और शरणागत-रक्षा आदिमें ही उनका मन लगता था। वे अपने क्षत्रिय-धर्मको अधिक महत्त्व देते और मानते थे। वे उस क्षत्रिय-धर्मके पालनसे महान् स्वर्ग (परम धाम) की प्राप्ति मानते थे; अतः बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें संलग्न रहते थे ॥ १६ ॥

नाश्रेयसि रतो यश्च न विरुद्धकथारुचिः।
उत्तरोत्तरयुक्तीनां वक्ता वाचस्पतिर्यथा ॥ १७ ॥

अमङ्गलकारी निषिद्ध कर्ममें उनकी कभी प्रवृत्ति नहीं होती थी; शास्त्रविरुद्ध बातोंको सुननेमें उनकी रुचि नहीं थी; वे अपने न्याययुक्त पक्षके समर्थनमें बृहस्पतिके समान एक-से-एक बढ़कर युक्तियाँ देते थे ॥ १७ ॥

अरोगस्तरुणो वाग्मी वपुष्मान् देशकालवित्।
लोके पुरुषसारज्ञः साधुरेको विनिर्मितः ॥ १८ ॥

उनका शरीर नीरोग था और अवस्था तरुण। वे अच्छे वक्ता, सुन्दर शरीरसे सुशोभित तथा देश-कालके तत्त्वको समझनेवाले थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था कि विधाताने संसारमें समस्त पुरुषोंके सारतत्त्वको समझनेवाले साधु पुरुषके रूपमें एकमात्र श्रीरामको ही प्रकट किया है ॥

स तु श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः।
बहिश्चर इव प्राणो बभूव गुणतः प्रियः ॥ १९ ॥

राजकुमार श्रीराम श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त थे। वे अपने सद्गुणोंके कारण प्रजाजनोंको बाहर विचरनेवाले प्राणकी भाँति प्रिय थे॥

सर्वविद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित्।
इष्वस्त्रे च पितुः श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः ॥ २० ॥

भरतके बड़े भाई श्रीराम सम्पूर्ण विद्याओंके व्रतमें निष्णात और छहों अङ्गोंसहित सम्पूर्ण वेदोंके यथार्थ ज्ञाता थे। बाणविद्यामें तो वे अपने पितासे भी बढ़कर थे ॥ २० ॥

कल्याणाभिजनः साधुरदीनः सत्यवागृजुः।
वृद्धैरभिविनीतश्च द्विजैर्धर्मार्थदर्शिभिः ॥ २१ ॥

वे कल्याणकी जन्मभूमि, साधु, दैन्यरहित, सत्यवादी और सरल थे; धर्म और अर्थके ज्ञाता वृद्ध ब्राह्मणोंके द्वारा उन्हें उत्तम शिक्षा प्राप्त हुई थी ॥ २१ ॥

धर्मकामार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान्।
लौकिके समयाचारे कृतकल्पो विशारदः ॥ २२ ॥

उन्हें धर्म, काम और अर्थके तत्त्वका सम्यक् ज्ञान था। वे स्मरणशक्तिसे सम्पन्न और प्रतिभाशाली थे। वे लोकव्यवहारके सम्पादनमें समर्थ और समयोचित धर्माचरणमें कुशल थे ॥

निभृतः संवृताकारो गुप्तमन्त्रः सहायवान्।
अमोघक्रोधहर्षश्च त्यागसंयमकालवित् ॥ २३ ॥

वे विनयशील, अपने आकार (अभिप्राय) को छिपानेवाले, मन्त्रको गुप्त रखनेवाले और उत्तम सहायकोंसे सम्पन्न थे। उनका क्रोध अथवा हर्ष निष्फल नहीं होता था। वे वस्तुओंके त्याग और संग्रहके अवसरको भलीभाँति जानते थे॥

दृढभक्तिः स्थिरप्रज्ञो नासद्ग्राही न दुर्वचः।
निस्तन्द्रीरप्रमत्तश्च स्वदोषपरदोषवित् ॥ २४ ॥

गुरुजनोंके प्रति उनकी दृढ़ भक्ति थी। वे स्थितप्रज्ञ थे और असद्वस्तुओंको कभी ग्रहण नहीं करते थे। उनके मुखसे कभी दुर्वचन नहीं निकलता था। वे आलस्यरहित, प्रमादशून्य तथा अपने और पराये मनुष्योंके दोषोंको अच्छी प्रकार जाननेवाले थे ॥ २४ ॥

शास्त्रज्ञश्च कृतज्ञश्च पुरुषान्तरकोविदः।
यः प्रग्रहानुग्रहयोर्यथान्यायं विचक्षणः ॥ २५ ॥

वे शास्त्रोंके ज्ञाता, उपकारियोंके प्रति कृतज्ञ तथा पुरुषोंके तारतम्यको अथवा दूसरे पुरुषोंके मनोभावको जाननेमें कुशल थे। यथायोग्य निग्रह और अनुग्रह करनेमें वे पूर्ण चतुर थे ॥

सत्संग्रहानुग्रहणे स्थानविन्निग्रहस्य च ।
आयकर्मण्युपायज्ञः संदृष्टव्ययकर्मवित् ॥ २६ ॥

उन्हें सत्पुरुषोंके संग्रह और पालन तथा दुष्ट पुरुषोंके निग्रहके अवसरोंका ठीक-ठीक ज्ञान था । धनकी आयके उपायोंको वे अच्छी तरह जानते थे (अर्थात् फूलोंको नष्ट न करके उनसे रस लेनेवाले भ्रमरोंकी भाँति वे प्रजाओंको कष्ट दिये बिना ही उनसे न्यायोचित धनका उपार्जन करनेमें कुशल थे) तथा शास्त्रवर्णित व्यय कर्मका भी उन्हें ठीक-ठीक ज्ञान था* ॥ २६ ॥

श्रैष्ठ्यं शास्त्रसमूहेषु प्राप्तो व्यामिश्रकेषु च ।
अर्थधर्मौ च संगृह्य सुखतन्त्रो न चालसः ॥ २७ ॥

उन्होंने सब प्रकारके अस्त्रसमूहों तथा संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओंसे मिश्रित नाटक आदिके ज्ञानमें निपुणता प्राप्त की थी । वे अर्थ और धर्मका संग्रह (पालन) करते हुए तदनुकूल कामका सेवन करते थे और कभी आलस्यको पास नहीं फटकने देते थे ॥ २७ ॥

वैहारिकाणां शिल्पानां विज्ञातार्थविभागवित् ।
आरोहे विनये चैव युक्तो वारणवाजिनाम् ॥ २८ ॥

विहार (क्रीडा या मनोरञ्जन) के उपयोगमें आनेवाले संगीत, वाद्य और चित्रकारी आदि शिल्पोंके भी वे विशेषज्ञ थे । अर्थोंके विभाजनका भी उन्हें सम्यक् ज्ञान था † । वे हाथियों और घोड़ोंपर चढ़ने और उन्हें भाँति-भाँतिकी चालोंकी शिक्षा देनेमें भी निपुण थे ॥ २८ ॥

धनुर्वेदविदां श्रेष्ठो लोकेऽतिरथसम्मतः ।
अभियाता प्रहर्ता च सेनानयविशारदः ॥ २९ ॥

श्रीरामचन्द्रजी इस लोकमें धनुर्वेदके सभी विद्वानोंमें श्रेष्ठ थे । अतिरथी वीर भी उनका विशेष सम्मान करते थे । शत्रुसेनापर आक्रमण और प्रहार करनेमें वे विशेष कुशल थे । सेना-संचालनकी नीतिमें उन्होंने अधिक निपुणता प्राप्त की थी ॥ २९ ॥

अप्रधृष्यश्च संग्रामे क्रुद्धैरपि सुरासुरैः ।
अनसूयो जितक्रोधो न दृप्तो न च मत्सरी ॥ ३० ॥

संग्राममें कुपित होकर आये हुए समस्त देवता और असुर भी उनको परास्त नहीं कर सकते थे । उनमें दोष-दृष्टिका सर्वथा अभाव था । वे क्रोधको जीत चुके थे । दर्प और ईर्ष्याका उनमें अत्यन्त अभाव था ॥ ३० ॥

नावज्ञेयश्च भूतानां न च कालवशानुगः ।
एवं श्रेष्ठैर्गुणैर्युक्तः प्रजानां पार्थिवात्मजः ॥ ३१ ॥
सम्मतस्त्रिषु लोकेषु वसुधायाः क्षमागुणैः ।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये चापि शचीपतेः ॥ ३२ ॥

किसी भी प्राणीके मनमें उनके प्रति अवहेलनाका भाव नहीं था । वे कालके वशमें होकर उसके पीछे-पीछे चलनेवाले नहीं थे (काल ही उनके पीछे चलता था) । इस प्रकार उत्तम गुणोंसे युक्त होनेके कारण राजकुमार श्रीराम समस्त प्रजाओं तथा तीनों लोकोंके प्राणियोंके लिये आदरणीय थे । वे अपने क्षमासम्बन्धी गुणोंके द्वारा पृथ्वीकी समानता करते थे । बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें शचीपति इन्द्रके तुल्य थे ॥ ३१-३२ ॥

तथा सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैः पितुः ।
गुणैर्विरुरुचे रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ३३ ॥

जैसे सूर्यदेव अपनी किरणोंसे प्रकाशित होते हैं । उसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी समस्त प्रजाओंको प्रिय लगनेवाले तथा पिताकी प्रीति बढ़ानेवाले सद्गुणोंसे सुशोभित होते थे ॥ ३३ ॥

तमेवंवृत्तसम्पन्नमप्रधृष्यपराक्रमम् ।
लोकनाथोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ३४ ॥

ऐसे सदाचारसम्पन्न, अजेय पराक्रमी और लोकपालोंके समान तेजस्वी श्रीरामचन्द्रजीको पृथ्वी (भूदेवी और भूमण्डल-की प्रजा) ने अपना स्वामी बनानेकी कामना की ॥ ३४ ॥

एतैस्तु बहुभिर्युक्तं गुणैरनुपमैः सुतम् ।
दृष्ट्वा दशरथो राजा चक्रे चिन्तां परंतपः ॥ ३५ ॥

अपने पुत्र श्रीरामको अनेक अनुपम गुणोंसे युक्त देखकर शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा दशरथने मन-ही-मन कुछ विचार करना आरम्भ किया ॥ ३५ ॥

अथ राज्ञो बभूवैव वृद्धस्य चिरजीविनः ।
प्रीतिरेषा कथं रामो राजा स्यान्मयि जीवति ॥ ३६ ॥

उन चिरञ्जीवी बूढ़े महाराज दशरथके हृदयमें यह चिन्ता हुई कि किस प्रकार मेरे जीते-जी श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँ और उनके राज्याभिषेकसे प्राप्त होनेवाली यह प्रसन्नता मुझे कैसे सुलभ हो ॥ ३६ ॥

---

* शास्त्रमें व्ययका विधान इस प्रकार देखा जाता है—

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ॥
(महा० सभा० ५ । ७१)

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है ?

† नीचे लिखी पाँच वस्तुओंके लिये अर्थका विभाजन करने-वाला मनुष्य इहलोक और परलोकमें भी सुखी होता है । वे वस्तुएँ हैं—धर्म, यश, अर्थ, आत्मा और स्वजन । यथा—

धर्माय यशसेऽर्थाय कामाय स्वजनाय च ।
पञ्चधा विभजन् वित्तमिहामुत्र च मोदते ॥
(श्रीमद्भा० ८ । १९ । ३७)

एष ह्यस्य परा प्रीतिर्हृदि सम्परिवर्तते।
कदा नाम सुतं द्रक्ष्याम्यभिषिक्तमहं प्रियम्॥ ३७॥

उनके हृदयमें यह उत्तम अभिलाषा बारंबार चक्कर लगाने लगी कि कब मैं अपने प्रिय पुत्र श्रीरामका राज्याभिषेक देखूँगा॥ ३७॥

वृद्धिकामो हि लोकस्य सर्वभूतानुकम्पकः।
मत्तः प्रियतरो लोके पर्जन्य इव वृष्टिमान्॥ ३८॥

वे सोचने लगे कि 'श्रीराम सब लोगोंके अभ्युदयकी कामना करते और सम्पूर्ण जीवोंपर दया रखते हैं। वे लोकमें वर्षा करनेवाले मेघकी भाँति मुझसे भी बढ़कर प्रिय हो गये हैं॥ ३८॥

यमशक्रसमो वीर्ये बृहस्पतिसमो मतौ।
महीधरसमो धृत्यां मत्तश्च गुणवत्तरः॥ ३९॥

'श्रीराम बल-पराक्रममें यम और इन्द्रके समान, बुद्धिमें बृहस्पतिके समान और धैर्यमें पर्वतके समान हैं। गुणोंमें तो वे मुझसे सर्वथा बढ़े-चढ़े हैं॥ ३९॥

महीमहमिमां कृत्स्नामधितिष्ठन्तमात्मजम्।
अनेन वयसा दृष्ट्वा यथा स्वर्गमवाप्नुयाम्॥ ४०॥

'मैं इसी उम्रमें अपने बेटे श्रीरामको इस सारी पृथ्वीका राज्य करते देख यथासमय सुखसे स्वर्ग प्राप्त करूँ, यही मेरे जीवनकी साध है'॥ ४०॥

इत्येवं विविधैस्तैस्तैरन्यपार्थिवदुर्लभैः।
शिष्टैरपरिमेयैश्च लोके लोकोत्तरैर्गुणैः॥ ४१॥
तं समीक्ष्य तदा राजा युक्तं समुदितैर्गुणैः।
निश्चित्य सचिवैः सार्धं यौवराज्यममन्यत॥ ४२॥

इस प्रकार विचारकर तथा अपने पुत्र श्रीरामको उन-उन नाना प्रकारके विलक्षण, सज्जनोचित, असंख्य तथा लोकोत्तर गुणोंसे, जो अन्य राजाओंमें दुर्लभ हैं, विभूषित देख राजा दशरथने मन्त्रियोंके साथ सलाह करके उन्हें युवराज बनानेका निश्चय कर लिया॥ ४१-४२॥

दिव्यन्तरिक्षे भूमौ च घोरमुत्पातजं भयम्।
संचचक्षेऽथ मेधावी शरीरे चात्मनो जराम्॥ ४३॥

बुद्धिमान् महाराज दशरथने मन्त्रीको स्वर्ग, अन्तरिक्ष तथा भूतलमें दृष्टिगोचर होनेवाले उत्पातोंका घोर भय सूचित किया और अपने शरीरमें वृद्धावस्थाके आगमनकी भी बात बतायी॥ ४३॥

पूर्णचन्द्राननस्याथ शोकापनुदमात्मनः।
लोके रामस्य बुबुधे सम्प्रियत्वं महात्मनः॥ ४४॥

पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर मुखवाले महात्मा श्रीराम समस्त प्रजाके प्रिय थे। लोकमें उनका सर्वप्रिय होना राजाके अपने आन्तरिक शोकको दूर करनेवाला था, इस बातको राजाने अच्छी तरह समझा॥ ४४॥

आत्मनश्च प्रजानां च श्रेयसे च प्रियेण च।
प्राप्ते काले स धर्मात्मा भक्त्या त्वरितवान् नृपः॥ ४५॥

तदनन्तर उपयुक्त समय आनेपर धर्मात्मा राजा दशरथने अपने और प्रजाके कल्याणके लिये मन्त्रियोंको श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये शीघ्र तैयारी करनेकी आज्ञा दी। इस उतावलीमें उनके हृदयका प्रेम और प्रजाका अनुराग भी कारण था॥ ४५॥

नानानगरवास्तव्यान् पृथग्जानपदानपि।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः॥ ४६॥

उन भूपालने भिन्न-भिन्न नगरोंमें निवास करनेवाले प्रधान-प्रधान पुरुषों तथा अन्य जनपदोंके सामन्त राजाओंको भी मन्त्रियोंद्वारा अयोध्यामें बुलवा लिया॥ ४६॥

तान् वेश्मनानाभरणैर्यथार्हं प्रतिपूजितान्।
ददर्शालंकृतो राजा प्रजापतिरिव प्रजाः॥ ४७॥

उन सबको ठहरनेके लिये घर देकर नाना प्रकारके आभूषणोंद्वारा उनका यथायोग्य सत्कार किया। तत्पश्चात् स्वयं भी अलंकृत होकर राजा दशरथ उन सबसे उसी प्रकार मिले, जैसे प्रजापति ब्रह्मा प्रजावर्गसे मिलते हैं॥ ४७॥

न तु केकयराजानं जनकं वा नराधिपः।
त्वरया चानयामास पश्चात्तौ श्रोष्यतः प्रियम्॥ ४८॥

जल्दीबाजीके कारण राजा दशरथने केकयनरेशको तथा मिथिलापति जनकको भी नहीं बुलवाया।* उन्होंने सोचा वे दोनों सम्बन्धी इस प्रिय समाचारको पीछे सुन लेंगे॥ ४८॥

अथोपविष्टे नृपतौ तस्मिन् परपुरार्दने।
ततः प्रविविशुः शेषा राजानो लोकसम्मताः॥ ४९॥

तदनन्तर शत्रुनगरीको पीड़ित करनेवाले राजा दशरथ जब दरबारमें आ बैठे, तब (केकयराज और जनकको छोड़कर) शेष सभी लोकप्रिय नरेशोंने राजसभामें प्रवेश किया॥ ४९॥

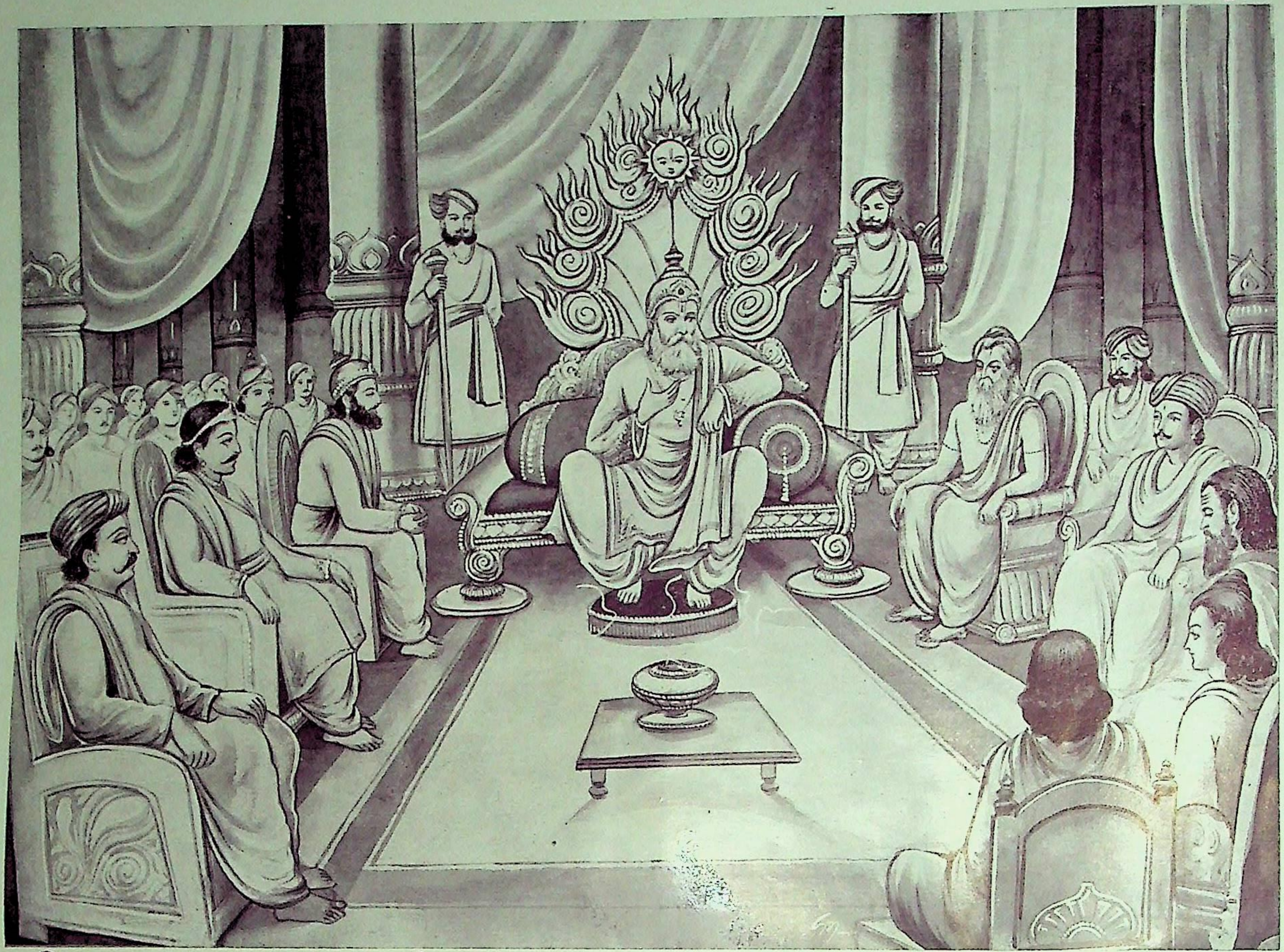
अथ राजवितीर्णेषु विविधेष्वासनेषु च।
राजानमेवाभिमुखा निषेदुर्नियता नृपाः॥ ५०॥

वे सभी नरेश राजाद्वारा दिये गये नाना प्रकारके सिंहासनोंपर उन्हींकी ओर मुँह करके विनीतभावसे बैठे थे॥

स लब्धमानैर्विनयान्वितैर्नृपैः
पुरालयैर्जानपदैश्च मानवैः।
उपोपविष्टैर्नृपतिर्वृतो बभौ
सहस्रचक्षुर्भगवानिवामरैः॥ ५१॥

राजासे सम्मानित होकर विनीतभावसे उन्हींके आस-पास

* केकयनरेशके साथ भरत-शत्रुघ्न भी आ जाते। इन सबके तथा राजा जनकके रहनेसे श्रीरामका राज्याभिषेक सम्पन्न हो जाता और वे वनमें नहीं जाने पाते—इसी डरसे देवताओंने राजा दशरथको इन सबको नहीं बुलानेकी बुद्धि दे दी।



महाराज दशरथकी राजसभा

बैठे हुए सामन्त नरेशों तथा नगर और जनपदके निवासी मनुष्योंसे घिरे हुए महाराज दशरथ उस समय देवताओंके बीचमें विराजमान सहस्रनेत्रधारी भगवान् इन्द्रके समान शोभा पा रहे थे ॥ ५१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे प्रथमः सर्गः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पहला सर्ग पूरा हुआ ॥ १ ॥

द्वितीयः सर्गः

राजा दशरथद्वारा श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रस्ताव तथा सभासदोंद्वारा श्रीरामके गुणोंका वर्णन करते हुए उक्त प्रस्तावका सहर्ष युक्तियुक्त समर्थन

ततः परिषदं सर्वामामन्त्र्य वसुधाधिपः।
हितमुद्धर्षणं चैवमुवाच प्रथितं वचः ॥ १ ॥
दुन्दुभिस्वरकल्पेन गम्भीरेणानुनादिना।
स्वरेण महता राजा जीमूत इव नादयन् ॥ २ ॥

उस समय राजसभामें बैठे हुए सब लोगोंको सम्बोधित करके महाराज दशरथने मेघके समान शब्द करते हुए दुन्दुभिकी ध्वनिके सदृश अत्यन्त गम्भीर एवं गूँजते हुए उच्चस्वरसे सबके आनन्दको बढ़ानेवाली यह हितकारक बात कही ॥ १-२ ॥

राजलक्षणयुक्तेन कान्तेनानुपमेन च।
उवाच रसयुक्तेन स्वरेण नृपतिर्नृपान् ॥ ३ ॥

राजा दशरथका स्वर राजोचित स्निग्धता और गम्भीरता आदि गुणोंसे युक्त था, अत्यन्त कमनीय और अनुपम था। वे उस अद्भुत रसमय स्वरसे समस्त नरेशोंको सम्बोधित करके बोले—॥ ३ ॥

विदितं भवतामेतद् यथा मे राज्यमुत्तमम्।
पूर्वकैर्मम राजेन्द्रैः सुतवत् परिपालितम् ॥ ४ ॥

'सज्जनो! आपलोगोंको यह तो विदित ही है कि मेरे पूर्वज राजाधिराजोंने इस श्रेष्ठ राज्यका (यहाँकी प्रजाका) किस प्रकार पुत्रकी भाँति पालन किया था ॥ ४ ॥

सोऽहमिक्ष्वाकुभिः सर्वैर्नरेन्द्रैः प्रतिपालितम्।
श्रेयसा योक्तुमिच्छामि सुखार्हमखिलं जगत् ॥ ५ ॥

'समस्त इक्ष्वाकुवंशी नरेशोंने जिसका प्रतिपालन किया है, उस सुख भोगनेके योग्य सम्पूर्ण जगत्‌को अब मैं भी कल्याणका भागी बनाना चाहता हूँ ॥ ५ ॥

मयाप्याचरितं पूर्वैः पन्थानमनुगच्छता।
प्रजा नित्यमनिद्रेण यथाशक्त्यभिरक्षिताः ॥ ६ ॥

'मेरे पूर्वज जिस मार्गपर चलते आये हैं, उसीका अनुसरण करते हुए मैंने भी सदा जागरूक रहकर समस्त प्रजाजनोंकी यथाशक्ति रक्षा की है ॥ ६ ॥

इदं शरीरं कृत्स्नस्य लोकस्य चरता हितम्।
पाण्डुरस्यातपत्रस्य च्छायायां जरितं मया ॥ ७ ॥

'समस्त संसारका हित-साधन करते हुए मैंने इस शरीरको श्वेत राजछत्रकी छायामें बूढ़ा किया है ॥ ७ ॥

प्राप्य वर्षसहस्राणि बहून्यायूंषि जीवतः।
जीर्णस्यास्य शरीरस्य विश्रान्तिमभिरोचये ॥ ८ ॥

'अनेक सहस्र (साठ हजार) वर्षोंकी आयु पाकर जीवित रहते हुए अपने इस जराजीर्ण शरीरको अब मैं विश्राम देना चाहता हूँ ॥ ८ ॥

राजप्रभावजुष्टां च दुर्वहामजितेन्द्रियैः।
परिश्रान्तोऽस्मि लोकस्य गुर्वीं धर्मधुरं वहन् ॥ ९ ॥

'जगत्‌के धर्मपूर्वक संरक्षणका भारी भार राजाओंके शौर्य आदि प्रभावोंसे ही उठाना सम्भव है। अजितेन्द्रिय पुरुषोंके लिये इस बोझको ढोना अत्यन्त कठिन है। मैं दीर्घकालसे इस भारी भारको वहन करते-करते थक गया हूँ ॥ ९ ॥

सोऽहं विश्राममिच्छामि पुत्रं कृत्वा प्रजाहिते।
संनिकृष्टानिमान् सर्वाननुमान्य द्विजर्षभान् ॥ १० ॥

'इसलिये यहाँ पास बैठे हुए इन सम्पूर्ण श्रेष्ठ द्विजोंकी अनुमति लेकर प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अपने पुत्र श्रीरामको नियुक्त करके अब मैं राजकार्यसे विश्राम लेना चाहता हूँ ॥

अनुजातो हि मां सर्वैर्गुणैः श्रेष्ठो ममात्मजः।
पुरन्दरसमो वीर्ये रामः परपुरंजयः ॥ ११ ॥

'मेरे पुत्र श्रीराम मेरी अपेक्षा सभी गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। शत्रुओंकी नगरीपर विजय पानेवाले श्रीरामचन्द्र बल-पराक्रममें देवराज इन्द्रके समान हैं ॥ ११ ॥

तं चन्द्रमिव पुष्येण युक्तं धर्मभृतां वरम्।
यौवराज्ये नियोक्तास्मि प्रातः पुरुषपुङ्गवम् ॥ १२ ॥

'पुष्य-नक्षत्रसे युक्त चन्द्रमाकी भाँति समस्त कार्योंके साधनमें कुशल तथा धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उन पुरुषशिरोमणि श्रीरामचन्द्रको मैं कल प्रातःकाल पुष्यनक्षत्रमें युवराजके पदपर नियुक्त करूँगा ॥ १२ ॥

अनुरूपः स वो नाथो लक्ष्मीवाँल्लक्ष्मणाग्रजः।
त्रैलोक्यमपि नाथेन येन स्यान्नाथवत्तरम् ॥ १३ ॥

'लक्ष्मणके बड़े भाई श्रीमान् राम आपलोगोंके लिये योग्य स्वामी सिद्ध होंगे; उनके-जैसे स्वामीसे सम्पूर्ण त्रिलोकी भी परम सनाथ हो सकती है ॥ १३ ॥

अनेन श्रेयसा सद्यः संयोक्ष्येऽहमिमां महीम्।
गतक्लेशो भविष्यामि सुते तस्मिन् निवेश्य वै ॥ १४ ॥

'ये श्रीराम कल्याणस्वरूप हैं; इनका शीघ्र ही अभिषेक करके मैं इस भूमण्डलको तत्काल कल्याणका भागी बनाऊँगा। अपने पुत्र श्रीरामपर राज्यका भार रखकर मैं सर्वथा क्लेश-रहित—निश्चिन्त हो जाऊँगा ॥ १४ ॥

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम्।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥ १५ ॥

'यदि मेरा यह प्रस्ताव आपलोगोंको अनुकूल जान पड़े और यदि मैंने यह अच्छी बात सोची हो तो आपलोग इसके लिये मुझे सहर्ष अनुमति दें अथवा यह बतावें कि मैं किस प्रकारसे कार्य करूँ ॥ १५ ॥

यद्यप्येषा मम प्रीतिर्हितमन्यद् विचिन्त्यताम्।
अन्या मध्यस्थचिन्ता तु विमर्दाभ्यधिकोदया ॥ १६ ॥

'यद्यपि यह श्रीरामके राज्याभिषेकका विचार मेरे लिये अधिक प्रसन्नताका विषय है तथापि यदि इसके अतिरिक्त भी कोई सबके लिये हितकर बात हो तो आपलोग उसे सोचें; क्योंकि मध्यस्थ पुरुषोंका विचार एकपक्षीय पुरुषकी अपेक्षा विलक्षण होता है, कारण कि वह पूर्वपक्ष और अपरपक्षको लक्ष्य करके किया गया होनेके कारण अधिक अभ्युदय करनेवाला होता है' ॥ १६ ॥

इति ब्रुवन्तं मुदिताः प्रत्यनन्दन् नृपा नृपम्।
वृष्टिमन्तं महामेघं नर्दन्त इव बर्हिणः ॥ १७ ॥

राजा दशरथ जब ऐसी बात कह रहे थे, उस समय वहाँ उपस्थित नरेशोंने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन महाराजका उसी प्रकार अभिनन्दन किया, जैसे मोर मधुर केकारव फैलाते हुए वर्षा करनेवाले महामेघका अभिनन्दन करते हैं ॥

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः।
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव ॥ १८ ॥

तत्पश्चात् समस्त जनसमुदायकी स्नेहमयी हर्षध्वनि सुनायी पड़ी। वह इतनी प्रबल थी कि समस्त पृथ्वीको कँपाती हुई-सी जान पड़ी ॥ १८ ॥

तस्य धर्मार्थविदुषो भावमाज्ञाय सर्वशः।
ब्राह्मणा बलमुख्याश्च पौरजानपदैः सह ॥ १९ ॥
समेत्य ते मन्त्रयितुं समतागतबुद्धयः।
ऊचुश्च मनसा ज्ञात्वा वृद्धं दशरथं नृपम् ॥ २० ॥

धर्म और अर्थके ज्ञाता महाराज दशरथके अभिप्रायको पूर्णरूपसे जानकर सम्पूर्ण ब्राह्मण और सेनापति नगर और जनपदके प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंके साथ मिलकर परस्पर सलाह करनेके लिये बैठे और मनसे सब कुछ समझकर जब वे एक निश्चयपर पहुँच गये, तब बूढ़े राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—॥ १९-२० ॥

अनेकवर्षसाहस्रो वृद्धस्त्वमसि पार्थिव।
स रामं युवराजानमभिषिञ्चस्व पार्थिवम् ॥ २१ ॥

'पृथ्वीनाथ! आपकी अवस्था कई हजार वर्षोंकी हो गयी। आप बूढ़े हो गये। अतः पृथ्वीके पालनमें समर्थ अपने पुत्र श्रीरामका अवश्य ही युवराजके पदपर अभिषेक कीजिये।

इच्छामो हि महाबाहुं रघुवीरं महाबलम्।
गजेन महता यान्तं रामं छत्रावृताननम् ॥ २२ ॥

'रघुकुलके वीर महाबलवान् महाबाहु श्रीराम महान् गजराजपर बैठकर यात्रा करते हों और उनके ऊपर श्वेत छत्र तना हुआ हो—इस रूपमें हम उनकी झाँकी करना चाहते हैं'।

इति तद्वचनं श्रुत्वा राजा तेषां मनःप्रियम्।
अजानन्निव जिज्ञासुरिदं वचनमब्रवीत् ॥ २३ ॥

उनकी यह बात राजा दशरथके मनको प्रिय लगनेवाली थी; इसे सुनकर राजा दशरथ अनजान-से बनकर उन सबके मनोभावको जाननेकी इच्छासे इस प्रकार बोले—॥ २३ ॥

श्रुत्वैतद् वचनं यन्मे राघवं पतिमिच्छथ।
राजानः संशयोऽयं मे तदिदं ब्रूत तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'राजागण! मेरी यह बात सुनकर जो आपलोगोंने श्रीरामको राजा बनानेकी इच्छा प्रकट की है, इसमें मुझे यह संशय हो रहा है जिसे आपके समक्ष उपस्थित करता हूँ। आप इसे सुनकर इसका यथार्थ उत्तर दें ॥ २४ ॥

कथं नु मयि धर्मेण पृथिवीमनुशासति।
भवन्तो द्रष्टुमिच्छन्ति युवराजं महाबलम् ॥ २५ ॥

'मैं धर्मपूर्वक इस पृथ्वीका निरन्तर पालन कर रहा हूँ, फिर मेरे रहते हुए आपलोग महाबली श्रीरामको युवराजके रूपमें क्यों देखना चाहते हैं?' ॥ २५ ॥

ते तमूचुर्महात्मानः पौरजानपदैः सह।
बहवो नृप कल्याणगुणाः सन्ति सुतस्य ते ॥ २६ ॥

यह सुनकर वे महात्मा नरेश नगर और जनपदके लोगोंके साथ राजा दशरथसे इस प्रकार बोले—'महाराज! आपके पुत्र श्रीराममें बहुत-से कल्याणकारी सद्गुण हैं ॥२६॥

गुणान् गुणवतो देव देवकल्पस्य धीमतः।
प्रियानानन्दनान् कृत्स्नान् प्रवक्ष्यामोऽद्य ताञ्शृणु ॥

'देव! देवताओंके तुल्य बुद्धिमान् और गुणवान् श्रीरामचन्द्रजीके सारे गुण सबको प्रिय लगनेवाले और आनन्ददायक हैं, हम इस समय उनका यत्किंचित् वर्णन कर रहे हैं; आप इन्हें सुनिये ॥ २७ ॥

दिव्यैर्गुणैः शक्रसमो रामः सत्यपराक्रमः।
इक्ष्वाकुभ्योऽपि सर्वेभ्यो ह्यतिरिक्तो विशाम्पते ॥२८॥

'प्रजानाथ ! सत्यपराक्रमी श्रीराम देवराज इन्द्रके समान दिव्य गुणोंसे सम्पन्न हैं। इक्ष्वाकुकुलमें भी ये सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥

रामः सत्पुरुषो लोके सत्यः सत्यपरायणः।
साक्षाद् रामाद् विनिर्वृत्तो धर्मश्चापि श्रिया सह ॥ २९॥

'श्रीराम संसारमें सत्यवादी, सत्यपरायण और सत्पुरुष हैं। साक्षात् श्रीरामने ही अर्थके साथ धर्मको भी प्रतिष्ठित किया है ॥ २९ ॥

प्रजासुखत्वे चन्द्रस्य वसुधायाः क्षमागुणैः।
बुद्ध्या बृहस्पतेस्तुल्यो वीर्ये साक्षाच्छचीपतेः ॥३०॥

'ये प्रजाको सुख देनेमें चन्द्रमाकी और क्षमारूपी गुणमें पृथ्वीकी समानता करते हैं। बुद्धिमें बृहस्पति और बल-पराक्रममें साक्षात् शचीपति इन्द्रके समान हैं ॥ ३०॥

धर्मज्ञः सत्यसंधश्च शीलवाननसूयकः।
क्षान्तः सान्त्वयिता श्लक्ष्णः कृतज्ञो विजितेन्द्रियः ॥
मृदुश्च स्थिरचित्तश्च सदा भव्योऽनसूयकः।
प्रियवादी च भूतानां सत्यवादी च राघवः ॥ ३२ ॥

'श्रीराम धर्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, शीलवान्, अदोषदर्शी, शान्त, दीन-दुखियोंको सान्त्वना प्रदान करनेवाले, मृदुभाषी, कृतज्ञ, जितेन्द्रिय, कोमल स्वभाववाले, स्थिरबुद्धि, सदा कल्याणकारी, असूयारहित, समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सत्यवादी हैं ॥ ३१-३२ ॥

बहुश्रुतानां वृद्धानां ब्राह्मणानामुपासिता।
तेनास्येहातुला कीर्तिर्यशस्तेजश्च वर्धते ॥ ३३ ॥

'वे बहुश्रुत विद्वानों, बड़े-बूढ़ों तथा ब्राह्मणोंके उपासक हैं—सदा ही उनका संग किया करते हैं, इसलिये इस जगत्‌में श्रीरामकी अनुपम कीर्ति, यश और तेजका विस्तार हो रहा है ॥ ३३ ॥

देवासुरमनुष्याणां सर्वास्त्रेषु विशारदः।
सम्यग् विद्याव्रतस्नातो यथावत् साङ्गवेदवित् ॥३४॥

'देवता, असुर और मनुष्योंके सम्पूर्ण अस्त्रोंका उन्हें विशेषरूपसे ज्ञान है। वे साङ्ग वेदके यथार्थ विद्वान् और सम्पूर्ण विद्याओंमें भलीभाँति निष्णात हैं ॥ ३४ ॥

गान्धर्वे च भुवि श्रेष्ठो बभूव भरताग्रजः।
कल्याणाभिजनः साधुरदीनात्मा महामतिः ॥ ३५ ॥

'भरतके बड़े भाई श्रीराम गान्धर्ववेद (संगीतशास्त्र) में भी इस भूतलपर सबसे श्रेष्ठ हैं। कल्याणकी तो वे जन्मभूमि हैं। उनका स्वभाव साधु पुरुषोंके समान है, हृदय उदार और बुद्धि विशाल है ॥ ३५ ॥

द्विजैरभिविनीतश्च श्रेष्ठैर्धर्मार्थनैपुणैः।
यदा व्रजति संग्रामं ग्रामार्थे नगरस्य वा ॥ ३६ ॥
गत्वा सौमित्रिसहितो नाविजित्य निवर्तते।

'धर्म और अर्थके प्रतिपादनमें कुशल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने उन्हें उत्तम शिक्षा दी है। वे ग्राम अथवा नगरकी रक्षाके लिये लक्ष्मणके साथ जब संग्रामभूमिमें जाते हैं, उस समय वहाँ जाकर विजय प्राप्त किये बिना पीछे नहीं लौटते ॥ ३६½॥

संग्रामात् पुनरागत्य कुञ्जरेण रथेन वा ॥ ३७ ॥
पौरान् स्वजनवन्नित्यं कुशलं परिपृच्छति।
पुत्रेष्वग्निषु दारेषु प्रेष्यशिष्यगणेषु च ॥ ३८ ॥

'संग्रामभूमिसे हाथी अथवा रथके द्वारा पुनः अयोध्या लौटनेपर वे पुरवासियोंसे स्वजनोंकी भाँति प्रतिदिन उनके पुत्रों, अग्निहोत्रकी अग्नियों, स्त्रियों, सेवकों और शिष्योंका कुशल-समाचार पूछते रहते हैं ॥ ३७-३८ ॥

निखिलेनानुपूर्व्या च पिता पुत्रानिवौरसान्।
शुश्रूषन्ते च वः शिष्याः कच्चिद् वर्मसु दंशिताः ॥३९॥
इति वः पुरुषव्याघ्रः सदा रामोऽभिभाषते।

'जैसे पिता अपने औरस पुत्रोंका कुशल-मङ्गल पूछता है, उसी प्रकार वे समस्त पुरवासियोंसे क्रमशः उनका सारा समाचार पूछा करते हैं। पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणोंसे सदा पूछते रहते हैं कि 'आपके शिष्य आपलोगोंकी सेवा करते हैं न ?' क्षत्रियोंसे यह जिज्ञासा करते हैं कि 'आपके सेवक कवच आदिसे सुसज्जित हो आपकी सेवामें तत्पर रहते हैं न ?' ॥

व्यसनेषु मनुष्याणां भृशं भवति दुःखितः ॥ ४० ॥
उत्सवेषु च सर्वेषु पितेव परितुष्यति।

'नगरके मनुष्योंपर संकट आनेपर वे बहुत दुखी हो जाते हैं और उन सबके घरोंमें सब प्रकारके उत्सव होनेपर उन्हें पिताकी भाँति प्रसन्नता होती है ॥ ४०½ ॥

सत्यवादी महेष्वासो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः ॥ ४१ ॥
स्मितपूर्वाभिभाषी च धर्मं सर्वात्मनाश्रितः।
सम्यग्योक्ता श्रेयसां च न विगृह्यकथारुचिः ॥ ४२ ॥

'वे सत्यवादी, महान् धनुर्धर, वृद्ध पुरुषोंके सेवक और जितेन्द्रिय हैं। श्रीराम पहले मुसकराकर वार्तालाप आरम्भ करते हैं। उन्होंने सम्पूर्ण हृदयसे धर्मका आश्रय ले रक्खा है। वे कल्याणका सम्यक् आयोजन करनेवाले हैं, निन्दनीय बातोंकी चर्चामें उनकी कभी रुचि नहीं होती है ॥४१-४२॥

उत्तरोत्तरयुक्तौ च वक्ता वाचस्पतिर्यथा।
सुभ्रूरायतताम्राक्षः साक्षाद् विष्णुरिव स्वयम् ॥ ४३ ॥

'उत्तरोत्तर उत्तम युक्ति देते हुए वार्तालाप करनेमें वे साक्षात् बृहस्पतिके समान हैं। उनकी भौंहें सुन्दर हैं, आँखें विशाल और कुछ लालिमा लिये हुए हैं। वे साक्षात् विष्णुकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ४३ ॥

रामो लोकाभिरामोऽयं शौर्यवीर्यपराक्रमैः ।
प्रजापालनसंयुक्तो न रागोपहतेन्द्रियः ॥ ४४ ॥

'सम्पूर्ण लोकोंको आनन्दित करनेवाले ये श्रीराम शूरता, वीरता और पराक्रम आदिके द्वारा सदा प्रजाका पालन करनेमें लगे रहते हैं। उनकी इन्द्रियाँ राग आदि दोषोंसे दूषित नहीं होती हैं ॥ ४४ ॥

शक्तस्त्रैलोक्यमप्येष भोक्तुं किं नु महीमिमाम्।
नास्य क्रोधः प्रसादश्च निरर्थोऽस्ति कदाचन ॥ ४५ ॥

'इस पृथ्वीकी तो बात ही क्या है, वे सम्पूर्ण त्रिलोकीकी भी रक्षा कर सकते हैं। उनका क्रोध और प्रसाद कभी व्यर्थ नहीं होता है ॥ ४५ ॥

हन्त्येष नियमाद् वध्यानवध्येषु न कुप्यति ।
युनक्त्यर्थैः प्रहृष्टश्च तमसौ यत्र तुष्यति ॥ ४६ ॥

'जो शास्त्रके अनुसार प्राणदण्ड पानेके अधिकारी हैं, उनका ये नियमपूर्वक वध कर डालते हैं तथा जो शास्त्रदृष्टिसे अवध्य हैं, उनपर ये कदापि कुपित नहीं होते हैं। जिसपर ये संतुष्ट होते हैं, उसे हर्षमें भरकर धनसे परिपूर्ण कर देते हैं ॥

दान्तैः सर्वप्रजाकान्तैः प्रीतिसंजननैर्नृणाम् ।
गुणैर्विरोचते रामो दीप्तः सूर्य इवांशुभिः ॥ ४७ ॥

'समस्त प्रजाओंके लिये कमनीय तथा मनुष्योंका आनन्द बढ़ानेवाले मन और इन्द्रियोंके संयम आदि सद्‌गुणोंद्वारा श्रीराम वैसे ही शोभा पाते हैं, जैसे तेजस्वी सूर्य अपनी किरणोंसे सुशोभित होते हैं ॥ ४७ ॥

तमेवंगुणसम्पन्नं रामं सत्यपराक्रमम् ।
लोकपालोपमं नाथमकामयत मेदिनी ॥ ४८ ॥

'ऐसे सर्वगुणसम्पन्न, लोकपालोंके समान प्रभावशाली एवं सत्यपराक्रमी श्रीरामको इस पृथ्वीकी जनता अपना स्वामी बनाना चाहती है ॥ ४८ ॥

वत्सः श्रेयसि जातस्ते दिष्ट्यासौ तव राघवः।
दिष्ट्या पुत्रगुणैर्युक्तो मारीच इव कश्यपः ॥ ४९ ॥

'हमारे सौभाग्यसे आपके वे पुत्र श्रीरघुनाथजी प्रजाका कल्याण करनेमें समर्थ हो गये हैं तथा आपके सौभाग्यसे वे मरीचिनन्दन कश्यपकी भाँति पुत्रोचित गुणोंसे सम्पन्न हैं ॥

बलमारोग्यमायुश्च रामस्य विदितात्मनः ।
देवासुरमनुष्येषु सगन्धर्वोरगेषु च ॥ ५० ॥
आशंसते जनः सर्वो राष्ट्रे पुरवरे तथा ।
आभ्यन्तरश्च बाह्यश्च पौरजानपदो जनः ॥ ५१ ॥

'देवताओं, असुरों, मनुष्यों, गन्धर्वों और नागोंमेंसे प्रत्येक वर्गके लोग तथा इस राज्य और राजधानीमें भी बाहर-भीतर आने-जानेवाले नगर और जनपदके सभी लोग सुविख्यात शीलस्वभाववाले श्रीरामचन्द्रजीके लिये सदा ही बल, आरोग्य और आयुकी शुभ कामना करते हैं ॥५०-५१॥

स्त्रियो वृद्धास्तरुण्यश्च सायं प्रातः समाहिताः।
सर्वा देवान्नमस्यन्ति रामस्यार्थे मनस्विनः ।
तेषां तद् याचितं देव त्वत्प्रसादात्समृद्ध्यताम् ॥ ५२ ॥

'इस नगरकी बूढ़ी और युवती—सब तरहकी स्त्रियाँ सबेरे और सायंकालमें एकाग्रचित्त होकर परम उदार श्रीरामचन्द्रजीके युवराज होनेके लिये देवताओंसे नमस्कारपूर्वक प्रार्थना किया करती हैं। देव! उनकी वह प्रार्थना आपके कृपा-प्रसादसे अब पूर्ण होनी चाहिये ॥ ५२ ॥

राममिन्दीवरश्यामं सर्वशत्रुनिबर्हणम् ।
पश्यामो यौवराज्यस्थं तव राजोत्तमात्मजम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! जो नीलकमलके समान श्यामकान्तिसे सुशोभित तथा समस्त शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ हैं, आपके उन ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको हम युवराज-पदपर विराजमान देखना चाहते हैं ॥ ५३ ॥

तं देवदेवोपममात्मजं ते
सर्वस्य लोकस्य हिते निविष्टम् ।
हिताय नः क्षिप्रमुदारजुष्टं
मुदाभिषेक्तुं वरद त्वमर्हसि ॥ ५४ ॥

'अतः वरदायक महाराज! आप देवाधिदेव श्रीविष्णुके समान पराक्रमी, सम्पूर्ण लोकोंके हितमें संलग्न रहनेवाले और महापुरुषोंद्वारा सेवित अपने पुत्र श्रीरामचन्द्रजीका जितना शीघ्र हो सके प्रसन्नतापूर्वक राज्याभिषेक कीजिये, इसीमें हमलोगोंका हित है' ॥ ५४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वितीयः सर्गः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दूसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयः सर्गः

राजा दशरथका वसिष्ठ और वामदेवजीको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी करनेके लिये कहना और उनका सेवकोंको तदनुरूप आदेश देना; राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको राजसभामें बुला लाना और राजाका अपने पुत्र श्रीरामको हितकर राजनीतिकी बातें बताना

तेषामञ्जलिपद्मानि प्रगृहीतानि सर्वशः ।
प्रतिगृह्याब्रवीद् राजा तेभ्यः प्रियहितं वचः ॥ १ ॥

सभासदोंने कमलपुष्पकी-सी आकृतिवाली अपनी अञ्जलियोंको सिरसे लगाकर सब प्रकारसे महाराजके प्रस्तावका

समर्थन किया; उनकी वह पद्माञ्जलि स्वीकार करके राजा दशरथ उन सबसे प्रिय और हितकारी वचन बोले—॥ १ ॥

अहोऽस्मि परमप्रीतः प्रभावश्चातुलो मम।
यन्मे ज्येष्ठं प्रियं पुत्रं यौवराज्यस्थमिच्छथ ॥ २ ॥

'अहो! आपलोग जो मेरे परमप्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको युवराजके पदपर प्रतिष्ठित देखना चाहते हैं इससे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है तथा मेरा प्रभाव अनुपम हो गया है' ॥ २ ॥

इति प्रत्यर्चितान् राजा ब्राह्मणानिदमब्रवीत्।
वसिष्ठं वामदेवं च तेषामेवोपशृण्वताम् ॥ ३ ॥

इस प्रकारकी बातोंसे पुरवासी तथा अन्यान्य सभासदोंका सत्कार करके राजाने उनके सुनते हुए ही वामदेव और वसिष्ठ आदि ब्राह्मणोंसे इस प्रकार कहा—॥ ३ ॥

चैत्रः श्रीमानयं मासः पुण्यः पुष्पितकाननः।
यौवराज्याय रामस्य सर्वमेवोपकल्प्यताम् ॥ ४ ॥

'यह चैत्रमास बड़ा सुन्दर और पवित्र है, इसमें सारे वन-उपवन खिल उठे हैं; अतः इस समय श्रीरामका युवराजपदपर अभिषेक करनेके लिये आपलोग सब सामग्री एकत्र कराइये' ॥ ४ ॥

राज्ञस्तूपरते वाक्ये जनघोषो महानभूत्।
शनैस्तस्मिन् प्रशान्ते च जनघोषे जनाधिपः ॥ ५ ॥
वसिष्ठं मुनिशार्दूलं राजा वचनमब्रवीत्।

राजाकी यह बात समाप्त होनेपर सब लोग हर्षके कारण महान् कोलाहल करने लगे। धीरे-धीरे उस जनरवके शान्त होनेपर प्रजापालक नरेश दशरथने मुनिप्रवर वसिष्ठसे यह बात कही—॥ ५½ ॥

अभिषेकाय रामस्य यत् कर्म सपरिच्छदम् ॥ ६ ॥
तदद्य भगवन् सर्वमाज्ञापयितुमर्हसि।

'भगवन्! श्रीरामके अभिषेकके लिये जो कर्म आवश्यक हो, उसे साङ्गोपाङ्ग बताइये और आज ही उस सबकी तैयारी करनेके लिये सेवकोंको आज्ञा दीजिये' ॥ ६½ ॥

तच्छ्रुत्वा भूमिपालस्य वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ७ ॥
आदिदेशाग्रतो राज्ञः स्थितान् युक्तान् कृताञ्जलीन्।

महाराजका यह वचन सुनकर मुनिवर वसिष्ठने राजाके सामने ही हाथ जोड़कर खड़े हुए आज्ञापालनके लिये तैयार रहनेवाले सेवकोंसे कहा—॥ ७½ ॥

सुवर्णादीनि रत्नानि बलीन् सर्वौषधीरपि ॥ ८ ॥
शुक्लमाल्यानि लाजांश्च पृथक्च मधुसर्पिषी।
अहतानि च वासांसि रथं सर्वायुधान्यपि ॥ ९ ॥
चतुरङ्गबलं चैव गजं च शुभलक्षणम्।
चामरव्यजने चोभे ध्वजं छत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
शतं च शातकुम्भानां कुम्भानामग्निवर्चसाम्।
हिरण्यशृङ्गमृषभं समग्रं व्याघ्रचर्म च ॥ ११ ॥
यच्चान्यत् किंचिदेष्टव्यं तत् सर्वमुपकल्प्यताम्।
उपस्थापयत प्रातरग्न्यगारे महीपतेः ॥ १२ ॥

'तुमलोग सुवर्ण आदि रत्न, देवपूजनकी सामग्री, सब प्रकारकी ओषधियाँ, श्वेत पुष्पोंकी मालाएँ, खील, अलग-अलग पात्रोंमें शहद और घी, नये वस्त्र, रथ, सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र, चतुरङ्गिणी सेना, उत्तम लक्षणोंसे युक्त हाथी, चमरी गायकी पूँछके बालोंसे बने हुए दो व्यजन, ध्वज, श्वेत छत्र, अग्निके समान देदीप्यमान सोनेके सौ कलश, सुवर्णसे मढ़े हुए सींगोंवाला एक साँड, समूचा व्याघ्रचर्म तथा और जो कुछ भी वाञ्छनीय वस्तुएँ हैं, उन सबको एकत्र करो और प्रातःकाल महाराजकी अग्निशालामें पहुँचा दो ॥ ८–१२ ॥

अन्तःपुरस्य द्वाराणि सर्वस्य नगरस्य च।
चन्दनस्रग्भिरर्च्यन्तां धूपैश्च घ्राणहारिभिः ॥ १३ ॥

'अन्तःपुर तथा समस्त नगरके सभी दरवाजोंको चन्दन और मालाओंसे सजा दो तथा वहाँ ऐसे धूप सुलगा दो जो अपनी सुगन्धसे लोगोंको आकर्षित कर लें ॥ १३ ॥

प्रशस्तमन्नं गुणवद् दधिक्षीरोपसेचनम्।
द्विजानां शतसाहस्रं यत्प्रकाममलं भवेत् ॥ १४ ॥

'दही, दूध और घी आदिसे संयुक्त अत्यन्त उत्तम एवं गुणकारी अन्न तैयार कराओ, जो एक लाख ब्राह्मणोंके भोजनके लिये पर्याप्त हो ॥ १४ ॥

सत्कृत्य द्विजमुख्यानां श्वः प्रभाते प्रदीयताम्।
घृतं दधि च लाजाश्च दक्षिणाश्चापि पुष्कलाः ॥ १५ ॥

'कल प्रातःकाल श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका सत्कार करके उन्हें वह अन्न प्रदान करो; साथ ही घी, दही, खील और पर्याप्त दक्षिणाएँ भी दो ॥ १५ ॥

सूर्येऽभ्युदितमात्रे श्वो भविता स्वस्तिवाचनम्।
ब्राह्मणाश्च निमन्त्र्यन्तां कल्प्यन्तामासनानि च ॥ १६ ॥

'कल सूर्योदय होते ही स्वस्तिवाचन होगा, इसके लिये ब्राह्मणोंको निमन्त्रित करो और उनके लिये आसनोंका प्रबन्ध कर लो ॥ १६ ॥

आबध्यन्तां पताकाश्च राजमार्गश्च सिच्यताम्।
सर्वे च तालापचरा गणिकाश्च स्वलंकृताः ॥ १७ ॥
कक्ष्यां द्वितीयामासाद्य तिष्ठन्तु नृपवेश्मनः।

'नगरमें सब ओर पताकाएँ फहरायी जायँ तथा राजमार्गोंपर छिड़काव कराया जाय। समस्त तालजीवी (संगीत-निपुण) पुरुष और सुन्दर वेष-भूषासे विभूषित वाराङ्गनाएँ (नर्तकियाँ) राजमहलकी दूसरी कक्षा (ड्योढ़ी) में पहुँचकर खड़ी रहें ॥ १७½ ॥

देवायतनचैत्येषु सान्नभक्ष्याः सदक्षिणाः ॥ १८ ॥

उपस्थापयितव्याः स्युर्माल्ययोग्याः पृथक्पृथक्।

'देव मन्दिरोंमें तथा चैत्यवृक्षोंके नीचे या चौराहोंपर जो पूजनीय देवता हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् भक्ष्य-भोज्य पदार्थ एवं दक्षिणा प्रस्तुत करनी चाहिये ॥ १८½ ॥

दीर्घासिबद्धगोधाश्च संनद्धा मृष्टवाससः ॥ १९ ॥
महाराजाङ्गनं शूराः प्रविशन्तु महोदयम्।

'लंबी तलवार लिये और गोधाचर्मके बने दस्ताने पहने और कमर कसकर तैयार रहनेवाले शूर-वीर योद्धा स्वच्छ वस्त्र धारण किये महाराजके महान् अभ्युदयशाली आँगनमें प्रवेश करें' ॥ १९½ ॥

एवं व्यादिश्य विप्रौ तु क्रियास्तत्र विनिष्ठितौ ॥ २० ॥
चक्रतुश्चैव यच्छेषं पार्थिवाय निवेद्य च।

सेवकोंको इस प्रकार कार्य करनेका आदेश देकर दोनों ब्राह्मण वसिष्ठ और वामदेवने पुरोहितद्वारा सम्पादित होने योग्य क्रियाओंको स्वयं पूर्ण किया। राजाके बताये हुए कार्योंके अतिरिक्त भी जो शेष आवश्यक कर्तव्य था उसे भी उन दोनोंने राजासे पूछकर स्वयं ही सम्पन्न किया ॥ २०½ ॥

कृतमित्येव चाब्रूतामभिगम्य जगत्पतिम् ॥ २१ ॥
यथोक्तवचनं प्रीतौ हर्षयुक्तौ द्विजोत्तमौ।

तदनन्तर महाराजके पास जाकर प्रसन्नता और हर्षसे भरे हुए वे दोनों श्रेष्ठ द्विज बोले—'राजन्! आपने जैसा कहा था, उसके अनुसार सब कार्य सम्पन्न हो गया' ॥२१½॥

ततः सुमन्त्रं द्युतिमान् राजा वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥
रामः कृतात्मा भवता शीघ्रमानीयतामिति।

इसके बाद तेजस्वी राजा दशरथने सुमन्त्रसे कहा—'सखे! पवित्रात्मा श्रीरामको तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥

स तथेति प्रतिज्ञाय सुमन्त्रो राजशासनात् ॥ २३ ॥
रामं तत्रानयांचक्रे रथेन रथिनां वरम्।

तब 'जो आज्ञा' कहकर सुमन्त्र गये तथा राजाके आदेशानुसार रथियोंमें श्रेष्ठ श्रीरामको रथपर बिठाकर ले आये॥

अथ तत्र सहासीनास्तदा दशरथं नृपम् ॥ २४ ॥
प्राच्योदीच्या प्रतीच्याश्च दाक्षिणात्याश्च भूमिपाः।
म्लेच्छाश्चार्याश्च ये चान्ये वनशैलान्तवासिनः ॥ २५ ॥
उपासांचक्रिरे सर्वे तं देवा वासवं यथा।

उस राजभवनमें साथ बैठे हुए पूर्व, उत्तर, पश्चिम और दक्षिणके भूपाल, म्लेच्छ, आर्य तथा वनों और पर्वतोंमें रहनेवाले अन्यान्य मनुष्य सब-के-सब उस समय राजा दशरथकी उसी प्रकार उपासना कर रहे थे जैसे देवता देवराज इन्द्रकी॥

तेषां मध्ये स राजर्षिर्मरुतामिव वासवः ॥ २६ ॥
प्रासादस्थो दशरथो ददर्शायान्तमात्मजम्।
गन्धर्वराजप्रतिमं लोके विख्यातपौरुषम् ॥ २७ ॥

उनके बीच अट्टालिकाके भीतर बैठे हुए राजा दशरथ मरुद्गणोंके मध्य देवराज इन्द्रकी भाँति शोभा पा रहे थे। उन्होंने वहींसे अपने पुत्र श्रीरामको अपने पास आते देखा, जो गन्धर्वराजके समान तेजस्वी थे, उनका पौरुष समस्त संसारमें विख्यात था ॥ २६-२७ ॥

दीर्घबाहुं महासत्त्वं मत्तमातङ्गगामिनम्।
चन्द्रकान्ताननं राममतीव प्रियदर्शनम् ॥ २८ ॥
रूपौदार्यगुणैः पुंसां दृष्टिचित्तापहारिणम्।
घर्माभितप्ताः पर्जन्यं ह्लादयन्तमिव प्रजाः ॥ २९ ॥

उनकी भुजाएँ बड़ी और बल महान् था। वे मतवाले गजराजके समान बड़ी मस्तीके साथ चल रहे थे। उनका मुख चन्द्रमासे भी अधिक कान्तिमान् था। श्रीरामका दर्शन सबको अत्यन्त प्रिय लगता था। वे अपने रूप और उदारता आदि गुणोंसे लोगोंकी दृष्टि और मन आकर्षित कर लेते थे। जैसे धूपमें तपे हुए प्राणियोंको मेघ आनन्द प्रदान करता है, उसी प्रकार वे समस्त प्रजाको परम आह्लाद देते रहते थे॥

न ततर्प समायान्तं पश्यमानो नराधिपः।
अवतार्य सुमन्त्रस्तु राघवं स्यन्दनोत्तमात् ॥ ३० ॥
पितुः समीपं गच्छन्तं प्राञ्जलिः पृष्ठतोऽन्वगात्।

आते हुए श्रीरामचन्द्रकी ओर एकटक देखते हुए राजा दशरथको तृप्ति नहीं होती थी। सुमन्त्रने उस श्रेष्ठ रथसे श्रीरामचन्द्रजीको उतारा और जब वे पिताके समीप जाने लगे, तब सुमन्त्र भी उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए गये ॥ ३०½ ॥

स तं कैलासशृङ्गाभं प्रासादं रघुनन्दनः ॥ ३१ ॥
आरुरोह नृपं द्रष्टुं सहसा तेन राघवः।

वह राजमहल कैलासशिखरके समान उज्ज्वल और ऊँचा था, रघुकुलको आनन्दित करनेवाले श्रीराम महाराजका दर्शन करनेके लिये सुमन्त्रके साथ सहसा उसपर चढ़ गये ॥३१½॥

स प्राञ्जलिरभिप्रेत्य प्रणतः पितुरन्तिके ॥ ३२ ॥
नाम स्वं श्रावयन् रामो ववन्दे चरणौ पितुः।

श्रीराम दोनों हाथ जोड़कर विनीतभावसे पिताके पास गये और अपना नाम सुनाते हुए उन्होंने उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम किया ॥ ३२½ ॥

तं दृष्ट्वा प्रणतं पार्श्वे कृताञ्जलिपुटं नृपः ॥ ३३ ॥
गृह्याञ्जलौ समाकृष्य सस्वजे प्रियमात्मजम्।

श्रीरामको पास आकर हाथ जोड़ प्रणाम करते देख राजाने उनके दोनों हाथ पकड़ लिये और अपने प्रिय पुत्रको पास खींचकर छातीसे लगा लिया ॥ ३३½ ॥

तस्मै चाभ्युद्यतं सम्यङ्मणिकाञ्चनभूषितम् ॥ ३४ ॥
दिदेश राजा रुचिरं रामाय परमासनम्।

उस समय राजाने उन श्रीरामचन्द्रजीको मणिजटित

सुवर्णसे भूषित एक परम सुन्दर सिंहासनपर बैठनेकी आज्ञा दी, जो पहलेसे उन्हींके लिये वहाँ उपस्थित किया गया था ॥

तथाऽऽसनवरं प्राप्य व्यदीपयत राघवः ॥ ३५ ॥
स्वयैव प्रभया मेरुमुदये विमलो रविः ।

जैसे निर्मल सूर्य उदयकालमें मेरुपर्वतको अपनी किरणों-से उद्भासित कर देते हैं, उसी प्रकार श्रीरघुनाथजी उस श्रेष्ठ आसनको ग्रहण करके अपनी ही प्रभासे उसे प्रकाशित करने लगे ॥ ३५½ ॥

तेन विभ्राजिता तत्र सा सभापि व्यरोचत ॥ ३६ ॥
विमलग्रहनक्षत्रा शारदी द्यौरिवेन्दुना ।

उनसे प्रकाशित हुई वह सभा भी बड़ी शोभा पा रही थी। ठीक उसी तरह जैसे निर्मल ग्रह और नक्षत्रोंसे भरा हुआ शरत्-कालका आकाश चन्द्रमासे उद्भासित हो उठता है॥

तं पश्यमानो नृपतिस्तुतोष प्रियमात्मजम् ॥ ३७ ॥
अलंकृतमिवात्मानमादर्शतलसंस्थितम् ।

जैसे सुन्दर वेश-भूषासे अलंकृत हुए अपने ही प्रतिबिम्ब-को दर्पणमें देखकर मनुष्यको बड़ा संतोष प्राप्त होता है, उसी प्रकार अपने शोभाशाली प्रिय पुत्र उन श्रीरामको देखकर राजा बड़े प्रसन्न हुए ॥ ३७½ ॥

स तं सुस्थितमाभाष्य पुत्रं पुत्रवतां वरः ॥ ३८ ॥
उवाचेदं वचो राजा देवेन्द्रमिव कश्यपः ।

जैसे कश्यप देवराज इन्द्रको पुकारते हैं, उसी प्रकार पुत्रवानोंमें श्रेष्ठ राजा दशरथ सिंहासनपर बैठे हुए अपने पुत्र श्रीरामको सम्बोधित करके उनसे इस प्रकार बोले—॥३८½॥

ज्येष्ठायामसि मे पत्न्यां सदृश्यां सदृशः सुतः ॥ ३९ ॥
उत्पन्नस्त्वं गुणज्येष्ठो मम रामात्मजः प्रियः ।
त्वया यतः प्रजाश्चेमाः स्वगुणैरनुरञ्जिताः ॥ ४० ॥
तस्मात् त्वं पुष्ययोगेन यौवराज्यमवाप्नुहि ।

'बेटा ! तुम्हारा जन्म मेरी बड़ी महारानी कौसल्याके गर्भसे हुआ है । तुम अपनी माताके अनुरूप ही उत्पन्न हुए हो। श्रीराम ! तुम गुणोंमें मुझसे भी बढ़कर हो, अतः मेरे परम प्रिय पुत्र हो; तुमने अपने गुणोंसे इन समस्त प्रजाओंको प्रसन्न कर लिया है, इसलिये कल पुष्यनक्षत्रके योगमें युवराजका पद ग्रहण करो ॥ ३९-४०½ ॥

कामतस्त्वं प्रकृत्यैव निर्णीतो गुणवानिति ॥ ४१ ॥
गुणवत्यपि तु स्नेहात् पुत्र वक्ष्यामि ते हितम्।
भूयो विनयमास्थाय भव नित्यं जितेन्द्रियः ॥ ४२ ॥

'बेटा ! यद्यपि तुम स्वभावसे ही गुणवान् हो और तुम्हारे विषयमें यही सबका निर्णय है तथापि मैं स्नेहवश सद्गुणसम्पन्न होनेपर भी तुम्हें कुछ हितकी बातें बताता हूँ । तुम और भी अधिक विनयका आश्रय लेकर सदा जितेन्द्रिय बने रहो ॥ ४१-४२ ॥

कामक्रोधसमुत्थानि त्यजस्व व्यसनानि च ।
परोक्षया वर्तमानो वृत्त्या प्रत्यक्षया तथा ॥ ४३ ॥

'काम और क्रोधसे उत्पन्न होनेवाले दुर्व्यसनोंका सर्वथा त्याग कर दो, परोक्षवृत्तिसे (अर्थात् गुप्तचरोंद्वारा यथार्थ बातोंका पता लगाकर) तथा प्रत्यक्षवृत्तिसे (अर्थात् दरबारमें सामने आकर कहनेवाली जनताके मुखसे उसके वृत्तान्तोंको प्रत्यक्ष देख-सुनकर) ठीक-ठीक न्याय-विचारमें तत्पर रहो ॥

अमात्यप्रभृतीः सर्वाः प्रजाश्चैवानुरञ्जय ।
कोष्ठागारायुधागारैः कृत्वा संनिचयान् बहून् ॥ ४४ ॥
इष्टानुरक्तप्रकृतिर्यः पालयति मेदिनीम् ।
तस्य नन्दन्ति मित्राणि लब्ध्वामृतमिवामराः ॥ ४५ ॥

'मन्त्री, सेनापति आदि समस्त अधिकारियों तथा प्रजाजनोंको सदा प्रसन्न रखना । जो राजा कोष्ठागार (भण्डारगृह) तथा शस्त्रागार आदिके द्वारा उपयोगी वस्तुओंका बहुत बड़ा संग्रह करके मन्त्री, सेनापति और प्रजा आदि समस्त प्रकृतियोंको प्रिय मानकर उन्हें अपने प्रति अनुरक्त एवं प्रसन्न रखते हुए पृथ्वीका पालन करता है, उसके मित्र उसी प्रकार आनन्दित होते हैं, जैसे अमृतको पाकर देवता प्रसन्न हुए थे ॥ ४४-४५ ॥

तस्मात् पुत्र त्वमात्मानं नियम्यैवं समाचर ।
तच्छ्रुत्वा सुहृदस्तस्य रामस्य प्रियकारिणः ॥ ४६ ॥
त्वरिताः शीघ्रमागत्य कौसल्यायै न्यवेदयन् ।

'इसलिये बेटा ! तुम अपने चित्तको वशमें रखकर इस प्रकारके उत्तम आचरणोंका पालन करते रहो ।' राजाकी ये बातें सुनकर श्रीरामचन्द्रजीका प्रिय करनेवाले सुहृदोंने तुरंत माता कौसल्याके पास जाकर उन्हें यह शुभ समाचार निवेदन किया ॥ ४६½ ॥

सा हिरण्यं च गाश्चैव रत्नानि विविधानि च ॥ ४७ ॥
व्यादिदेश प्रियाख्येभ्यः कौसल्या प्रमदोत्तमा ।

नारियोंमें श्रेष्ठ कौसल्याने वह प्रिय संवाद सुनानेवाले उन सुहृदोंको तरह-तरहके रत्न, सुवर्ण और गौएँ पुरस्कार-रूपमें दीं ॥ ४७½ ॥

अथाभिवाद्य राजानं रथमारुह्य राघवः ।
ययौ स्वं द्युतिमद् वेश्म जनौघैः प्रतिपूजितः ॥ ४८ ॥

इसके बाद श्रीरामचन्द्रजी राजाको प्रणाम करके रथपर बैठे और प्रजाजनोंसे सम्मानित होते हुए वे अपने शोभाशाली भवनमें चले गये ॥ ४८ ॥

ते चापि पौरा नृपतेर्वचस्त-
च्छ्रुत्वा तदा लाभमिवेष्टमाशु ।
नरेन्द्रमामन्त्र्य गृहाणि गत्वा
देवान् समानर्चुरभिप्रहृष्टाः ॥ ४९ ॥

नगरनिवासी मनुष्योंने राजाकी बातें सुनकर मन-ही-मन

यह अनुभव किया कि हमें शीघ्र ही अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति होगी, फिर भी महाराजकी आज्ञा लेकर अपने घरोंको गये और अत्यन्त हर्षसे भरकर अभीष्ट-सिद्धिके उपलक्ष्यमें देवताओंकी पूजा करने लगे ॥ ४९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे तृतीयः सर्गः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसरा सर्ग पूरा हुआ ॥ ३ ॥

चतुर्थः सर्गः

श्रीरामको राज्य देनेका निश्चय करके राजाका सुमन्त्रद्वारा पुनः श्रीरामको बुलवाकर उन्हें आवश्यक बातें बताना, श्रीरामका कौसल्याके भवनमें जाकर माताको यह समाचार बताना और मातासे आशीर्वाद पाकर लक्ष्मणसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप करके अपने महलमें जाना

गतेष्वथ नृपो भूयः पौरेषु सह मन्त्रिभिः।
मन्त्रयित्वा ततश्चक्रे निश्चयज्ञः स निश्चयम् ॥ १ ॥
श्व एव पुष्यो भविता श्वोऽभिषेच्यस्तु मे सुतः।
रामो राजीवपत्राक्षो युवराज इति प्रभुः ॥ २ ॥

राजसभासे पुरवासियोंके चले जानेपर कार्यसिद्धिके योग्य देश-कालके नियमको जाननेवाले प्रभावशाली नरेशने पुनः मन्त्रियोंके साथ सलाह करके यह निश्चय किया कि 'कल ही पुष्य नक्षत्र होगा, अतः कल ही मुझे अपने पुत्र कमलनयन श्रीरामका युवराजके पदपर अभिषेक कर देना चाहिये' ॥

अथान्तर्गृहमाविश्य राजा दशरथस्तदा।
सूतमामन्त्रयामास रामं पुनरिहानय ॥ ३ ॥

तदनन्तर अन्तःपुरमें जाकर महाराज दशरथने सूतको बुलाया और आज्ञा दी—'जाओ, श्रीरामको एक बार फिर यहाँ बुला लाओ' ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सूतः पुनरुपाययौ।
रामस्य भवनं शीघ्रं राममानयितुं पुनः ॥ ४ ॥

उनकी आज्ञा शिरोधार्य करके सुमन्त्र श्रीरामको शीघ्र बुला लानेके लिये पुनः उनके महलमें गये ॥ ४ ॥

द्वाःस्थैरावेदितं तस्य रामायागमनं पुनः।
श्रुत्वैव चापि रामस्तं प्राप्तं शङ्कान्वितोऽभवत् ॥ ५ ॥

द्वारपालोंने श्रीरामको सुमन्त्रके पुनः आगमनकी सूचना दी । उनका आगमन सुनते ही श्रीरामके मनमें संदेह हो गया ॥ ५ ॥

प्रवेश्य चैनं त्वरितो रामो वचनमब्रवीत्।
यदागमनकृत्यं ते भूयस्तद्ब्रूह्यशेषतः ॥ ६ ॥

उन्हें भीतर बुलाकर श्रीरामने उनसे बड़ी उतावलीके साथ पूछा—'आपको पुनः यहाँ आनेकी क्या आवश्यकता पड़ी ?' यह पूर्णरूपसे बताइये ॥ ६ ॥

तमुवाच ततः सूतो राजा त्वां द्रष्टुमिच्छति।
श्रुत्वा प्रमाणं तत्र त्वं गमनायेतराय वा ॥ ७ ॥

तब सूतने उनसे कहा—'महाराज आपसे मिलना चाहते हैं। मेरी इस बातको सुनकर वहाँ जाने या न जानेका निर्णय आप स्वयं करें' ॥ ७ ॥

इति सूतवचः श्रुत्वा रामोऽपि त्वरयान्वितः।
प्रययौ राजभवनं पुनर्द्रष्टुं नरेश्वरम् ॥ ८ ॥

सूतका यह वचन सुनकर श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथका पुनः दर्शन करनेके लिये तुरंत उनके महलकी ओर चल दिये ॥ ८ ॥

तं श्रुत्वा समनुप्राप्तं रामं दशरथो नृपः।
प्रवेशयामास गृहं विवक्षुः प्रियमुत्तमम् ॥ ९ ॥

श्रीरामको आया हुआ सुनकर राजा दशरथने उनसे प्रिय तथा उत्तम बात कहनेके लिये उन्हें महलके भीतर बुला लिया ॥ ९ ॥

प्रविशन्नेव च श्रीमान् राघवो भवनं पितुः।
ददर्श पितरं दूरात् प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

पिताके भवनमें प्रवेश करते ही श्रीमान् रघुनाथजीने उन्हें देखा और दूरसे ही हाथ जोड़कर वे उनके चरणोंमें पड़ गये ॥ १० ॥

प्रणमन्तं तमुत्थाप्य सम्परिष्वज्य भूमिपः।
प्रदिश्य चासनं चास्मै रामं च पुनरब्रवीत् ॥ ११ ॥

प्रणाम करते हुए श्रीरामको उठाकर महाराजने छातीसे लगा लिया और उन्हें बैठनेके लिये आसन देकर पुनः उनसे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ११ ॥

राम वृद्धोऽस्मि दीर्घायुर्भुक्ता भोगा यथेप्सिताः।
अन्नवद्भिः क्रतुशतैर्यथेष्टं भूरिदक्षिणैः ॥ १२ ॥

'श्रीराम ! अब मैं बूढ़ा हुआ। मेरी आयु बहुत अधिक हो गयी। मैंने बहुत-से मनोवाञ्छित भोग भोग लिये, अन्न और बहुत-सी दक्षिणाओंसे युक्त सैकड़ों यज्ञ भी कर लिये ॥ १२ ॥

जातमिष्टमपत्यं मे त्वमद्यानुपमं भुवि।
दत्तमिष्टमधीतं च मया पुरुषसत्तम ॥ १३ ॥

'पुरुषोत्तम ! तुम मेरे परम प्रिय अभीष्ट संतानके

रूपमें प्राप्त हुए जिसकी इस भूमण्डलमें कहीं उपमा नहीं है, मैंने दान, यज्ञ और स्वाध्याय भी कर लिये ॥ १३ ॥

अनुभूतानि चेष्टानि मया वीर सुखान्यपि।
देवर्षिपितृविप्राणामनृणोऽस्मि तथाऽऽत्मनः ॥ १४ ॥

'वीर ! मैंने अभीष्ट सुखोंका भी अनुभव कर लिया। मैं देवता, ऋषि, पितर और ब्राह्मणोंके तथा अपने ऋणसे भी उऋण हो गया ॥ १४ ॥

न किंचिन्मम कर्तव्यं तवान्यत्राभिषेचनात्।
अतो यत्त्वामहं ब्रूयां तन्मे त्वं कर्तुमर्हसि ॥ १५ ॥

'अब तुम्हें युवराज-पदपर अभिषिक्त करनेके सिवा और कोई कर्तव्य मेरे लिये शेष नहीं रह गया है, अतः मैं तुमसे जो कुछ कहूँ, मेरी उस आज्ञाका तुम्हें पालन करना चाहिये ॥१५॥

अद्य प्रकृतयः सर्वास्त्वामिच्छन्ति नराधिपम्।
अतस्त्वां युवराजानमभिषेक्ष्यामि पुत्रक ॥ १६ ॥

'बेटा ! अब सारी प्रजा तुम्हें अपना राजा बनाना चाहती है, अतः मैं तुम्हें युवराजपदपर अभिषिक्त करूँगा ॥१६ ॥

अपि चाद्याशुभान् राम स्वप्नान् पश्यामि राघव।
सनिर्घाता दिवोल्काश्च पतन्ति हि महास्वनाः ॥ १७ ॥

'रघुकुलनन्दन श्रीराम ! आजकल मुझे बड़े बुरे सपने दिखायी देते हैं। दिनमें वज्रपातके साथ-साथ बड़ा भयंकर शब्द करनेवाली उल्काएँ भी गिर रही हैं ॥ १७ ॥

अवष्टब्धं च मे राम नक्षत्रं दारुणग्रहैः।
आवेदयन्ति दैवज्ञाः सूर्याङ्गारकराहुभिः ॥ १८ ॥

'श्रीराम ! ज्योतिषियोंका कहना है कि मेरे जन्मनक्षत्रको सूर्य, मङ्गल और राहु नामक भयंकर ग्रहोंने आक्रान्त कर लिया है ॥ १८ ॥

प्रायेण च निमित्तानामीदृशानां समुद्भवे।
राजा हि मृत्युमाप्नोति घोरां चापदमृच्छति ॥ १९ ॥

'ऐसे अशुभ लक्षणोंका प्राकट्य होनेपर प्रायः राजा घोर आपत्तिमें पड़ जाता है और अन्ततोगत्वा उसकी मृत्यु भी हो जाती है ॥ १९ ॥

तद् यावदेव मे चेतो न विमुह्यति राघव।
तावदेवाभिषिञ्चस्व चला हि प्राणिनां मतिः ॥ २० ॥

'अतः रघुनन्दन ! जबतक मेरे चित्तमें मोह नहीं छा जाता, तबतक ही तुम युवराज-पदपर अपना अभिषेक करा लो; क्योंकि प्राणियोंकी बुद्धि चञ्चल होती है ॥ २० ॥

अद्य चन्द्रोऽभ्युपगमत् पुष्यात् पूर्वं पुनर्वसुम्।
श्वः पुष्ययोगं नियतं वक्ष्यन्ते दैवचिन्तकाः ॥ २१ ॥

'आज चन्द्रमा पुष्यसे एक नक्षत्र पहले पुनर्वसुपर विराजमान हैं, अतः निश्चय ही कल वे पुष्य नक्षत्रपर रहेंगे— ऐसा ज्योतिषी कहते हैं ॥ २१ ॥

तत्र पुष्येऽभिषिञ्चस्व मनस्त्वरयतीव माम्।
श्वस्त्वाहमभिषेक्ष्यामि यौवराज्ये परंतप ॥ २२ ॥

'इसलिये उस पुष्यनक्षत्रमें ही तुम अपना अभिषेक करा लो। शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! मेरा मन इस कार्यमें बहुत शीघ्रता करनेको कहता है। इस कारण कल अवश्य ही मैं तुम्हारा युवराजपदपर अभिषेक कर दूँगा ॥ २२ ॥

तस्मात् त्वयाद्यप्रभृति निशेयं नियतात्मना।
सह वध्वोपवस्तव्या दर्भप्रस्तरशायिना ॥ २३ ॥

'अतः तुम इस समयसे लेकर सारी रात इन्द्रियसंयम-पूर्वक रहते हुए वधू सीताके साथ उपवास करो और कुशकी शय्यापर सोओ ॥ २३ ॥

सुहृदश्चाप्रमत्तास्त्वां रक्षन्त्वद्य समन्ततः।
भवन्ति बहुविघ्नानि कार्याण्येवंविधानि हि ॥ २४ ॥

'आज तुम्हारे सुहृद् सावधान रहकर सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें; क्योंकि इस प्रकारके शुभ कार्योंमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है ॥ २४ ॥

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम ॥ २५ ॥

'जबतक भरत इस नगरसे बाहर अपने मामाके यहाँ निवास करते हैं, तबतक ही तुम्हारा अभिषेक हो जाना मुझे उचित प्रतीत होता है ॥ २५ ॥

कामं खलु सतां वृत्ते भ्राता ते भरतः स्थितः।
ज्येष्ठानुवर्ती धर्मात्मा सानुक्रोशो जितेन्द्रियः ॥ २६ ॥
किं नु चित्तं मनुष्याणामनित्यमिति मे मतम्।
सतां च धर्मनित्यानां कृतशोभि च राघव ॥ २७ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारे भाई भरत सत्पुरुषोंके आचार-व्यवहारमें स्थित हैं, अपने बड़े भाईका अनुसरण करनेवाले, धर्मात्मा, दयालु और जितेन्द्रिय हैं तथापि मनुष्योंका चित्त प्रायः स्थिर नहीं रहता—ऐसा मेरा मत है। रघुनन्दन ! धर्मपरायण सत्पुरुषोंका मन भी विभिन्न कारणोंसे राग-द्वेषादिसे संयुक्त हो जाता है' ॥ २६-२७ ॥

इत्युक्तः सोऽभ्यनुज्ञातः श्वोभाविन्यभिषेचने।
व्रजेति रामः पितरमभिवाद्याभ्ययाद् गृहम् ॥ २८ ॥

राजाके इस प्रकार कहने और कल होनेवाले राज्याभिषेकके निमित्त व्रतपालनके लिये जानेकी आज्ञा देनेपर श्रीरामचन्द्रजी पिताको प्रणाम करके अपने महलमें गये ॥

प्रविश्य चात्मनो वेश्म राज्ञाऽऽदिष्टेऽभिषेचने।
तत्क्षणादेव निष्क्रम्य मातुरन्तःपुरं ययौ ॥ २९ ॥

राजाने राज्याभिषेकके लिये व्रतपालनके निमित्त जो आज्ञा दी थी, उसे सीताको बतानेके लिये अपने महलके भीतर प्रवेश करके जब श्रीरामने वहाँ सीताको नहीं देखा,

तब वे तत्काल ही वहाँसे निकलकर माताके अन्तःपुरमें चले गये ॥ २९ ॥

तत्र तां प्रवणामेव मातरं क्षौमवासिनीम् ।
वाग्यतां देवतागारे ददर्शायाचतीं श्रियम् ॥ ३० ॥

वहाँ जाकर उन्होंने देखा माता कौसल्या रेशमी वस्त्र पहने मौन हो देवमन्दिरमें बैठकर देवताकी आराधनामें लगी हैं और पुत्रके लिये राजलक्ष्मीकी याचना कर रही हैं ॥ ३० ॥

प्रागेव चागता तत्र सुमित्रा लक्ष्मणस्तथा ।
सीता चानयिता श्रुत्वा प्रियं रामाभिषेचनम् ॥ ३१ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका प्रिय समाचार सुनकर सुमित्रा और लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे तथा बादमें सीता वहीं बुला ली गयी थीं ॥ ३१ ॥

तस्मिन् कालेऽपि कौसल्या तस्थावामीलितेक्षणा ।
सुमित्रयान्वास्यमाना सीतया लक्ष्मणेन च ॥ ३२ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब वहाँ पहुँचे, उस समय भी कौसल्या नेत्र बंद किये ध्यान लगाये बैठी थीं और सुमित्रा, सीता तथा लक्ष्मण उनकी सेवामें खड़े थे ॥ ३२ ॥

श्रुत्वा पुष्ये च पुत्रस्य यौवराज्येऽभिषेचनम् ।
प्राणायामेन पुरुषं ध्यायमाना जनार्दनम् ॥ ३३ ॥

पुष्यनक्षत्रके योगमें पुत्रके युवराजपदपर अभिषिक्त होनेकी बात सुनकर वे उसकी मङ्गलकामनासे प्राणायामके द्वारा परमपुरुष नारायणका ध्यान कर रही थीं ॥ ३३ ॥

तथा सनियमामेव सोऽभिगम्याभिवाद्य च ।
उवाच वचनं रामो हर्षयंस्तामिदं वरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार नियममें लगी हुई माताके निकट उसी अवस्थामें जाकर श्रीरामने उनको प्रणाम किया और उन्हें हर्ष प्रदान करते हुए यह श्रेष्ठ बात कही—॥ ३४ ॥

अम्ब पित्रा नियुक्तोऽस्मि प्रजापालनकर्मणि ।
भविता श्वोऽभिषेको मे यथा मे शासनं पितुः ॥ ३५ ॥
सीतयाप्युपवस्तव्या रजनीयं मया सह ।
एवमुक्तमुपाध्यायैः स हि मामुक्तवान् पिता ॥ ३६ ॥

'माँ ! पिताजीने मुझे प्रजापालनके कर्ममें नियुक्त किया है । कल मेरा अभिषेक होगा । जैसा कि मेरे लिये पिताजीका आदेश है, उसके अनुसार सीताको भी मेरे साथ इस रातमें उपवास करना होगा । उपाध्यायोंने ऐसी ही बात बतायी थी, जिसे पिताजीने मुझसे कहा है ॥ ३५-३६ ॥

यानि यान्यत्र योग्यानि श्वोभाविन्यभिषेचने ।
तानि मे मङ्गलान्यद्य वैदेह्याश्चैव कारय ॥ ३७ ॥

'अतः कल होनेवाले अभिषेकके निमित्तसे आज मेरे और सीताके लिये जो-जो मङ्गलकार्य आवश्यक हों, वे सब कराओ' ॥ ३७ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु कौसल्या चिरकालाभिकाङ्क्षितम् ।
हर्षबाष्पाकुलं वाक्यमिदं राममभाषत ॥ ३८ ॥

चिरकालसे माताके हृदयमें जिस बातकी अभिलाषा थी, उसकी पूर्तिको सूचित करनेवाली यह बात सुनकर माता कौसल्याने आनन्दके आँसू बहाते हुए गद्गद कण्ठसे इस प्रकार कहा—॥ ३८ ॥

वत्स राम चिरं जीव हतास्ते परिपन्थिनः ।
ज्ञातीन् मे त्वं श्रिया युक्तः सुमित्रायाश्च नन्दय ॥ ३९ ॥

'बेटा श्रीराम ! चिरञ्जीवी होओ । तुम्हारे मार्गमें विघ्न डालनेवाले शत्रु नष्ट हो जायँ । तुम राजलक्ष्मीसे युक्त होकर मेरे और सुमित्राके बन्धु-बान्धवोंको आनन्दित करो ॥ ३९ ॥

कल्याणे बत नक्षत्रे मया जातोऽसि पुत्रक ।
येन त्वया दशरथो गुणैराराधितः पिता ॥ ४० ॥

'बेटा ! तुम मेरे द्वारा किसी मङ्गलमय नक्षत्रमें उत्पन्न हुए थे, जिससे तुमने अपने गुणोंद्वारा पिता दशरथको प्रसन्न कर लिया ॥ ४० ॥

अमोघं बत मे क्षान्तं पुरुषे पुष्करेक्षणे ।
येयमिक्ष्वाकुराजश्रीः पुत्र त्वां संश्रयिष्यति ॥ ४१ ॥

'बड़े हर्षकी बात है कि मैंने कमलनयन भगवान् विष्णुकी प्रसन्नताके लिये जो व्रत-उपवास आदि किया था, वह आज सफल हो गया । बेटा ! उसीके फलसे यह इक्ष्वाकुकुलकी राजलक्ष्मी तुम्हें प्राप्त होनेवाली है' ॥ ४१ ॥

इत्येवमुक्तो मात्रा तु रामो भ्रातरमब्रवीत् ।
प्राञ्जलिं प्रह्वमासीनमभिवीक्ष्य स्मयन्निव ॥ ४२ ॥

माताके ऐसा कहनेपर श्रीरामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़े हुए अपने भाई लक्ष्मणकी ओर देखकर मुसकराते हुए-से कहा—॥ ४२ ॥

लक्ष्मणेमां मया सार्धं प्रशाधि त्वं वसुंधराम् ।
द्वितीयं मेऽन्तरात्मानं त्वामियं श्रीरुपस्थिता ॥ ४३ ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे साथ इस पृथ्वीके राज्यका शासन (पालन) करो । तुम मेरे द्वितीय अन्तरात्मा हो । यह राजलक्ष्मी तुम्हींको प्राप्त हो रही है ॥ ४३ ॥

सौमित्रे भुङ्क्ष्व भोगांस्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।
जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमभिकामये ॥ ४४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! तुम अभीष्ट भोगों और राज्यके श्रेष्ठ फलोंका उपभोग करो । तुम्हारे लिये ही मैं इस जीवन तथा राज्यकी अभिलाषा करता हूँ' ॥ ४४ ॥

इत्युक्त्वा लक्ष्मणं रामो मातरावभिवाद्य च ।

अभ्यनुज्ञाप्य सीतां च ययौ स्वं च निवेशनम् ॥ ४५ ॥

लक्ष्मणसे ऐसा कहकर श्रीरामने दोनों माताओंको प्रणाम किया और सीताको भी साथ चलनेकी आज्ञा दिलाकर वे उनको लिये हुए अपने महलमें चले गये ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्थः सर्गः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौथा सर्ग पूरा हुआ ॥ ४ ॥

पञ्चमः सर्गः

राजा दशरथके अनुरोधसे वसिष्ठजीका सीतासहित श्रीरामको उपवासव्रतकी दीक्षा देकर आना और राजाको इस समाचारसे अवगत कराना; राजाका अन्तःपुरमें प्रवेश

संदिश्य रामं नृपतिः श्वोभाविन्यभिषेचने ।
पुरोहितं समाहूय वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

उधर महाराज दशरथ जब श्रीरामचन्द्रजीको दूसरे दिन होनेवाले अभिषेकके विषयमें आवश्यक संदेश दे चुके, तब अपने पुरोहित वसिष्ठजीको बुलाकर बोले—॥ १ ॥

गच्छोपवासं काकुत्स्थं कारयाद्य तपोधन ।
श्रेयसे राज्यलाभाय वध्वा सह यतव्रत ॥ २ ॥

'नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले तपोधन! आप जाइये और विघ्ननिवारणरूप कल्याणकी सिद्धि तथा राज्यकी प्राप्तिके लिये बहूसहित श्रीरामसे उपवासव्रतका पालन कराइये'॥

तथेति च स राजानमुक्त्वा वेदविदां वरः ।
स्वयं वसिष्ठो भगवान् ययौ रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥
उपवासयितुं वीरं मन्त्रविन्मन्त्रकोविदम् ।
ब्राह्मं रथवरं युक्तमास्थाय सुधृतव्रतः ॥ ४ ॥

तब राजासे 'तथास्तु' कहकर वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ तथा उत्तम व्रतधारी स्वयं भगवान् वसिष्ठ मन्त्रवेत्ता वीर श्रीरामको उपवास-व्रतकी दीक्षा देनेके लिये ब्राह्मणके चढ़नेयोग्य जुते-जुताये श्रेष्ठ रथपर आरूढ़ हो श्रीरामके महलकी ओर चल दिये ॥ ३-४ ॥

स रामभवनं प्राप्य पाण्डुराभ्रघनप्रभम् ।
तिस्रः कक्ष्या रथेनैव विवेश मुनिसत्तमः ॥ ५ ॥

श्रीरामका भवन श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल था, उसके पास पहुँचकर मुनिवर वसिष्ठने उसकी तीन ड्योढ़ियोंमें रथके द्वारा ही प्रवेश किया ॥ ५ ॥

तमागतमृषिं रामस्त्वरन्निव ससम्भ्रमम् ।
मानयिष्यन् स मानार्हं निश्चक्राम निवेशनात् ॥ ६ ॥

वहाँ पधारे हुए उन सम्माननीय महर्षिका सम्मान करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजी बड़ी उतावलीके साथ वेगपूर्वक घरसे बाहर निकले ॥ ६ ॥

अभ्येत्य त्वरमाणोऽथ रथाभ्याशं मनीषिणः ।
ततोऽवतारयामास परिगृह्य रथात् स्वयम् ॥ ७ ॥

उन मनीषी महर्षिके रथके समीप शीघ्रतापूर्वक जाकर श्रीरामने स्वयं उनका हाथ पकड़कर उन्हें रथसे नीचे उतारा॥

स चैनं प्रश्रितं दृष्ट्वा सम्भाष्याभिप्रसाद्य च ।
प्रियार्हं हर्षयन् राममित्युवाच पुरोहितः ॥ ८ ॥

श्रीराम प्रिय वचन सुननेके योग्य थे। उन्हें इतना विनीत देखकर पुरोहितजीने 'वत्स!' कहकर पुकारा और उन्हें प्रसन्न करके उनका हर्ष बढ़ाते हुए इस प्रकार कहा—॥

प्रसन्नस्ते पिता राम यत्त्वं राज्यमवाप्स्यसि ।
उपवासं भवानद्य करोतु सह सीतया ॥ ९ ॥

'श्रीराम! तुम्हारे पिता तुमपर बहुत प्रसन्न हैं, क्योंकि तुम्हें उनसे राज्य प्राप्त होगा; अतः आजकी रातमें तुम वधू सीताके साथ उपवास करो ॥ ९ ॥

प्रातस्त्वामभिषेक्ता हि यौवराज्ये नराधिपः ।
पिता दशरथः प्रीत्या ययातिं नहुषो यथा ॥ १० ॥

'रघुनन्दन! जैसे नहुषने ययातिका अभिषेक किया था, उसी प्रकार तुम्हारे पिता महाराज दशरथ कल प्रातःकाल बड़े प्रेमसे तुम्हारा युवराज-पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ १० ॥

इत्युक्त्वा स तदा राममुपवासं यतव्रतः ।
मन्त्रवत् कारयामास वैदेह्या सहितं शुचिः ॥ ११ ॥

ऐसा कहकर उन व्रतधारी एवं पवित्र महर्षिने मन्त्रोच्चारणपूर्वक सीतासहित श्रीरामको उस समय उपवास-व्रतकी दीक्षा दी ॥ ११ ॥

ततो यथावद् रामेण स राज्ञो गुरुरर्चितः ।
अभ्यनुज्ञाप्य काकुत्स्थं ययौ रामनिवेशनात् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने महाराजके भी गुरु वसिष्ठका यथावत् पूजन किया; फिर वे मुनि श्रीरामकी अनुमति ले उनके महलसे बाहर निकले ॥ १२ ॥

सुहृद्भिस्तत्र रामोऽपि सहासीनः प्रियंवदैः ।
सभाजितो विवेशाथताननुज्ञाप्य सर्वशः ॥ १३ ॥

श्रीराम भी वहाँ प्रियवचन बोलनेवाले सुहृदोंके साथ कुछ देरतक बैठे रहे; फिर उनसे सम्मानित हो उन सबकी अनुमति ले पुनः अपने महलके भीतर चले गये ॥ १३ ॥

हृष्टनारीनरयुतं रामवेश्म तदा बभौ ।
यथा मत्तद्विजगणं प्रफुल्लनलिनं सरः ॥ १४ ॥

उस समय श्रीरामका भवन हर्षोत्फुल्ल नर-नारियोंसे भरा हुआ था और मतवाले पक्षियोंके कलरवोंसे युक्त खिले हुए कमलवाले तालाबके समान शोभा पा रहा था ॥ १४ ॥

स राजभवनप्रख्यात् तस्माद् रामनिवेशनात् ।
निर्गत्य ददृशे मार्गं वसिष्ठो जनसंवृतम् ॥ १५ ॥

राजभवनोंमें श्रेष्ठ श्रीरामके महलसे बाहर आकर वसिष्ठजीने सारे मार्ग मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए देखे ॥१५॥

वृन्दवृन्दैरयोध्यायां राजमार्गाः समन्ततः ।
बभूवुरभिसम्बाधाः कुतूहलजनैर्वृताः ॥ १६ ॥

अयोध्याकी सड़कोंपर सब ओर झुंड-के-झुंड मनुष्य, जो श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये उत्सुक थे, खचाखच भरे हुए थे; सारे राजमार्ग उनसे घिरे हुए थे ॥ १६ ॥

जनवृन्दोर्मिसंघर्षहर्षस्वनवृतस्तदा ।
बभूव राजमार्गस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ १७ ॥

जनसमुदायरूपी लहरोंके परस्पर टकरानेसे उस समय जो हर्षध्वनि प्रकट होती थी, उससे व्याप्त हुआ राजमार्गका कोलाहल समुद्रकी गर्जनाकी भाँति सुनायी देता था ॥

सिक्तसम्मृष्टरथ्या हि तथा च वनमालिनी ।
आसीदयोध्या तदहः समुच्छ्रितगृहध्वजा ॥ १८ ॥

उस दिन वन और उपवनोंकी पंक्तियोंसे सुशोभित हुई अयोध्यापुरीके घर-घरमें ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहरा रही थीं; वहाँकी सभी गलियों और सड़कोंको झाड़-बुहारकर वहाँ छिड़काव किया गया था ॥ १८ ॥

तदा ह्ययोध्यानिलयः सस्त्रीबालाकुलो जनः ।
रामाभिषेकमाकाङ्क्षन्नाकाङ्क्षन्नुदयं रवेः ॥ १९ ॥

स्त्रियों और बालकोंसहित अयोध्यावासी जनसमुदाय श्रीरामके राज्याभिषेकको देखनेकी इच्छासे उस समय शीघ्र सूर्योदय होनेकी कामना कर रहा था ॥ १९ ॥

प्रजालंकारभूतं च जनस्यानन्दवर्धनम् ।
उत्सुकोऽभूज्जनो द्रष्टुं तमयोध्यामहोत्सवम् ॥ २० ॥

अयोध्याका वह महान् उत्सव प्रजाओंके लिये अलंकाररूप और सब लोगोंके आनन्दको बढ़ानेवाला था; वहाँके सभी मनुष्य उसे देखनेके लिये उत्कण्ठित हो रहे थे ॥ २० ॥

एवं तज्जनसम्बाधं राजमार्गं पुरोहितः ।
व्यूहन्निव जनौघं तं शनै राजकुलं ययौ ॥ २१ ॥

इस प्रकार मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गपर पहुँचकर पुरोहितजी उस जनसमूहको एक ओर करते हुए-से धीरे-धीरे राजमहलकी ओर गये ॥ २१ ॥

सिताभ्रशिखरप्रख्यं प्रासादमधिरुह्य च ।
समीयाय नरेन्द्रेण शक्रेणेव बृहस्पतिः ॥ २२ ॥

श्वेत जलद-खण्डके समान सुशोभित होनेवाले महलके ऊपर चढ़कर वसिष्ठजी राजा दशरथसे उसी प्रकार मिले जैसे बृहस्पति देवराज इन्द्रसे मिल रहे हों ॥ २२ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य हित्वा राजासनं नृपः ।
पप्रच्छ स्वमतं तस्मै कृतमित्यभिवेदयत् ॥ २३ ॥

उन्हें आया देख राजा सिंहासन छोड़कर खड़े हो गये और पूछने लगे—'मुने ! क्या आपने मेरा अभिप्राय सिद्ध किया ।' वसिष्ठजीने उत्तर दिया—'हाँ ! कर दिया' ॥ २३ ॥

तेन चैव तदा तुल्यं सहासीनाः सभासदः ।
आसनेभ्यः समुत्तस्थुः पूजयन्तः पुरोहितम् ॥ २४ ॥

उनके साथ ही उस समय वहाँ बैठे हुए अन्य सभासद् भी पुरोहितका समादर करते हुए अपने-अपने आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ २४ ॥

गुरुणा त्वभ्यनुज्ञातो मनुजौघं विसृज्य तम् ।
विवेशान्तःपुरं राजा सिंहो गिरिगुहामिव ॥ २५ ॥

तदनन्तर गुरुजीकी आज्ञा ले राजा दशरथने उस जनसमुदायको विदा करके पर्वतकी कन्दरामें घुसनेवाले सिंहके समान अपने अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ २५ ॥

तदग्र्यवेषप्रमदाजनाकुलं
महेन्द्रवेश्मप्रतिमं निवेशनम् ।
व्यदीपयंश्चारु विवेश पार्थिवः
शशीव तारागणसंकुलं नभः ॥ २६ ॥

सुन्दर वेश-भूषा धारण करनेवाली सुन्दरियोंसे भरे हुए इन्द्रसदनके समान उस मनोहर राजभवनको अपनी शोभासे प्रकाशित करते हुए राजा दशरथने उसके भीतर उसी प्रकार प्रवेश किया, जैसे चन्द्रमा ताराओंसे भरे हुए आकाशमें पदार्पण करते हैं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चमः सर्गः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पाँचवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका नियमपरायण होना, हर्षमें भरे पुरवासियोंद्वारा नगरकी सजावट, राजाके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना तथा अयोध्यापुरीमें जनपदवासी मनुष्योंकी भीड़का एकत्र होना

गते पुरोहिते रामः स्नातो नियतमानसः।
सह पत्न्या विशालाक्ष्या नारायणमुपागमत्॥ १ ॥

पुरोहितजीके चले जानेपर मनको संयममें रखनेवाले श्रीरामने स्नान करके अपनी विशाललोचना पत्नीके साथ श्रीनारायणकी उपासना आरम्भ की ॥ १ ॥

प्रगृह्य शिरसा पात्रीं हविषो विधिवत् ततः।
महते दैवतायाज्यं जुहाव ज्वलितानले ॥ २ ॥

उन्होंने हविष्य-पात्रको सिर झुकाकर नमस्कार किया और प्रज्वलित अग्निमें महान् देवता (शेषशायी नारायण) की प्रसन्नताके लिये विधिपूर्वक उस हविष्यकी आहुति दी ॥ २ ॥

शेषं च हविषस्तस्य प्राश्याशास्यात्मनः प्रियम्।
ध्यायन्नारायणं देवं स्वास्तीर्णे कुशसंस्तरे ॥ ३ ॥
वाग्यतः सह वैदेह्या भूत्वा नियतमानसः।
श्रीमत्यायतने विष्णोः शिश्ये नरवरात्मजः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् अपने प्रिय मनोरथकी सिद्धिका संकल्प लेकर उन्होंने उस यज्ञशेष हविष्यका भक्षण किया और मनको संयममें रखकर मौन हो वे राजकुमार श्रीराम विदेहनन्दिनी सीताके साथ भगवान् विष्णुके सुन्दर मन्दिरमें श्रीनारायण देवका ध्यान करते हुए वहाँ अच्छी तरह बिछी हुई कुशकी चटाईपर सोये ॥ ३-४ ॥

एकयामावशिष्टायां रात्र्यां प्रतिविबुध्य सः।
अलंकारविधिं सम्यक् कारयामास वेश्मनः ॥ ५ ॥

जब तीन पहर बीतकर एक ही पहर रात शेष रह गयी, तब वे शयनसे उठ बैठे। उस समय उन्होंने सभामण्डपको सजानेके लिये सेवकोंको आज्ञा दी ॥ ५ ॥

तत्र शृण्वन् सुखा वाचः सूतमागधवन्दिनाम्।
पूर्वां संध्यामुपासीनो जजाप सुसमाहितः ॥ ६ ॥

वहाँ सूत, मागध और बंदियोंकी श्रवणसुखद वाणी सुनते हुए श्रीरामने प्रातःकालिक संध्योपासना की; फिर एकाग्रचित्त होकर वे जप करने लगे ॥ ६ ॥

तुष्टाव प्रणतश्चैव शिरसा मधुसूदनम्।
विमलक्षौमसंवीतो वाचयामास स द्विजान् ॥ ७ ॥

तदनन्तर रेशमी वस्त्र धारण किये हुए श्रीरामने मस्तक झुकाकर भगवान् मधुसूदनको प्रणाम और उनका स्तवन किया; इसके बाद ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया ॥ ७ ॥

तेषां पुण्याहघोषोऽथ गम्भीरमधुरस्तथा।
अयोध्यां पूरयामास तूर्यघोषानुनादितः ॥ ८ ॥

उन ब्राह्मणोंका पुण्याहवाचनसम्बन्धी गम्भीर एवं मधुर घोष नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे व्याप्त होकर सारी अयोध्यापुरीमें फैल गया ॥ ८ ॥

कृतोपवासं तु तदा वैदेह्या सह राघवम्।
अयोध्यानिलयः श्रुत्वा सर्वः प्रमुदितो जनः ॥ ९ ॥

उस समय अयोध्यावासी मनुष्योंने जब यह सुना कि श्रीरामचन्द्रजीने सीताके साथ उपवास-व्रत आरम्भ कर दिया है, तब उन सबको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ९ ॥

ततः पौरजनः सर्वः श्रुत्वा रामाभिषेचनम्।
प्रभातां रजनीं दृष्ट्वा चक्रे शोभयितुं पुरीम् ॥ १० ॥

सबेरा होनेपर श्रीरामके राज्याभिषेकका समाचार सुनकर समस्त पुरवासी अयोध्यापुरीको सजानेमें लग गये ॥

सिताभ्रशिखराभेषु देवतायतनेषु च।
चतुष्पथेषु रथ्यासु चैत्येष्वट्टालकेषु च ॥ ११ ॥
नानापण्यसमृद्धेषु वणिजामापणेषु च।
कुटुम्बिनां समृद्धेषु श्रीमत्सु भवनेषु च ॥ १२ ॥
सभासु चैव सर्वासु वृक्षेष्वालक्षितेषु च।
ध्वजाः समुच्छ्रिताः साधु पताकाश्चाभवंस्तथा ॥ १३ ॥

जिनके शिखरोंपर श्वेत बादल विश्राम करते हैं, उन पर्वतोंके समान गगनचुम्बी देवमन्दिरों, चौराहों, गलियों, देववृक्षों, समस्त सभाओं, अट्टालिकाओं, नाना प्रकारकी बेचने योग्य वस्तुओंसे भरी हुई व्यापारियोंकी बड़ी-बड़ी दूकानों तथा कुटुम्बी गृहस्थोंके सुन्दर समृद्धिशाली भवनोंमें और दूरसे दिखायी देनेवाले वृक्षोंपर भी ऊँची ध्वजाएँ लगायी गयीं और उनमें पताकाएँ फहरायी गयीं ॥ ११—१३ ॥

नटनर्तकसङ्घानां गायकानां च गायताम्।
मनःकर्णसुखा वाचः शुश्राव जनता ततः ॥ १४ ॥

उस समय वहाँकी जनता सब ओर नटों और नर्तकोंके समूहों तथा गानेवाले गायकोंकी मन और कानोंको सुख देनेवाली वाणी सुनती थी ॥ १४ ॥

* ऐसा माना जाता है कि यहाँ नारायण शब्दसे श्रीरङ्गनाथजीकी वह अर्चा-मूर्ति अभिप्रेत है; जो कि पूर्वजोंके समयसे ही दीर्घकालतक अयोध्यामें उपास्य देवताके रूपमें रही। बादमें श्रीरामजीने वह मूर्ति विभीषणको दे दी थी, जिससे वह वर्तमान श्रीरंगक्षेत्रमें पहुँची। इसकी विस्तृत कथा पद्मपुराणमें है।

रामाभिषेकयुक्ताश्च कथाश्चक्रुर्मिथो जनाः।
रामाभिषेके सम्प्राप्ते चत्वरेषु गृहेषु च ॥ १५ ॥

श्रीरामके राज्याभिषेकका शुभ अवसर प्राप्त होनेपर प्रायः सब लोग चौराहोंपर और घरोंमें भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही चर्चा करते थे ॥ १५ ॥

बाला अपि क्रीडमाना गृहद्वारेषु सङ्घशः।
रामाभिषवसंयुक्ताश्चक्रुरेव कथा मिथः ॥ १६ ॥

घरोंके दरवाजोंपर खेलते हुए झुंड-के-झुंड बालक भी आपसमें श्रीरामके राज्याभिषेककी ही बातें करते थे ॥ १६ ॥

कृतपुष्पोपहारश्च धूपगन्धाधिवासितः।
राजमार्गः कृतः श्रीमान् पौरै रामाभिषेचने ॥ १७ ॥

पुरवासियोंने श्रीरामके राज्याभिषेकके समय राजमार्गपर फूलोंकी भेंट चढ़ाकर वहाँ सब ओर धूपकी सुगन्ध फैला दी; ऐसा करके उन्होंने राजमार्गको बहुत सुन्दर बना दिया ॥ १७ ॥

प्रकाशकरणार्थं च निशागमनशङ्कया।
दीपवृक्षांस्तथा चक्रुरनुरथ्यासु सर्वशः ॥ १८ ॥

राज्याभिषेक होते-होते रात हो जानेकी आशङ्कासे प्रकाशकी व्यवस्था करनेके लिये पुरवासियोंने सब ओर सड़कोंके दोनों तरफ वृक्षकी भाँति अनेक शाखाओंसे युक्त दीपस्तम्भ खड़े कर दिये ॥ १८ ॥

अलंकारं पुरस्यैवं कृत्वा तत् पुरवासिनः।
आकाङ्क्षमाणा रामस्य यौवराज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥
समेत्य सङ्घशः सर्वे चत्वरेषु सभासु च।
कथयन्तो मिथस्तत्र प्रशशंसुर्जनाधिपम् ॥ २० ॥

इस प्रकार नगरको सजाकर श्रीरामके युवराजपदपर अभिषेककी अभिलाषा रखनेवाले समस्त पुरवासी चौराहों और सभाओंमें झुंड-के-झुंड एकत्र हो वहाँ परस्पर बातें करते हुए महाराज दशरथकी प्रशंसा करने लगे— ॥ १९-२० ॥

अहो महात्मा राजायमिक्ष्वाकुकुलनन्दनः।
ज्ञात्वा वृद्धं स्वमात्मानं रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २१ ॥

'अहो! इक्ष्वाकुकुलको आनन्दित करनेवाले ये राजा दशरथ बड़े महात्मा हैं, जो कि अपने-आपको बूढ़ा हुआ जानकर श्रीरामका राज्याभिषेक करने जा रहे हैं ॥ २१ ॥

सर्वे ह्यनुगृहीताः स्म यन्नो रामो महीपतिः।
चिराय भविता गोप्ता दृष्टलोकपरावरः ॥ २२ ॥

'भगवान्‌का हम सब लोगोंपर बड़ा अनुग्रह है कि श्रीरामचन्द्रजी हमारे राजा होंगे और चिरकालतक हमारी रक्षा करते रहेंगे; क्योंकि वे समस्त लोकोंके निवासियोंमें जो भलाई या बुराई है, उसे अच्छी तरह देख चुके हैं ॥ २२ ॥

अनुद्धतमना विद्वान् धर्मात्मा भ्रातृवत्सलः।
यथा च भ्रातृषु स्निग्धस्तथास्मास्वपि राघवः ॥ २३ ॥

'श्रीरामका मन कभी उद्धत नहीं होता। वे विद्वान्, धर्मात्मा और अपने भाइयोंपर स्नेह रखनेवाले हैं। उनका अपने भाइयोंपर जैसा स्नेह है, वैसा ही हमलोगोंपर भी है ॥ २३ ॥

चिरं जीवतु धर्मात्मा राजा दशरथोऽनघः।
यत्प्रसादेनाभिषिक्तं रामं द्रक्ष्यामहे वयम् ॥ २४ ॥

'धर्मात्मा एवं निष्पाप राजा दशरथ चिरकालतक जीवित रहें, जिनके प्रसादसे हमें श्रीरामके राज्याभिषेकका दर्शन सुलभ होगा' ॥ २४ ॥

एवंविधं कथयतां पौराणां शुश्रुवुः परे।
दिग्भ्यो विश्रुतवृत्तान्ताः प्राप्ता जानपदा जनाः ॥ २५ ॥

अभिषेकका वृत्तान्त सुनकर नाना दिशाओंसे उस जनपदके लोग भी वहाँ पहुँचे थे, उन्होंने उपर्युक्त बातें कहनेवाले पुरवासियोंकी सभी बातें सुनीं ॥ २५ ॥

ते तु दिग्भ्यः पुरीं प्राप्ता द्रष्टुं रामाभिषेचनम्।
रामस्य पूरयामासुः पुरीं जानपदा जनाः ॥ २६ ॥

वे सब-के-सब श्रीरामका राज्याभिषेक देखनेके लिये अनेक दिशाओंसे अयोध्यापुरीमें आये थे। उन जनपदनिवासी मनुष्योंने श्रीरामपुरीको अपनी उपस्थितिसे भर दिया था ॥ २६ ॥

जनौघैस्तैर्विसर्पद्भिः शुश्रुवे तत्र निःस्वनः।
पर्वसूदीर्णवेगस्य सागरस्येव निःस्वनः ॥ २७ ॥

वहाँ मनुष्योंकी भीड़-भाड़ बढ़नेसे जो जनरव सुनायी देता था, वह पर्वोंके दिन बढ़े हुए वेगवाले महासागरकी गर्जनाके समान जान पड़ता था ॥ २७ ॥

ततस्तदिन्द्रक्षयसंनिभं पुरं
दिदृक्षुभिर्जानपदैरुपाहितैः।
समन्ततः सस्वनमाकुलं बभौ
समुद्रयादोभिरिवार्णवोदकम् ॥ २८ ॥

उस समय श्रीरामके अभिषेकका उत्सव देखनेके लिये पधारे हुए जनपदवासी मनुष्योंद्वारा सब ओरसे भरा हुआ वह इन्द्रपुरीके समान नगर अत्यन्त कोलाहलपूर्ण होनेके कारण मकर, नक्र, तिमिङ्गल आदि विशाल जल-जन्तुओंसे परिपूर्ण महासागरके समान प्रतीत होता था ॥ २८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षष्ठः सर्गः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छठा सर्ग पूरा हुआ ॥ ६ ॥

सप्तमः सर्गः

श्रीरामके अभिषेकका समाचार पाकर खिन्न हुई मन्थराका कैकेयीको उभाड़ना, परंतु प्रसन्न हुई कैकेयीका उसे पुरस्काररूपमें आभूषण देना और वर माँगनेके लिये प्रेरित करना

ज्ञातिदासी यतोजाता कैकेय्या तु सहोषिता।
प्रासादं चन्द्रसंकाशमारुरोह यदृच्छया ॥ १ ॥

रानी कैकेयीके पास एक दासी थी, जो उसके मायकेसे आयी हुई थी। वह सदा कैकेयीके ही साथ रहा करती थी। उसका जन्म कहाँ हुआ था? उसके देश और माता-पिता कौन थे? इसका पता किसीको नहीं था। अभिषेकसे एक दिन पहले वह स्वेच्छासे ही कैकेयीके चन्द्रमाके समान कान्तिमान् महलकी छतपर जा चढ़ी ॥ १ ॥

सिक्तराजपथां कृत्स्नां प्रकीर्णकमलोत्पलाम्।
अयोध्यां मन्थरा तस्मात् प्रासादादन्ववैक्षत ॥ २ ॥

उस दासीका नाम था—मन्थरा। उसने उस महलकी छतसे देखा—अयोध्याकी सड़कोंपर छिड़काव किया गया है और सारी पुरीमें यत्र-तत्र खिले हुए कमल और उत्पल बिखेरे गये हैं ॥ २ ॥

पताकाभिर्वराहाभिर्ध्वजैश्च समलंकृताम्।
सिक्तां चन्दनतोयैश्च शिरःस्नातजनैर्युताम् ॥ ३ ॥

सब ओर बहुमूल्य पताकाएँ फहरा रही हैं। ध्वजाओंसे इस पुरीकी अपूर्व शोभा हो रही है। राजमार्गोंपर चन्दन-मिश्रित जलका छिड़काव किया गया है तथा अयोध्यापुरीके सब लोग उबटन लगाकर सिरके ऊपरसे स्नान किये हुए हैं ॥ ३ ॥

माल्यमोदकहस्तैश्च द्विजेन्द्रैरभिनादिताम्।
शुक्लदेवगृहद्वारां सर्ववादित्रनादिताम् ॥ ४ ॥
सम्प्रहृष्टजनाकीर्णां ब्रह्मघोषनिनादिताम्।
प्रहृष्टवरहस्त्यश्वां सम्प्रणर्दितगोवृषाम् ॥ ५ ॥

श्रीरामके दिये हुए माल्य और मोदक हाथमें लिये श्रेष्ठ ब्राह्मण हर्षनाद कर रहे हैं, देवमन्दिरोंके दरवाजे चूने और चन्दन आदिसे लीपकर सफेद एवं सुन्दर बनाये गये हैं, सब प्रकारके बाजोंकी मनोहर ध्वनि हो रही है, अत्यन्त हर्षमें भरे हुए मनुष्योंसे सारा नगर परिपूर्ण है और चारों ओर वेद-पाठकोंकी ध्वनि गूँज रही है, श्रेष्ठ हाथी और घोड़े हर्षसे उत्फुल्ल दिखायी देते हैं तथा गाय-बैल प्रसन्न होकर रँभा रहे हैं ॥ ४-५ ॥

हृष्टप्रमुदितैः पौरैरुच्छ्रितध्वजमालिनीम्।
अयोध्यां मन्थरा दृष्ट्वा परं विस्मयमागता ॥ ६ ॥

सारे नगरनिवासी हर्षजनित रोमाञ्चसे युक्त और आनन्द-मग्न हैं तथा नगरमें सब ओर श्रेणीबद्ध ऊँचे-ऊँचे ध्वज फहरा रहे हैं। अयोध्याकी ऐसी शोभाको देखकर मन्थराको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ६ ॥

सा हर्षोत्फुल्लनयनां पाण्डुरक्षौमवासिनीम्।
अविदूरे स्थितां दृष्ट्वा धात्रीं पप्रच्छ मन्थरा ॥ ७ ॥

उसने पासके ही कोठेपर रामकी धायको खड़ी देखा, उसके नेत्र प्रसन्नतासे खिले हुए थे और शरीरपर पीले रंगकी रेशमी साड़ी शोभा पा रही थी। उसे देखकर मन्थराने उससे पूछा—॥ ७ ॥

उत्तमेनाभिसंयुक्ता हर्षेणार्थपरा सती।
राममाता धनं किं नु जनेभ्यः सम्प्रयच्छति ॥ ८ ॥
अतिमात्रं प्रहर्षः किं जनस्यास्य च शंस मे।
कारयिष्यति किं वापि सम्प्रहृष्टो महीपतिः ॥ ९ ॥

'धाय! आज श्रीरामचन्द्रजीकी माता अपने किसी अभीष्ट मनोरथके साधनमें तत्पर हो अत्यन्त हर्षमें भरकर लोगोंको धन क्यों बाँट रही हैं? आज यहाँके सभी मनुष्योंको इतनी अधिक प्रसन्नता क्यों है? इसका कारण मुझे बताओ! आज महाराज दशरथ अत्यन्त प्रसन्न होकर कौन-सा कर्म करायेंगे' ॥ ८-९ ॥

विदीर्यमाणा हर्षेण धात्री तु परया मुदा।
आचचक्षेऽथ कुब्जायै भूयसीं राघवे श्रियम् ॥ १० ॥
श्वः पुष्येण जितक्रोधं यौवराज्येन चानघम्।
राजा दशरथो राममभिषेक्ता हि राघवम् ॥ ११ ॥

श्रीरामकी धाय तो हर्षसे फूली नहीं समाती थी, उसने कुब्जाके पूछनेपर बड़े आनन्दके साथ उसे बताया—'कुब्जे! रघुनाथजीको बहुत बड़ी सम्पत्ति प्राप्त होनेवाली है। कल महाराज दशरथ पुष्य नक्षत्रके योगमें क्रोधको जीतनेवाले, पापरहित, रघुकुलनन्दन श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे' ॥ १०-११ ॥

धात्र्यास्तु वचनं श्रुत्वा कुब्जा क्षिप्रममर्षिता।
कैलासशिखराकारात् प्रासादादवरोहत ॥ १२ ॥

धायका यह वचन सुनकर कुब्जा मन-ही-मन कुढ़ गयी और उस कैलास-शिखरकी भाँति उज्ज्वल एवं गगनचुम्बी प्रासादसे तुरंत ही नीचे उतर गयी ॥ १२ ॥

सा दह्यमाना कोपेन मन्थरा पापदर्शिनी।
शयानामेव कैकेयीमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १३ ॥

मन्थराको इसमें कैकेयीका अनिष्ट दिखायी देता था, वह क्रोधसे जल रही थी। उसने महलमें लेटी हुई कैकेयीके पास जाकर इस प्रकार कहा—॥ १३ ॥

उत्तिष्ठ मूढे किं शेषे भयं त्वामभिवर्तते ।
उपप्लुतमघौघेन नात्मानमवबुध्यसे ॥ १४ ॥

'मूर्खे ! उठ । क्या सो रही है ? तुझपर बड़ा भारी भय आ रहा है। अरी ! तेरे ऊपर विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है, फिर भी तुझे अपनी इस दुरवस्थाका बोध नहीं होता !॥१४॥

अनिष्टे सुभगाकारे सौभाग्येन विकत्थसे ।
चलं हि तव सौभाग्यं नद्याः स्रोत इवोष्णगे ॥ १५ ॥

'तेरे प्रियतम तेरे सामने ऐसा आकार बनाये आते हैं मानो सारा सौभाग्य तुझे ही अर्पित कर देते हों, परंतु पीठ-पीछे वे तेरा अनिष्ट करते हैं । तू उन्हें अपनेमें अनुरक्त जानकर सौभाग्यकी डींग हाँका करती है, परंतु जैसे ग्रीष्म ऋतुमें नदीका प्रवाह सूखता चला जाता है, उसी प्रकार तेरा वह सौभाग्य अब अस्थिर हो गया है—तेरे हाथसे चला जाना चाहता है !' ॥ १५ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी रुष्टया परुषं वचः ।
कुब्जया पापदर्शिन्या विषादमगमत् परम् ॥ १६ ॥

इष्टमें भी अनिष्टका दर्शन करानेवाली रोषभरी कुब्जाके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर कैकेयीके मनमें बड़ा दुःख हुआ ॥ १६ ॥

कैकेयी त्वब्रवीत् कुब्जां कच्चित् क्षेमं न मन्थरे ।
विषण्णवदनां हि त्वां लक्षये भृशदुःखिताम् ॥ १७ ॥

उस समय केकयराजकुमारीने कुब्जासे पूछा—'मन्थरे ! कोई अमङ्गलकी बात तो नहीं हो गयी; क्योंकि तेरे मुखपर विषाद छा रहा है और तू मुझे बहुत दुखी दिखायी देती है' ॥ १७ ॥

मन्थरा तु वचः श्रुत्वा कैकेय्या मधुराक्षरम् ।
उवाच क्रोधसंयुक्ता वाक्यं वाक्यविशारदा ॥ १८ ॥
सा विषण्णतरा भूत्वा कुब्जा तस्यां हितैषिणी ।
विषादयन्ती प्रोवाच भेदयन्ती च राघवम् ॥१९॥

मन्थरा बातचीत करनेमें बड़ी कुशल थी, वह कैकेयीके मीठे वचन सुनकर और भी खिन्न हो गयी, उसके प्रति अपनी हितैषिता प्रकट करती हुई कुपित हो उठी और कैकेयीके मनमें श्रीरामके प्रति भेदभाव और विषाद उत्पन्न करती हुई इस प्रकार बोली—॥ १८-१९ ॥

अक्षयं सुमहद् देवि प्रवृत्तं त्वद्विनाशनम् ।
रामं दशरथो राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २० ॥

'देवि ! तुम्हारे सौभाग्यके महान् विनाशका कार्य आरम्भ हो गया है, जिसका कोई प्रतीकार नहीं है । कल महाराज दशरथ श्रीरामको युवराजके पदपर अभिषिक्त कर देंगे ॥ २० ॥

सास्म्यगाधे भये मग्ना दुःखशोकसमन्विता ।
दह्यमानानलेनेव त्वद्धितार्थमिहागता ॥ २१ ॥

'यह समाचार पाकर मैं दुःख और शोकसे व्याकुल हो अगाध भयके समुद्रमें डूब गयी हूँ, चिन्ताकी आगसे मानो जली जा रही हूँ और तुम्हारे हितकी बात बतानेके लिये यहाँ आयी हूँ ॥ २१ ॥

तव दुःखेन कैकेयि मम दुःखं महद् भवेत् ।
त्वद्वृद्धौ मम वृद्धिश्च भवेदिह न संशयः ॥ २२॥

'केकयनन्दिनि ! यदि तुमपर कोई दुःख आया तो उससे मुझे भी बड़े भारी दुःखमें पड़ना होगा। तुम्हारी उन्नतिमें ही मेरी भी उन्नति है, इसमें संशय नहीं है ॥ २२ ॥

नराधिपकुले जाता महिषी त्वं महीपतेः ।
उग्रत्वं राजधर्माणां कथं देवि न बुध्यसे ॥ २३॥

'देवि ! तुम राजाओंके कुलमें उत्पन्न हुई हो और एक महाराजकी महारानी हो, फिर भी राजधर्मोंकी उग्रताको कैसे नहीं समझ रही हो ?॥ २३ ॥

धर्मवादी शठो भर्ता श्लक्ष्णवादी च दारुणः ।
शुद्धभावेन जानीषे तेनैवमतिसंधिता ॥ २४॥

'तुम्हारे स्वामी धर्मकी बातें तो बहुत करते हैं, परंतु हैं बड़े शठ । मुँहसे चिकनी-चुपड़ी बातें करते हैं, परंतु हृदयके बड़े क्रूर हैं । तुम समझती हो कि वे सारी बातें शुद्ध भावसे ही कहते हैं, इसीलिये आज उनके द्वारा तुम बेतरह ठगी गयी ॥ २४ ॥

उपस्थितः प्रयुञ्जानस्त्वयि सान्त्वमनर्थकम् ।
अर्थेनैवाद्य ते भर्ता कौसल्यां योजयिष्यति ॥ २५॥

'तुम्हारे पति तुम्हें व्यर्थ सान्त्वना देनेके लिये यहाँ उपस्थित होते हैं, वे ही अब रानी कौसल्याको अर्थसे सम्पन्न करने जा रहे हैं ॥ २५ ॥

अपवाह्य तु दुष्टात्मा भरतं तव बन्धुषु ।
काल्ये स्थापयिता रामं राज्ये निहतकण्टके ॥ २६॥

'उनका हृदय इतना दूषित है कि भरतको तो उन्होंने तुम्हारे मायके भेज दिया और कल सबेरे ही अवध के निष्कण्टक राज्यपर वे श्रीरामका अभिषेक करेंगे ॥ २६ ॥

शत्रुः पतिप्रवादेन मात्रेव हितकाम्यया ।
आशीविष इवाङ्केन बाले परिधृतस्त्वया ॥ २७॥

'बाले ! जैसे माता हितकी कामनासे पुत्रका पोषण करती है, उसी प्रकार 'पति' कहलानेवाले जिस व्यक्तिका तुमने पोषण किया है, वह वास्तवमें शत्रु निकला । जैसे कोई अज्ञानवश सर्पको अपनी गोदमें लेकर उसका लालन करे, उसी प्रकार तुमने उन सर्पवत् बर्ताव करनेवाले महाराजको अपने अङ्कमें स्थान दिया है ॥ २७ ॥

यथा हि कुर्याच्छत्रुर्वा सर्पो वा प्रत्युपेक्षितः ।
राज्ञा दशरथेनाद्य सपुत्रा त्वं तथा कृता ॥ २८॥

'उपेक्षित शत्रु अथवा सर्प जैसा बर्ताव कर सकता है, राजा दशरथने आज पुत्रसहित तुझ कैकेयीके प्रति वैसा ही बर्ताव किया है ॥ २८ ॥

पापेनानृतसान्त्वेन बाले नित्यं सुखोचिता।
रामं स्थापयता राज्ये सानुबन्धा हता ह्यसि ॥ २९ ॥

'बाले ! तुम सदा सुख भोगनेके योग्य हो, परंतु मनमें पाप (दुर्भावना) रखकर ऊपरसे झूठी सान्त्वना देनेवाले महाराजने अपने राज्यपर श्रीरामको स्थापित करनेका विचार करके आज सगे-सम्बन्धियोंसहित तुमको मानो मौतके मुखमें डाल दिया है ॥ २९ ॥

सा प्राप्तकालं कैकेयि क्षिप्रं कुरु हितं तव।
त्रायस्व पुत्रमात्मानं मां च विस्मयदर्शने ॥ ३० ॥

'केकयराजकुमारी ! तुम दुःखजनक बात सुनकर भी मेरी ओर इस तरह देख रही हो, मानो तुम्हें प्रसन्नता हुई हो और मेरी बातोंसे तुम्हें विस्मय हो रहा हो; परंतु यह विस्मय छोड़ो और जिसे करनेका समय आ गया है, अपने उस हितकर कार्यको शीघ्र करो तथा ऐसा करके अपनी, अपने पुत्रकी और मेरी भी रक्षा करो' ॥ ३० ॥

मन्थराया वचः श्रुत्वा शयनात् सा शुभानना।
उत्तस्थौ हर्षसम्पूर्णा चन्द्रलेखेव शारदी ॥ ३१ ॥

मन्थराकी यह बात सुनकर सुन्दर मुखवाली कैकेयी सहसा शय्यासे उठ बैठी। उसका हृदय हर्षसे भर गया। वह शरत्पूर्णिमाके चन्द्रमण्डलकी भाँति उद्दीप्त हो उठी ॥

अतीव सा तु संतुष्टा कैकेयी विस्मयान्विता।
दिव्यमाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रददौ शुभम् ॥ ३२ ॥

कैकेयी मन-ही-मन अत्यन्त संतुष्ट हुई। विस्मयविमुग्ध हो मुसकराते हुए उसने कुब्जाको पुरस्कारके रूपमें एक बहुत सुन्दर दिव्य आभूषण प्रदान किया ॥ ३२ ॥

दत्त्वा त्वाभरणं तस्यै कुब्जायै प्रमदोत्तमा।
कैकेयी मन्थरां हृष्टा पुनरेवाब्रवीदिदम् ॥ ३३ ॥
इदं तु मन्थरे मह्यमाख्यातं परमं प्रियम्।
एतन्मे प्रियमाख्यातं किं वा भूयः करोमि ते ॥ ३४ ॥

कुब्जाको वह आभूषण देकर हर्षसे भरी हुई रमणी-शिरोमणि कैकेयीने पुनः मन्थरासे इस प्रकार कहा—'मन्थरे! यह तूने मुझे बड़ा ही प्रिय समाचार सुनाया। तूने मेरे लिये जो यह प्रिय संवाद सुनाया, इसके लिये मैं तेरा और कौन-सा उपकार करूँ ॥ ३३-३४ ॥

रामे वा भरते वाहं विशेषं नोपलक्षये।
तस्मात् तुष्टास्मि यद् राजा रामं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥

'मैं भी राम और भरतमें कोई भेद नहीं समझती। अतः यह जानकर कि राजा श्रीरामका अभिषेक करनेवाले हैं, मुझे बड़ी खुशी हुई है ॥ ३५ ॥

न मे परं किंचिदितो वरं पुनः
प्रियं प्रियार्हे सुवचं वचोऽमृतम्।
तथा ह्यवोचस्त्वमतः प्रियोत्तरं
वरं परं ते प्रददामि तं वृणु ॥ ३६ ॥

'मन्थरे ! तू मुझसे प्रिय वस्तु पानेके योग्य है। मेरे लिये श्रीरामके अभिषेकसम्बन्धी इस समाचारसे बढ़कर दूसरा कोई प्रिय एवं अमृतके समान मधुर वचन नहीं कहा जा सकता। ऐसी परम प्रिय बात तुमने कही है; अतः अब यह प्रिय संवाद सुनानेके बाद तू कोई श्रेष्ठ वर माँग ले, मैं उसे अवश्य दूँगी' ॥ ३६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तमः सर्गः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सातवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ७ ॥

अष्टमः सर्गः

मन्थराका पुनः श्रीरामके राज्याभिषेकको कैकेयीके लिये अनिष्टकारी बताना, कैकेयीका श्रीरामके गुणोंको बताकर उनके अभिषेकका समर्थन करना तत्पश्चात् कुब्जाका पुनः श्रीराम-राज्यको भरतके लिये भयजनक बताकर कैकेयीको भड़काना

मन्थरा त्वभ्यसूय्यैनामुत्सृज्याभरणं हि तत्।
उवाचेदं ततो वाक्यं कोपदुःखसमन्विता ॥ १ ॥

यह सुनकर मन्थराने कैकेयीकी निन्दा करके उसके दिये हुए आभूषणको उठाकर फेंक दिया और कोप तथा दुःखसे भरकर वह इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

हर्षं किमर्थमस्थाने कृतवत्यसि बालिशे।
शोकसागरमध्यस्थं नात्मानमवबुध्यसे ॥ २ ॥

'रानी ! तुम बड़ी नादान हो। अहो ! तुमने यह बेमौके हर्ष किसलिये प्रकट किया ? तुम्हें शोकके स्थानपर प्रसन्नता कैसे हो रही है ? अरी ! तुम शोकके समुद्रमें डूबी हुई हो, तो भी तुम्हें अपनी इस विपन्नावस्थाका बोध नहीं हो रहा है ॥

मनसा प्रसहामि त्वां देवि दुःखार्दिता सती।
यच्छोचितव्ये हृष्टासि प्राप्य त्वं व्यसनं महत् ॥ ३ ॥

'देवि ! महान् संकटमें पड़नेपर जहाँ तुम्हें शोक होना

चाहिये, वहीं हर्ष हो रहा है। तुम्हारी यह अवस्था देखकर मुझे मन-ही-मन बड़ा क्लेश सहन करना पड़ता है। मैं दुःख-से व्याकुल हुई जाती हूँ ॥ ३ ॥

शोचामि दुर्मतित्वं ते का हि प्राज्ञा प्रहर्षयेत्।
अरेः सपत्नीपुत्रस्य वृद्धिं मृत्योरिवागताम्॥ ४ ॥

'मुझे तुम्हारी दुर्बुद्धिके लिये ही अधिक शोक होता है। अरी! सौतका बेटा शत्रु होता है। वह सौतेली माँके लिये साक्षात् मृत्युके समान है। भला, उसके अभ्युदयका अवसर आया देख कौन बुद्धिमती स्त्री अपने मनमें हर्ष मानेगी ॥

भरतादेव रामस्य राज्यसाधारणाद् भयम्।
तद् विचिन्त्य विषण्णास्मि भयं भीताद्धि जायते ॥५॥

'यह राज्य भरत और राम दोनोंके लिये साधारण भोग्य-वस्तु है, इसपर दोनोंका समान अधिकार है, इसलिये श्रीरामको भरतसे ही भय है। यही सोचकर मैं विषादमें डूबी जाती हूँ; क्योंकि भयभीतसे ही भय प्राप्त होता है अर्थात् आज जिसे भय है, वही राज्य प्राप्त कर लेनेपर जब सबल हो जायगा, तब अपने भयके हेतुको उखाड़ फेंकेगा ॥ ५ ॥

लक्ष्मणो हि महाबाहू रामं सर्वात्मना गतः।
शत्रुघ्नश्चापि भरतं काकुत्स्थं लक्ष्मणो यथा ॥ ६ ॥

'महाबाहु लक्ष्मण सम्पूर्ण हृदयसे श्रीरामचन्द्रजीके अनुगत हैं। जैसे लक्ष्मण श्रीरामके अनुगत हैं, उसी तरह शत्रुघ्न भी भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ ६ ॥

प्रत्यासन्नक्रमेणापि भरतस्यैव भामिनि।
राज्यक्रमो विसृष्टस्तु तयोस्तावद्यवीयसोः ॥ ७ ॥

'भामिनि! 'उत्पत्तिके क्रमसे श्रीरामके बाद भरतका ही पहले राज्यपर अधिकार हो सकता है (अतः भरतसे भय होना स्वाभाविक है)। लक्ष्मण और शत्रुघ्न तो छोटे हैं; अतः उनके लिये राज्यप्राप्तिकी सम्भावना दूर है ॥ ७ ॥

विदुषः क्षत्रचारित्रे प्राज्ञस्य प्राप्तकारिणः।
भयात् प्रवेपे रामस्य चिन्तयन्ती तवात्मजम् ॥ ८ ॥

'श्रीराम समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं, विशेषतः क्षत्रिय-चरित्र (राजनीति) के पण्डित हैं तथा समयोचित कर्तव्यका पालन करनेवाले हैं; अतः उनका तुम्हारे पुत्रके प्रति जो क्रूरतापूर्ण बर्ताव होगा, उसे सोचकर मैं भयसे काँप उठती हूँ॥

सुभगा किल कौसल्या यस्याः पुत्रोऽभिषेक्ष्यते।
यौवराज्येन महता श्वः पुष्येण द्विजोत्तमैः ॥ ९ ॥

'वास्तवमें कौसल्या ही सौभाग्यवती हैं, जिनके पुत्रका कल पुष्यनक्षत्रके योगमें श्रेष्ठ ब्राह्मणोंद्वारा युवराजके महान् पदपर अभिषेक होने जा रहा है ॥ ९ ॥

प्राप्तां वसुमतीं प्रीतिं प्रतीतां हतविद्विषम्।
उपस्थास्यसि कौसल्यां दासीवत् त्वं कृताञ्जलिः ॥ १० ॥

'वे भूमण्डलका निष्कण्टक राज्य पाकर प्रसन्न होंगी; क्योंकि वे राजाकी विश्वासपात्र हैं और तुम दासीकी भाँति हाथ जोड़कर उनकी सेवामें उपस्थित होओगी ॥ १० ॥

एवं च त्वं सहास्माभिस्तस्याः प्रेष्या भविष्यसि।
पुत्रश्च तव रामस्य प्रेष्यत्वं हि गमिष्यति ॥ ११ ॥

'इस प्रकार हमलोगोंके साथ तुम भी कौसल्याकी दासी बनोगी और तुम्हारे पुत्र भरतको भी श्रीरामचन्द्रजीकी गुलामी करनी पड़ेगी ॥ ११ ॥

हृष्टाः खलु भविष्यन्ति रामस्य परमाः स्त्रियः।
अप्रहृष्टा भविष्यन्ति स्नुषास्ते भरतक्षये ॥ १२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजीके अन्तःपुरकी परम सुन्दरी स्त्रियाँ—सीतादेवी और उनकी सखियाँ निश्चय ही बहुत प्रसन्न होंगी और भरतके प्रभुत्वका नाश होनेसे तुम्हारी बहुएँ शोकमग्न हो जायँगी' ॥ १२ ॥

तां दृष्ट्वा परमप्रीतां ब्रुवन्तीं मन्थरां ततः।
रामस्यैव गुणान् देवी कैकेयी प्रशशंस ह ॥ १३ ॥

मन्थराको अत्यन्त अप्रसन्नताके कारण इस प्रकार बहकी-बहकी बातें करती देख देवी कैकेयीने श्रीरामके गुणोंकी ही प्रशंसा करते हुए कहा—॥ १३ ॥

धर्मज्ञो गुणवान् दान्तः कृतज्ञः सत्यवाञ्छुचिः।
रामो राजसुतो ज्येष्ठो यौवराज्यमतोऽर्हति ॥ १४ ॥

'कुब्जे! श्रीराम धर्मके ज्ञाता, गुणवान्, जितेन्द्रिय, कृतज्ञ, सत्यवादी और पवित्र होनेके साथ ही महाराजके ज्येष्ठ पुत्र हैं; अतः युवराज होनेके योग्य वे ही हैं ॥ १४ ॥

भ्रातॄन् भृत्यांश्च दीर्घायुः पितृवत् पालयिष्यति।
संतप्यसे कथं कुब्जे श्रुत्वा रामाभिषेचनम् ॥ १५ ॥

'वे दीर्घजीवी होकर अपने भाइयों और भृत्योंका पिताकी भाँति पालन करेंगे। कुब्जे! उनके अभिषेककी बात सुनकर तू इतनी जल क्यों रही है? ॥ १५ ॥

भरतश्चापि रामस्य ध्रुवं वर्षशतात् परम्।
पितृपैतामहं राज्यमवाप्स्यति नरर्षभः ॥ १६ ॥

'श्रीरामकी राज्यप्राप्तिके सौ वर्ष बाद नरश्रेष्ठ भरतको भी निश्चय ही अपने पिता-पितामहोंका राज्य मिलेगा ॥ १६ ॥

सा त्वमभ्युदये प्राप्ते दह्यमानेव मन्थरे।
भविष्यति च कल्याणे किमिदं परितप्यसे ॥ १७ ॥

'मन्थरे! ऐसे अभ्युदयकी प्राप्तिके समय, जब कि भविष्यमें कल्याण-ही-कल्याण दिखायी दे रहा है, तू इस प्रकार जलती हुई-सी संतप्त क्यों हो रही है? ॥ १७ ॥

यथा वै भरतो मान्यस्तथा भूयोऽपि राघवः।
कौसल्यातोऽतिरिक्तं च मम शुश्रूषते बहु ॥ १८ ॥

'मेरे लिये जैसे भरत आदरके पात्र हैं, वैसे ही बल्कि

उनसे भी बढ़कर श्रीराम हैं; क्योंकि वे कौसल्यासे भी बढ़कर मेरी बहुत सेवा किया करते हैं ॥ १८ ॥

राज्यं यदि हि रामस्य भरतस्यापि तत् तदा ।
मन्यते हि यथाऽऽत्मानं यथा भ्रातृंस्तु राघवः ॥ १९ ॥

'यदि श्रीरामको राज्य मिल रहा है तो उसे भरतको मिला हुआ समझ; क्योंकि श्रीरामचन्द्र अपने भाइयोंको भी अपने ही समान समझते हैं' ॥ १९ ॥

कैकेय्या वचनं श्रुत्वा मन्थरा भृशदुःखिता ।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ २० ॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर मन्थराको बड़ा दुःख हुआ। वह लंबी और गरम साँस खींचकर कैकेयीसे बोली— ॥ २० ॥

अनर्थदर्शिनी मौर्ख्यान्नात्मानमवबुध्यसे ।
शोकव्यसनविस्तीर्णे मज्जन्ती दुःखसागरे ॥ २१ ॥

'रानी! तुम मूर्खतावश अनर्थको ही अर्थ समझ रही हो। तुम्हें अपनी स्थितिका पता नहीं है। तुम दुःखके उस महासागरमें डूब रही हो, जो शोक (इष्टसे वियोगकी चिन्ता) और व्यसन (अनिष्टकी प्राप्तिके दुःख) से महान् विस्तारको प्राप्त हो रहा है ॥ २१ ॥

भविता राघवो राजा राघवस्य च यः सुतः ।
राजवंशात्तु भरतः कैकेयि परिहास्यते ॥ २२ ॥

'केकयराजकुमारी! जब श्रीरामचन्द्र राजा हो जायँगे, तब उनके बाद उनका जो पुत्र होगा, उसीको राज्य मिलेगा। भरत तो राजपरम्परासे अलग हो जायँगे ॥ २२ ॥

नहि राज्ञः सुताः सर्वे राज्ये तिष्ठन्ति भामिनि ।
स्थाप्यमानेषु सर्वेषु सुमहाननयो भवेत् ॥ २३ ॥

'भामिनि! राजाके सभी पुत्र राज्यसिंहासनपर नहीं बैठते हैं; यदि सबको बिठा दिया जाय तो बड़ा भारी अनर्थ हो जाय ॥ २३ ॥

तस्माज्ज्येष्ठे हि कैकेयि राज्यतन्त्राणि पार्थिवाः ।
स्थापयन्त्यनवद्याङ्गि गुणवत्स्वितरेष्वपि ॥ २४ ॥

'परमसुन्दरी केकयनन्दिनि! इसीलिये राजालोग राज-काजका भार ज्येष्ठ पुत्रपर ही रखते हैं। यदि ज्येष्ठ पुत्र गुणवान् न हो तो दूसरे गुणवान् पुत्रोंको भी राज्य सौंप देते हैं ॥ २४ ॥

असावत्यन्तनिर्भग्नस्तव पुत्रो भविष्यति ।
अनाथवत् सुखेभ्यश्च राजवंशाच्च वत्सले ॥ २५ ॥

'पुत्रवत्सले! तुम्हारा पुत्र राज्यके अधिकारसे तो बहुत दूर हटा ही दिया जायगा, वह अनाथकी भाँति समस्त सुखोंसे भी वञ्चित हो जायगा ॥ २५ ॥

साहं त्वदर्थे सम्प्राप्ता त्वं तु मां नावबुद्ध्यसे ।
सपत्निवृद्धौ या मे त्वं प्रदेयं दातुमर्हसि ॥ २६ ॥

'इसलिये मैं तुम्हारे ही हितकी बात सुझानेके लिये यहाँ आयी हूँ; परंतु तुम मेरा अभिप्राय तो समझती नहीं, उलटे सौतका अभ्युदय सुनकर मुझे पारितोषिक देने चली हो ॥ २६ ॥

ध्रुवं तु भरतं रामः प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
देशान्तरं नाययिता लोकान्तरमथापि वा ॥ २७ ॥

'याद रखो, यदि श्रीरामको निष्कण्टक राज्य मिल गया तो वे भरतको अवश्य ही इस देशसे बाहर निकाल देंगे अथवा उन्हें परलोकमें भी पहुँचा सकते हैं ॥ २७ ॥

बाल एव तु मातुलयं भरतो नायितस्त्वया ।
संनिकर्षाच्च सौहार्दं जायते स्थावरेष्विव ॥ २८ ॥

'छोटी अवस्थामें ही तुमने भरतको मामाके घर भेज दिया। निकट रहनेसे सौहार्द उत्पन्न होता है। यह बात स्थावर योनियोंमें भी देखी जाती है (लता और वृक्ष आदि एक दूसरेके निकट होनेपर परस्पर आलिङ्गन-पाशमें बद्ध हो जाते हैं। यदि भरत यहाँ होते तो राजाका उनमें भी समानरूपसे स्नेह बढ़ता; अतः वे उन्हें भी आधा राज्य दे देते) ॥ २८ ॥

भरतानुवशात् सोऽपि शत्रुघ्नस्तत्समं गतः ।
लक्ष्मणो हि यथा रामं तथायं भरतं गतः ॥ २९ ॥

'भरतके अनुरोधसे शत्रुघ्न भी उनके साथ ही चले गये (यदि वे यहाँ होते तो भरतका काम बिगड़ने नहीं पाता। क्योंकि—) जैसे लक्ष्मण रामके अनुगामी हैं, उसी प्रकार शत्रुघ्न भरतका अनुसरण करनेवाले हैं ॥ २९ ॥

श्रूयते हि द्रुमः कश्चिच्छेत्तव्यो वनजीवनैः ।
संनिकर्षादिषीकाभिर्मोचितः परमाद् भयात् ॥ ३० ॥

'सुना जाता है, जंगलकी लकड़ी बेचकर जीविका चलाने-वाले कुछ लोगोंने किसी वृक्षको काटनेका निश्चय किया, परंतु वह वृक्ष कँटीली झाड़ियोंसे घिरा हुआ था; इसलिये वे उसे काट नहीं सके। इस प्रकार उन कँटीली झाड़ियोंने निकट रहनेके कारण उस वृक्षको महान् भयसे बचा लिया ॥

गोप्ता हि रामं सौमित्रिर्लक्ष्मणं चापि राघवः ।
अश्विनोरिव सौभ्रात्रं तयोर्लोकेषु विश्रुतम् ॥ ३१ ॥

'सुमित्राकुमार लक्ष्मण श्रीरामकी रक्षा करते हैं और श्रीराम उनकी। उन दोनोंका उत्तम भ्रातृ-प्रेम दोनों अश्विनी-कुमारोंकी भाँति तीनों लोकोंमें प्रसिद्ध है ॥ ३१ ॥

तस्मान्न लक्ष्मणे रामः पापं किंचित् करिष्यति ।
रामस्तु भरते पापं कुर्यादेव न संशयः ॥ ३२ ॥

'इसलिये श्रीराम लक्ष्मणका तो किञ्चित् भी अनिष्ट नहीं करेंगे, परंतु भरतका अनिष्ट किये बिना वे रह नहीं सकते; इसमें संशय नहीं है ॥ ३२ ॥

तस्माद् राजगृहादेव वनं गच्छतु राघवः।
एतद्धि रोचते मह्यं भृशं चापि हितं तव ॥ ३३ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्र महाराजके महलसे ही सीधे वनको चले जायँ—मुझे तो यही अच्छा जान पड़ता है और इसीमें तुम्हारा परम हित है ॥ ३३ ॥

एवं ते ज्ञातिपक्षस्य श्रेयश्चैव भविष्यति।
यदि चेद् भरतो धर्मात् पित्र्यं राज्यमवाप्स्यति ॥ ३४ ॥

'यदि भरत धर्मानुसार अपने पिताका राज्य प्राप्त कर लेंगे तो तुम्हारा और तुम्हारे पक्षके अन्य सब लोगोंका भी कल्याण होगा ॥ ३४ ॥

स ते सुखोचितो बालो रामस्य सहजो रिपुः।
समृद्धार्थस्य नष्टार्थो जीविष्यति कथं वशे ॥ ३५ ॥

'सौतेला भाई होनेके कारण जो श्रीरामका सहज शत्रु है, वह सुख भोगनेके योग्य तुम्हारा बालक भरत राज्य और धनसे वञ्चित हो राज्य पाकर समृद्धिशाली बने हुए श्रीरामके वशमें पड़कर कैसे जीवित रहेगा ॥ ३५ ॥

अभिद्रुतमिवारण्ये सिंहेन गजयूथपम्।
प्रच्छाद्यमानं रामेण भरतं त्रातुमर्हसि ॥ ३६ ॥

'जैसे वनमें सिंह हाथियोंके यूथपतिपर आक्रमण करता है और वह भागा फिरता है, उसी प्रकार राजा राम भरतका तिरस्कार करेंगे; अतः उस तिरस्कारसे तुम भरतकी रक्षा करो ॥ ३६ ॥

दर्पान्निराकृता पूर्वं त्वया सौभाग्यवत्तया।
राममाता सपत्नी ते कथं वैरं न यापयेत् ॥ ३७ ॥

'तुमने पहले पतिका अत्यन्त प्रेम प्राप्त होनेके कारण घमंडमें आकर जिनका अनादर किया था, वे ही तुम्हारी सौत श्रीराममाता कौसल्या पुत्रकी राज्यप्राप्तिसे परम सौभाग्यशालिनी हो उठी हैं; अब वे तुमसे अपने वैरका बदला क्यों नहीं लेंगी ॥ ३७ ॥

यदा च रामः पृथिवीमवाप्स्यते
प्रभूतरत्नाकरशैलसंयुताम्।
तदा गमिष्यस्यशुभं पराभवं
सहैव दीना भरतेन भामिनि ॥ ३८ ॥

'भामिनि! जब श्रीराम अनेक समुद्रों और पर्वतोंसे युक्त समस्त भूमण्डलका राज्य प्राप्त कर लेंगे, तब तुम अपने पुत्र भरतके साथ ही दीन-हीन होकर अशुभ पराभवका पात्र बन जाओगी ॥ ३८ ॥

यदा हि रामः पृथिवीमवाप्स्यते
ध्रुवं प्रणष्टो भरतो भविष्यति।
अतो हि संचिन्तय राज्यमात्मजे
परस्य चैवास्य विवासकारणम् ॥ ३९ ॥

'याद रखो, जब श्रीराम इस पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त कर लेंगे, तब निश्चय ही तुम्हारे पुत्र भरत नष्टप्राय हो जायँगे। अतः ऐसा कोई उपाय सोचो, जिससे तुम्हारे पुत्रको तो राज्य मिले और शत्रुभूत श्रीरामका वनवास हो जाय' ॥ ३९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टमः सर्गः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें आठवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमः सर्गः

कुब्जाके कुचक्रसे कैकेयीका कोपभवनमें प्रवेश

एवमुक्ता तु कैकेयी क्रोधेन ज्वलितानना।
दीर्घमुष्णं विनिःश्वस्य मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

मन्थराके ऐसा कहनेपर कैकेयीका मुख क्रोधसे तमतमा उठा। वह लंबी और गरम साँस खींचकर उससे इस प्रकार बोली—॥ १ ॥

अद्य राममितः क्षिप्रं वनं प्रस्थापयाम्यहम्।
यौवराज्येन भरतं क्षिप्रमद्याभिषेचये ॥ २ ॥

'कुब्जे! मैं श्रीरामको शीघ्र ही यहाँसे वनमें भेजूँगी और तुरंत ही युवराजके पदपर भरतका अभिषेक कराऊँगी ॥

इदं त्विदानीं सम्पश्य केनोपायेन साधये।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ३ ॥

'परंतु इस समय यह तो सोचो कि किस उपायसे अपना अभीष्ट साधन करूँ? भरतको राज्य प्राप्त हो जाय और श्रीराम उसे किसी तरह भी न पा सकें—यह काम कैसे बने?' ॥ ३ ॥

एवमुक्ता तु सा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ ४ ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई वहाँ कैकेयीसे इस प्रकार बोली—॥ ४ ॥

हन्तेदानीं प्रपश्य त्वं कैकेयि श्रूयतां वचः।
यथा ते भरतो राज्यं पुत्रः प्राप्स्यति केवलम् ॥ ५ ॥

'केकयनन्दिनि! अच्छा, अब देखो कि मैं क्या करती हूँ? तुम मेरी बात सुनो, जिससे केवल तुम्हारे पुत्र भरत ही राज्य प्राप्त करेंगे (श्रीराम नहीं) ॥ ५ ॥

किं न स्मरसि कैकेयि स्मरन्ती वा निगूहसे।

यदुच्यमानमात्मार्थं मत्तस्त्वं श्रोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

'कैकेयि ! क्या तुम्हें स्मरण नहीं है ? या स्मरण होनेपर भी मुझसे छिपा रही हो ? जिसकी तुम मुझसे अनेक बार चर्चा करती रहती हो, अपने उसी प्रयोजनको तुम मुझसे सुनना चाहती हो ? इसका क्या कारण है ? ॥ ६ ॥

मयोच्यमानं यदि ते श्रोतुं छन्दो विलासिनि ।
श्रूयतामभिधास्यामि श्रुत्वा चैतद् विधीयताम् ॥ ७ ॥

'विलासिनि ! यदि मेरे ही मुँहसे सुननेके लिये तुम्हारा आग्रह है तो बताती हूँ, सुनो और सुनकर इसीके अनुसार कार्य करो' ॥ ७ ॥

श्रुत्वैवं वचनं तस्या मन्थरायास्तु कैकयी ।
किंचिदुत्थाय शयनात् स्वास्तीर्णादिदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

मन्थराका यह वचन सुनकर कैकेयी अच्छी तरहसे बिछे हुए उस पलंगसे कुछ उठकर उससे यों बोली—॥८॥

कथयस्व ममोपायं केनोपायेन मन्थरे ।
भरतः प्राप्नुयाद् राज्यं न तु रामः कथंचन ॥ ९ ॥

'मन्थरे ! मुझसे वह उपाय बताओ। किस उपायसे भरतको तो राज्य मिल जायगा, किंतु श्रीराम उसे किसी तरह नहीं पा सकेंगे' ॥ ९ ॥

एवमुक्ता तदा देव्या मन्थरा पापदर्शिनी ।
रामार्थमुपहिंसन्ती कैकेयीमिदमब्रवीत् ॥ १० ॥

देवी कैकेयीके ऐसा कहनेपर पापका मार्ग दिखानेवाली मन्थरा श्रीरामके स्वार्थपर कुठाराघात करती हुई उस समय कैकेयीसे इस प्रकार बोली—॥ १० ॥

पुरा देवासुरे युद्धे सह राजर्षिभिः पतिः ।
अगच्छत् त्वामुपादाय देवराजस्य साह्यकृत् ॥ ११ ॥

'देवि ! पूर्वकालकी बात है कि देवासुर-संग्रामके अवसर-पर राजर्षियोंके साथ तुम्हारे पतिदेव तुम्हें साथ लेकर देवराज-की सहायता करनेके लिये गये थे ॥ ११ ॥

दिशमास्थाय कैकेयि दक्षिणां दण्डकान् प्रति ।
वैजयन्तमिति ख्यातं पुरं यत्र तिमिध्वजः ॥ १२ ॥
स शम्बर इति ख्यातः शतमायो महासुरः ।
ददौ शक्रस्य संग्रामं देवसङ्घैरनिर्जितः ॥ १३ ॥

'केकयराजकुमारी ! दक्षिण दिशामें दण्डकारण्यके भीतर वैजयन्त नामसे विख्यात एक नगर है, जहाँ शम्बर नामसे प्रसिद्ध एक महान् असुर रहता था। वह अपनी ध्वजामें तिमि (ह्वेल मछली) का चिह्न धारण करता था और सैकड़ों मायाओंका जानकार था। देवताओंके समूह भी उसे पराजित नहीं कर पाते थे। एक बार उसने इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥ १२-१३ ॥

तस्मिन् महति संग्रामे पुरुषान् क्षतविक्षतान् ।
रात्रौ प्रसुप्तान् घ्नन्ति स्म तरसापास्य राक्षसाः ॥ १४ ॥

'उस महान् संग्राममें क्षत-विक्षत हुए पुरुष जब रातमें थककर सो जाते, उस समय राक्षस उन्हें उनके बिस्तरसे खींच ले जाते और मार डालते थे ॥ १४ ॥

तत्राकरोन्महायुद्धं राजा दशरथस्तदा ।
असुरैश्च महाबाहुः शस्त्रैश्च शकलीकृतः ॥ १५ ॥

'उन दिनों महाबाहु राजा दशरथने भी वहाँ असुरोंके साथ बड़ा भारी युद्ध किया । उस युद्धमें असुरोंने अपने अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा उनके शरीरको जर्जर कर दिया ॥ १५ ॥

अपवाह्य त्वया देवि संग्रामान्नष्टचेतनः ।
तत्रापि विक्षतः शस्त्रैः पतिस्ते रक्षितस्त्वया ॥ १६ ॥

'देवि ! जब राजाकी चेतना लुप्त-सी हो गयी, उस समय सारथिका काम करती हुई तुमने अपने पतिको रणभूमिसे दूर हटाकर उनकी रक्षा की । जब वहाँ भी राक्षसोंके शस्त्रों-से वे घायल हो गये, तब तुमने पुनः वहाँसे अन्यत्र ले जाकर उनकी रक्षा की ॥ १६ ॥

तुष्टेन तेन दत्तौ ते द्वौ वरौ शुभदर्शने ।
स त्वयोक्तः पतिर्देवि यदेच्छेयं तदा वरम् ॥ १७ ॥
गृह्णीयां तु तदा भर्तस्तथेत्युक्तं महात्मना ।
अनभिज्ञा ह्यहं देवि त्वयैव कथितं पुरा ॥ १८ ॥

'शुभदर्शने ! इससे संतुष्ट होकर महाराजने तुम्हें दो वरदान देनेको कहा—देवि ! उस समय तुमने अपने पतिसे कहा—'प्राणनाथ ! जब मेरी इच्छा होगी, तब मैं इन वरोंको माँग लूँगी ।' उस समय उन महात्मा नरेशने 'तथास्तु' कहकर तुम्हारी बात मान ली थी। देवि ! मैं इस कथाको नहीं जानती थी । पूर्वकालमें तुम्हींने मुझसे यह वृत्तान्त कहा था ॥

कथैषा तव तु स्नेहान्मनसा धार्यते मया ।
रामाभिषेकसम्भारान्निगृह्य विनिवर्तय ॥ १९ ॥

'तबसे तुम्हारे स्नेहवश मैं इस बातको मन-ही-मन सदा याद रखती आयी हूँ। तुम इन वरोंके प्रभावसे स्वामीको वशमें करके श्रीरामके अभिषेकके आयोजनको पलट दो ॥

तौ च याचस्व भर्तारं भरतस्याभिषेचनम् ।
प्रव्राजनं च रामस्य वर्षाणि च चतुर्दश ॥ २० ॥

'तुम उन दोनों वरोंको अपने स्वामीसे माँगो। एक वरके द्वारा भरतका राज्याभिषेक और दूसरेके द्वारा श्रीरामका चौदह वर्षतकका वनवास माँग लो ॥ २० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम् ।
प्रजाभावगतस्नेहः स्थिरः पुत्रो भविष्यति ॥ २१ ॥

'जब श्रीराम चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जायँगे ।' तब उतने समयमें तुम्हारे पुत्र भरत समस्त प्रजाके हृदयमें

अपने लिये स्नेह पैदा कर लेंगे और इस राज्यपर स्थिर हो जायँगे ॥ २१ ॥

क्रोधागारं प्रविश्याद्य क्रुद्धेवाश्वपतेः सुते।
शेष्वानन्तर्हितायां त्वं भूमौ मलिनवासिनी ॥ २२ ॥

'अश्वपतिकुमारी ! तुम इस समय मैले वस्त्र पहन लो और कोपभवनमें प्रवेश करके कुपित-सी होकर बिना बिस्तरके ही भूमिपर लेट जाओ ॥ २२ ॥

मा स्मैनं प्रत्युदीक्षेथा मा चैनमभिभाषथाः।
रुदन्ती पार्थिवं दृष्ट्वा जगत्यां शोकलालसा ॥ २३ ॥

'राजा आवें तो उनकी ओर आँखें उठाकर न देखो और न उनसे कोई बात ही करो। महाराजको देखते ही रोती हुई शोकमग्न हो धरतीपर लोटने लगो ॥ २३ ॥

दयिता त्वं सदा भर्तुरत्र मे नास्ति संशयः।
त्वत्कृते च महाराजो विशेदपि हुताशनम् ॥ २४ ॥

'इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि तुम अपने पतिको सदा ही बड़ी प्यारी रही हो। तुम्हारे लिये महाराज आगमें भी प्रवेश कर सकते हैं ॥ २४ ॥

न त्वां क्रोधयितुं शक्तो न क्रुद्धां प्रत्युदीक्षितुम्।
तव प्रियार्थं राजा तु प्राणानपि परित्यजेत् ॥ २५ ॥

'वे न तो तुम्हें कुपित कर सकते हैं और न कुपित अवस्थामें तुम्हें देख ही सकते हैं। राजा दशरथ तुम्हारा प्रिय करनेके लिये अपने प्राणोंका भी त्याग कर सकते हैं ॥ २५ ॥

न ह्यतिक्रमितुं शक्तस्तव वाक्यं महीपतिः।
मन्दस्वभावे बुध्यस्व सौभाग्यबलमात्मनः ॥ २६ ॥

'महाराज तुम्हारी बात किसी तरह टाल नहीं सकते। मुग्धे ! तुम अपने सौभाग्यके बलका स्मरण करो ॥ २६ ॥

मणिमुक्तासुवर्णानि रत्नानि विविधानि च।
दद्याद् दशरथो राजा मा स्म तेषु मनः कृथाः ॥ २७ ॥

'राजा दशरथ तुम्हें भुलावेमें डालनेके लिये मणि, मोती, सुवर्ण तथा भाँति-भाँतिके रत्न देनेकी चेष्टा करेंगे; किंतु तुम उनकी ओर मन न चलाना ॥ २७ ॥

यौ तौ देवासुरे युद्धे वरौ दशरथो ददौ।
तौ स्मारय महाभागे सोऽर्थो न त्वा क्रमेदति ॥ २८ ॥

'महाभागे ! देवासुर-संग्रामके अवसरपर राजा दशरथने वे जो दो वर दिये थे, उनका उन्हें स्मरण दिलाना। वरदान-के रूपमें माँगा गया वह तुम्हारा अभीष्ट मनोरथ सिद्ध हुए बिना नहीं रह सकता ॥ २८ ॥

यदा तु ते वरं दद्यात् स्वयमुत्थाप्य राघवः।
व्यवस्थाप्य महाराजं त्वमिमं वृणुया वरम् ॥ २९ ॥

'रघुकुलनन्दन राजा दशरथ जब स्वयं तुम्हें धरतीसे उठाकर वर देनेको उद्यत हो जायँ, तब उन महाराजको सत्यकी शपथ दिलाकर खूब पक्का करके उनसे वर माँगना ॥ २९ ॥

रामप्रव्रजनं दूरं नव वर्षाणि पञ्च च।
भरतः क्रियतां राजा पृथिव्यां पार्थिवर्षभ ॥ ३० ॥

'वर माँगते समय कहना कि नृपश्रेष्ठ ! आप श्रीरामको चौदह वर्षोंके लिये बहुत दूर वनमें भेज दीजिये और भरतको भूमण्डलका राजा बनाइये ॥ ३० ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि रामे प्रव्राजिते वनम्।
रूढश्च कृतमूलश्च शेषं स्थास्यति ते सुतः ॥ ३१ ॥

'श्रीरामके चौदह वर्षोंके लिये वनमें चले जानेपर तुम्हारे पुत्र भरतका राज्य सुदृढ़ हो जायगा और प्रजा आदिको वशमें कर लेनेसे यहाँ उनकी जड़ जम जायगी। फिर चौदह वर्षोंके बाद भी वे आजीवन स्थिर बने रहेंगे ॥ ३१ ॥

रामप्रव्राजनं चैव देवि याचस्व तं वरम्।
एवं सेत्स्यन्ति पुत्रस्य सर्वार्थास्तव कामिनि ॥ ३२ ॥

'देवि ! तुम राजासे श्रीरामके वनवासका वर अवश्य माँगो। पुत्रके लिये राज्यकी कामना करनेवाली कैकेयि ! ऐसा करनेसे तुम्हारे पुत्रके सभी मनोरथ सिद्ध हो जायँगे ॥

एवं प्रव्राजितश्चैव रामोऽरामो भविष्यति।
भरतश्च गतामित्रस्तव राजा भविष्यति ॥ ३३ ॥

'इस प्रकार वनवास मिल जानेपर ये राम राम नहीं रह जायँगे (इनका आज जो प्रभाव है वह भविष्यमें नहीं रह सकेगा) और तुम्हारे भरत भी शत्रुहीन राजा होंगे ॥ ३३ ॥

येन कालेन रामश्च वनात् प्रत्यागमिष्यति।
अन्तर्बहिश्च पुत्रस्ते कृतमूलो भविष्यति ॥ ३४ ॥

'जिस समय श्रीराम वनसे लौटेंगे, उस समयतक तुम्हारे पुत्र भरत भीतर और बाहरसे भी दृढ़मूल हो जायँगे ॥ ३४ ॥

संगृहीतमनुष्यश्च सुहृद्भिः साकमात्मवान्।
प्राप्तकालं नु मन्येऽहं राजानं वीतसाध्वसा ॥ ३५ ॥
रामाभिषेकसंकल्पान्निगृह्य विनिवर्तय।

'उनके पास सैनिक-बलका भी संग्रह हो जायगा; जितेन्द्रिय तो वे हैं ही; अपने सुहृदोंके साथ रहकर दृढ़मूल हो जायँगे। इस समय मेरी मान्यताके अनुसार राजाको श्रीरामके राज्याभिषेकके संकल्पसे हटा देनेका समय आ गया है; अतः तुम निर्भय होकर राजाको अपने वचनोंमें बाँध लो और उन्हें श्रीरामके अभिषेकके संकल्पसे हटा दो' ॥ ३५½ ॥

अनर्थमर्थरूपेण ग्राहिता सा ततस्तया ॥ ३६ ॥
हृष्टा प्रतीता कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत्।
सा हि वाक्येन कुब्जायाः किशोरीवोत्पथं गता ॥ ३७ ॥
कैकेयी विस्मयं प्राप्य परं परमदर्शना।

ऐसी बातें कहकर मन्थराने कैकेयीकी बुद्धिमें अनर्थको

ही अर्थरूपमें जँचा दिया। कैकेयीको उसकी बातपर विश्वास हो गया और वह मन-ही-मन बहुत प्रसन्न हुई। यद्यपि वह बहुत समझदार थी, तो भी कुबरीके कहनेसे नादान बालिका की तरह कुमार्गपर चली गयी—अनुचित काम करनेको तैयार हो गयी। उसे मन्थराकी बुद्धिपर बड़ा आश्चर्य हुआ और वह उससे इस प्रकार बोली—॥ ३६-३७½ ॥

प्रज्ञां ते नावजानामि श्रेष्ठे श्रेष्ठाभिधायिनि ॥ ३८ ॥
पृथिव्यामसि कुब्जानामुत्तमा बुद्धिनिश्चये ।
त्वमेव तु ममार्थेषु नित्ययुक्ता हितैषिणी ॥ ३९ ॥

'हितकी बात बतानेमें कुशल कुब्जे! तू एक श्रेष्ठ स्त्री है; मैं तेरी बुद्धिकी अवहेलना नहीं करूँगी। बुद्धिके द्वारा किसी कार्यका निश्चय करनेमें तू इस पृथ्वीपर सभी कुब्जाओं-में उत्तम है। केवल तू ही मेरी हितैषिणी है और सदा सावधान रहकर मेरा कार्य सिद्ध करनेमें लगी रहती है॥ ३८-३९ ॥

नाहं समवबुध्येयं कुब्जे राज्ञश्चिकीर्षितम् ।
सन्ति दुःसंस्थिताः कुब्जा वक्राः परमपापिकाः ॥४०॥

'कुब्जे! यदि तू न होती तो राजा जो षड्यन्त्र रचना चाहते हैं, वह कदापि मेरी समझमें नहीं आता। तेरे सिवा जितनी कुब्जाएँ हैं, वे बेडौल शरीरवाली, टेढ़ी-मेढ़ी और बड़ी पापिनी होती हैं॥ ४० ॥

त्वं पद्ममिव वातेन संनता प्रियदर्शना ।
उरस्तेऽभिनिविष्टं वै यावत् स्कन्धात् समुन्नतम् ४१

'तू तो वायुके द्वारा झुकायी हुई कमलिनीकी भाँति कुछ झुकी हुई होनेपर भी देखनेमें प्रिय (सुन्दर) है। तेरा वक्षः-स्थल कुब्जताके दोषसे व्याप्त है, अतएव कंधोंतक ऊँचा दिखायी देता है॥ ४१ ॥

अधस्ताच्चोदरं शान्तं सुनाभमिव लज्जितम् ।
प्रतिपूर्णं च जघनं सुपीनौ च पयोधरौ ॥ ४२ ॥

'वक्षःस्थलसे नीचे सुन्दर नाभिसे युक्त जो उदर है, वह मानो वक्षःस्थलकी ऊँचाई देखकर लज्जित-सा हो गया है, इसीलिये शान्त—कृश प्रतीत होता है। तेरा जघन विस्तृत है और दोनों स्तन सुन्दर एवं स्थूल हैं॥ ४२ ॥

विमलेन्दुसमं वक्त्रमहो राजसि मन्थरे ।
जघनं तव निर्मृष्टं रशनादामभूषितम् ॥ ४३ ॥

'मन्थरे! तेरा मुख निर्मल चन्द्रमाके समान अद्भुत शोभा पा रहा है। करधनीकी लड़ियोंसे विभूषित तेरी कटिका अग्रभाग बहुत ही स्वच्छ—रोमादिसे रहित है॥ ४३ ॥

जङ्घे भृशमुपन्यस्ते पादौ च व्यायतावुभौ ।
त्वमायताभ्यां सक्थिभ्यां मन्थरे क्षौमवासिनी॥ ४४ ॥
अग्रतो मम गच्छन्ती राजसेऽतीव शोभने ।

'मन्थरे! तेरी पिण्डलियाँ परस्पर अधिक सटी हुई हैं और दोनों पैर बड़े-बड़े हैं। तू विशाल ऊरुओं (जाँघों) से सुशोभित होती है। शोभने! जब तू रेशमी साड़ी पहनकर मेरे आगे-आगे चलती है, तब तेरी बड़ी शोभा होती है॥४४½॥

आसन् याः शम्बरे मायाः सहस्रमसुराधिपे ॥ ४५ ॥
हृदये ते निविष्टास्ता भूयश्चान्याः सहस्रशः ।
तदेव स्थगु यद् दीर्घं रथघोणमिवायतम् ॥ ४६ ॥
मतयः क्षत्रविद्याश्च मायाश्चात्र वसन्ति ते ।

'असुरराज शम्बरको जिन सहस्रों मायाओंका ज्ञान है, वे सब तेरे हृदयमें स्थित हैं; इनके अलावे भी तू हजारों प्रकारकी मायाएँ जानती है। इन मायाओंका समुदाय ही तेरा यह बड़ा-सा कुब्बड़ है, जो रथके नकुए (अग्रभाग) के समान बड़ा है। इसीमें तेरी मति, स्मृति और बुद्धि, क्षत्र-विद्या (राजनीति) तथा नाना प्रकारकी मायाएँ निवास करती हैं॥ ४५-४६½ ॥

अत्र तेऽहं प्रमोक्ष्यामि मालां कुब्जे हिरण्मयीम्॥ ४७ ॥
अभिषिक्ते च भरते राघवे च वनं गते ।
जात्येन च सुवर्णेन सुनिष्टप्तेन सुन्दरि ॥ ४८ ॥
लब्धार्था च प्रतीता च लेपयिष्यामि ते स्थगु ।

'सुन्दरी कुब्जे! यदि भरतका राज्याभिषेक हुआ और श्रीराम वनको चले गये तो मैं सफलमनोरथ एवं संतुष्ट होकर अच्छी जातिके खूब तपाये हुए सोनेकी बनी हुई सुन्दर स्वर्णमाला तेरे इस कुब्बड़को पहनाऊँगी और इसपर चन्दनका लेप लगवाऊँगी॥ ४७-४८½ ॥

मुखे च तिलकं चित्रं जातरूपमयं शुभम् ॥ ४९ ॥
कारयिष्यामि ते कुब्जे शुभान्याभरणानि च ।
परिधाय शुभे वस्त्रे देवतेव चरिष्यसि ॥ ५० ॥

'कुब्जे! तेरे मुख (ललाट) पर सुन्दर और विचित्र सोनेका टीका लगवा दूँगी और तू बहुत-से सुन्दर आभूषण एवं दो उत्तम वस्त्र (लहँगा और दुपट्टा) धारण करके देवाङ्गनाके समान विचरण करेगी॥ ४९-५० ॥

चन्द्रमाह्वयमानेन मुखेनाप्रतिमानना ।
गमिष्यसि गतिं मुख्यां गर्वयन्ती द्विषज्जने ॥ ५१ ॥

'चन्द्रमासे होड़ लगानेवाले अपने मनोहर मुखद्वारा तू ऐसी सुन्दर लगेगी कि तेरे मुखकी कहीं समता नहीं रह जायगी तथा शत्रुओंके बीचमें अपने सौभाग्यपर गर्व प्रकट करती हुई तू सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लेगी॥ ५१ ॥

तवापि कुब्जाः कुब्जायाः सर्वाभरणभूषिताः ।
पादौ परिचरिष्यन्ति यथैव त्वं सदा मम ॥ ५२ ॥

'जैसे तू सदा मेरे चरणोंकी सेवा किया करती है, उसी प्रकार समस्त आभूषणोंसे विभूषित बहुत-सी कुब्जाएँ तुझ कुब्जाके भी चरणोंकी सदा परिचर्या किया करेंगी'॥ ५२ ॥

इति प्रशस्यमाना सा कैकेयीमिदमब्रवीत्।
शयानां शयने शुभ्रे वेद्यामग्निशिखामिव ॥ ५३ ॥

जब इस प्रकार कुब्जाकी प्रशंसा की गयी, तब उसने वेदीपर प्रज्वलित अग्नि-शिखाके समान शुभ्र शय्यापर शयन करनेवाली कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ ५३ ॥

गतोदके सेतुबन्धो न कल्याणि विधीयते।
उत्तिष्ठ कुरु कल्याणं राजानमनुदर्शय ॥ ५४ ॥

'कल्याणि ! नदीका पानी निकल जानेपर उसके लिये बाँध नहीं बाँधा जाता, (यदि रामका अभिषेक हो गया तो तुम्हारा वर माँगना व्यर्थ होगा; अतः बातोंमें समय न बिताओ) जल्दी उठो और अपना कल्याण करो। कोपभवनमें जाकर राजाको अपनी अवस्थाका परिचय दो' ॥

तथा प्रोत्साहिता देवी गत्वा मन्थरया सह।
क्रोधागारं विशालाक्षी सौभाग्यमदगर्विता ॥ ५५ ॥
अनेकशतसाहस्रं मुक्ताहारं वराङ्गना।
अवमुच्य वरार्हाणि शुभान्याभरणानि च ॥ ५६ ॥

मन्थराके इस प्रकार प्रोत्साहन देनेपर सौभाग्यके मदसे गर्व करनेवाली विशाललोचना सुन्दरी कैकेयी देवी उसके साथ ही कोपभवनमें जाकर लाखोंकी लागतके मोतियोंके हार तथा दूसरे-दूसरे सुन्दर बहुमूल्य आभूषणोंको अपने शरीरसे उतार-उतारकर फेंकने लगी ॥ ५५-५६ ॥

तदा हेमोपमा तत्र कुब्जावाक्यवशंगता।
संविश्य भूमौ कैकेयी मन्थरामिदमब्रवीत् ॥ ५७ ॥

सोनेके समान सुन्दर कान्तिवाली कैकेयी कुब्जाकी बातोंके वशीभूत हो गयी थी, अतः वह धरतीपर लेटकर मन्थरासे इस प्रकार बोली—॥५७॥

इह वा मां मृतां कुब्जे नृपायावेदयिष्यसि।
वनं तु राघवे प्राप्ते भरतः प्राप्स्यते क्षितिम् ॥ ५८ ॥
सुवर्णेन न मे ह्यर्थो न रत्नैर्न च भोजनैः।
एष मे जीवितस्यान्तो रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ५९ ॥

'कुब्जे ! मुझे न तो सुवर्णसे, न रत्नोंसे और न भाँति-भाँतिके भोजनोंसे ही कोई प्रयोजन है; यदि श्रीरामका राज्याभिषेक हुआ तो यह मेरे जीवनका अन्त होगा। अब या तो श्रीरामके वनमें चले जानेपर भरतको इस भूतलका राज्य प्राप्त होगा अथवा तू यहाँ महाराजको मेरी मृत्युका समाचार सुनायेगी' ॥ ५८-५९ ॥

अथो पुनस्तां महिषीं महीक्षितो
वचोभिरत्यर्थमहापराक्रमैः।
उवाच कुब्जा भरतस्य मातरं
हितं वचो राममुपेत्य चाहितम् ॥ ६० ॥

तदनन्तर कुब्जा महाराज दशरथकी रानी और भरतकी माता कैकेयीसे अत्यन्त क्रूर वचनोंद्वारा पुनः ऐसी बात कहने लगी, जो लौकिक दृष्टिसे भरतके लिये हितकर और श्रीरामके लिये अहितकर थी—॥ ६० ॥

प्रपत्स्यते राज्यमिदं हि राघवो
यदि ध्रुवं त्वं ससुता च तप्स्यसे।
ततो हि कल्याणि यतस्व तत् तथा
यथा सुतस्ते भरतोऽभिषेक्ष्यते ॥ ६१ ॥

'कल्याणि ! यदि श्रीराम इस राज्यको प्राप्त कर लेंगे तो निश्चय ही अपने पुत्र भरतसहित तुम भारी संतापमें पड़ जाओगी; अतः ऐसा प्रयत्न करो, जिससे तुम्हारे पुत्र भरतका राज्याभिषेक हो जाय' ॥ ६१ ॥

तथातिविद्धा महिषीति कुब्जया
समाहता वागिषुभिर्मुहुर्मुहुः।
विधाय हस्तौ हृदयेऽतिविस्मिता
शशंस कुब्जां कुपिता पुनः पुनः ॥ ६२ ॥

इस प्रकार कुब्जाने अपने वचनरूपी बाणोंका बारंबार प्रहार करके जब रानी कैकेयीको अत्यन्त घायल कर दिया, तब वह अत्यन्त विस्मित और कुपित हो अपने हृदयपर दोनों हाथ रखकर कुब्जासे बारंबार इस प्रकार कहने लगी—॥ ६२ ॥

यमस्य वा मां विषयं गतामितो
निशम्य कुब्जे प्रतिवेदयिष्यसि।
वनं गते वा सुचिराय राघवे
समृद्धकामो भरतो भविष्यति ॥ ६३ ॥

'कुब्जे ! अब या तो रामचन्द्रके अधिक कालके लिये वनमें चले जानेपर भरतका मनोरथ सफल होगा या तू मुझे यहाँसे यमलोकमें चली गयी सुनकर महाराजसे यह समाचार निवेदन करेगी ॥ ६३ ॥

अहं हि नैवास्तरणानि न स्रजो
न चन्दनं नाञ्जनपानभोजनम्।
न किंचिदिच्छामि न चेह जीवनं
न चेदितो गच्छति राघवो वनम् ॥ ६४ ॥

'यदि राम यहाँसे वनको नहीं गये तो मैं न तो भाँति-भाँतिके बिछौने, न फूलोंके हार, न चन्दन, न अञ्जन, न पान, न भोजन और न दूसरी ही कोई वस्तु लेना चाहूँगी। उस दशामें तो मैं यहाँ इस जीवनको भी नहीं रखना चाहूँगी' ॥ ६४ ॥

अथैवमुक्त्वा वचनं सुदारुणं
निधाय सर्वाभरणानि भामिनी।
असंस्कृतामास्तरणेन मेदिनीं
तदाधिशिश्ये पतितेव किंनरी ॥ ६५ ॥

ऐसे अत्यन्त कठोर वचन कहकर कैकेयीने सारे आभूषण उतार दिये और बिना बिस्तरके ही वह खाली जमीनपर लेट गयी। उस समय वह स्वर्गसे भूतलपर गिरी हुई किसी किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ६५ ॥

उदीर्णसंरम्भतमोवृतानना
तदावमुक्तोत्तममाल्यभूषणा ।
नरेन्द्रपत्नी विमना बभूव सा
तमोवृता द्यौरिव मग्नतारका ॥ ६६ ॥

उसका मुख बढ़े हुए अमर्षरूपी अन्धकारसे आच्छादित हो रहा था। उसके अङ्गोंसे उत्तम पुष्पहार और आभूषण उतर चुके थे। उस दशामें उदास मनवाली राजरानी कैकेयी जिसके तारे डूब गये हों, उस अन्धकाराच्छन्न आकाशके समान प्रतीत होती थी ॥ ६६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे नवमः सर्गः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें नवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ९ ॥

दशमः सर्गः

राजा दशरथका कैकेयीके भवनमें जाना, उसे कोपभवनमें स्थित देखकर दुखी होना और उसको अनेक प्रकारसे सान्त्वना देना

विदर्शिता यदा देवी कुब्जया पापया भृशम् ।
तदा शेते स्म सा भूमौ दिग्धविद्धेव किंनरी ॥ १ ॥

पापिनी कुब्जाने जब देवी कैकेयीको बहुत उलटी बातें समझा दीं, तब वह विषाक्त बाणसे विद्ध हुई किन्नरीके समान धरतीपर लोटने लगी ॥ १ ॥

निश्चित्य मनसा कृत्यं सा सम्यगिति भामिनी ।
मन्थरायै शनैः सर्वमाचचक्षे विचक्षणा ॥ २ ॥

मन्थराके बताये हुए समस्त कार्यको यह बहुत उत्तम है—ऐसा मन-ही-मन निश्चय करके बात-चीतमें कुशल भामिनी कैकेयीने मन्थरासे धीरे-धीरे अपना सारा मन्तव्य बता दिया ॥

सा दीना निश्चयं कृत्वा मन्थरावाक्यमोहिता ।
नागकन्येव निःश्वस्य दीर्घमुष्णं च भामिनी ॥ ३ ॥
मुहूर्तं चिन्तयामास मार्गमात्मसुखावहम् ।

मन्थराके वचनोंसे मोहित एवं दीन हुई भामिनी कैकेयी पूर्वोक्त निश्चय करके नागकन्याकी भाँति गरम और लंबी साँस खींचने लगी और दो घड़ीतक अपने लिये सुखदायक मार्गका विचार करती रही ॥ ३½ ॥

सा सुहृच्चार्थकामा च तं निशम्य विनिश्चयम् ॥ ४ ॥
बभूव परमप्रीता सिद्धिं प्राप्येव मन्थरा ।

और वह मन्थरा जो कैकेयीका हित चाहनेवाली सुहृद् थी और उसीके मनोरथको सिद्ध करनेकी अभिलाषा रखती थी, कैकेयीके उस निश्चयको सुनकर बहुत प्रसन्न हुई; मानो उसे कोई बहुत बड़ी सिद्धि मिल गयी हो ॥ ४½ ॥

अथ सा रुषिता देवी सम्यक्कृत्वा विनिश्चयम् ॥ ५ ॥
संविवेशाबला भूमौ निवेश्य भ्रुकुटिं मुखे ।

तदनन्तर रोषमें भरी हुई देवी कैकेयी अपने कर्तव्यका भलीभाँति निश्चय कर मुखमण्डलमें स्थित भौंहोंको टेढ़ी करके धरतीपर सो गयी। और क्या करती अबला ही तो थी ॥ ५½ ॥

ततश्चित्राणि माल्यानि दिव्यान्याभरणानि च ॥ ६ ॥
अपविद्धानि कैकेय्या तानि भूमिं प्रपेदिरे ।

तदनन्तर उस केकयराजकुमारीने अपने विचित्र पुष्पहारों और दिव्य आभूषणोंको उतारकर फेंक दिया। वे सारे आभूषण धरतीपर यत्र-तत्र पड़े थे ॥ ६½ ॥

तया तान्यपविद्धानि माल्यान्याभरणानि च ॥ ७ ॥
अशोभयन्त वसुधां नक्षत्राणि यथा नभः ।

जैसे छिटके हुए तारे आकाशकी शोभा बढ़ाते हैं, उसी प्रकार फेंके हुए वे पुष्पहार और आभूषण वहाँ भूमिकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ७½ ॥

क्रोधागारे च पतिता सा बभौ मलिनाम्बरा ॥ ८ ॥
एकवेणीं दृढां बद्ध्वा गतसत्त्वेव किंनरी ।

मलिन वस्त्र पहनकर और सारे केशोंको दृढ़तापूर्वक एक ही वेणीमें बाँधकर कोपभवनमें पड़ी हुई कैकेयी बलहीन अथवा अचेत हुई किन्नरीके समान जान पड़ती थी ॥ ८½ ॥

आज्ञाप्य तु महाराजो राघवस्याभिषेचनम् ॥ ९ ॥
उपस्थानमनुज्ञाप्य प्रविवेश निवेशनम् ।

उधर महाराज दशरथ मन्त्री आदिको श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारीके लिये आज्ञा दे सबको यथासमय उपस्थित होनेके लिये कहकर रनिवासमें गये ॥ ९½ ॥

अद्य रामाभिषेको वै प्रसिद्ध इति जज्ञिवान् ॥ १० ॥
प्रियार्हां प्रियमाख्यातुं विवेशान्तःपुरं वशी ।

उन्होंने सोचा—आज ही श्रीरामके अभिषेककी बात प्रसिद्ध की गयी है, इसलिये यह समाचार अभी किसी रानीको नहीं मालूम हुआ होगा; ऐसा विचारकर जितेन्द्रिय

राजा दशरथने अपनी प्यारी रानीको यह प्रिय संवाद सुनानेके लिये अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ १०½ ॥

स कैकेय्या गृहं श्रेष्ठं प्रविवेश महायशाः ॥ ११ ॥
पाण्डुराभ्रमिवाकाशं राहुयुक्तं निशाकरः ।

उन महायशस्वी नरेशने पहले कैकेयीके श्रेष्ठ भवनमें प्रवेश किया, मानो श्वेत बादलोंसे युक्त राहुयुक्त आकाशमें चन्द्रमाने पदार्पण किया हो ॥ ११½ ॥

शुकबर्हिसमायुक्तं क्रौञ्चहंसरुतायुतम् ॥ १२ ॥
वादित्ररवसंघुष्टं कुब्जावामनिकायुतम् ।
लतागृहैश्चित्रगृहैश्चम्पकाशोकशोभितैः ॥ १३ ॥

उस भवनमें तोते, मोर, क्रौञ्च और हंस आदि पक्षी कलरव कर रहे थे, वहाँ वाद्योंका मधुर घोष गूँज रहा था, बहुत-सी कुब्जा और बौनी दासियाँ भरी हुई थीं, चम्पा और अशोकसे सुशोभित बहुत-से लताभवन और चित्रमन्दिर उस महलकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ १२-१३ ॥

दान्तराजतसौवर्णवेदिकाभिः समायुतम् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैर्वापीभिरुपशोभितम् ॥ १४ ॥

हाथीदाँत, चाँदी और सोनेकी बनी हुई वेदियोंसे संयुक्त उस भवनको नित्य फूलने-फलनेवाले वृक्ष और बहुत-सी बावड़ियाँ सुशोभित कर रही थीं ॥ १४ ॥

दान्तराजतसौवर्णैः संवृतं परमासनैः ।
विविधैरन्नपानैश्च भक्ष्यैश्च विविधैरपि ॥ १५ ॥
उपपन्नं महार्हैश्च भूषणैस्त्रिदिवोपमम् ।

उसमें हाथीदाँत, चाँदी और सोनेके बने हुए उत्तम सिंहासन रखे गये थे । नाना प्रकारके अन्न, पान और भाँति-भाँतिके भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे वह भवन भरा-पूरा था । बहुमूल्य आभूषणोंसे सम्पन्न कैकेयीका वह भवन स्वर्गके समान शोभा पा रहा था ॥ १५½ ॥

स प्रविश्य महाराजः स्वमन्तःपुरमृद्धिमत् ॥ १६ ॥
न ददर्श स्त्रियं राजा कैकेयीं शयनोत्तमे ।

अपने उस समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश करके महाराज राजा दशरथने वहाँकी उत्तम शय्यापर रानी कैकेयीको नहीं देखा ॥ १६½ ॥

स कामबलसंयुक्तो रत्यर्थी मनुजाधिपः ॥ १७ ॥
अपश्यन् दयितां भार्यां पप्रच्छ विषसाद च ।

कामबलसे संयुक्त वे नरेश रानीकी प्रसन्नता बढ़ानेकी अभिलाषासे भीतर गये थे । वहाँ अपनी प्यारी पत्नीको न देखकर उनके मनमें बड़ा विषाद हुआ और वे उनके विषयमें पूछ-ताछ करने लगे ॥ १७½ ॥

नहि तस्य पुरा देवी तां वेलामत्यवर्तत ॥ १८ ॥
न च राजा गृहं शून्यं प्रविवेश कदाचन ।
ततो गृहगतो राजा कैकेयीं पर्यपृच्छत ॥ १९ ॥
यथापुरमविज्ञाय स्वार्थलिप्सुमपण्डिताम् ।

इससे पहले रानी कैकेयी राजाके आगमनकी उस वेला[में] कहीं अन्यत्र नहीं जाती थीं, राजाने कभी सूने भवनमें प्रवे[श] नहीं किया था, इसीलिये वे घरमें आकर कैकेयीके बारेमें पूछ[ने] लगे । उन्हें यह मालूम नहीं था कि वह मूर्खा कोई स्वा[र्थ] सिद्ध करना चाहती है, अतः उन्होंने पहलेकी ही भाँति प्रति[हारी]से उसके विषयमें पूछा ॥ १८-१९½ ॥

प्रतिहारी त्वथोवाच संत्रस्ता तु कृताञ्जलिः ॥ २० ॥
देव देवी भृशं क्रुद्धा क्रोधागारमभिद्रुता ।

प्रतिहारी बहुत डरी हुई थी । उसने हाथ जोड़[कर] कहा—'देव ! देवी कैकेयी अत्यन्त कुपित हो कोपभवन[की] ओर दौड़ी गयी हैं' ॥ २०½ ॥

प्रतीहार्या वचः श्रुत्वा राजा परमदुर्मनाः ॥ २१ ॥
विषसाद पुनर्भूयो लुलितव्याकुलेन्द्रियः ।

प्रतिहारीकी यह बात सुनकर राजाका मन बहुत उदा[स] हो गया, उनकी इन्द्रियाँ चञ्चल एवं व्याकुल हो उठीं औ[र] वे पुनः अधिक विषाद करने लगे ॥ २१½ ॥

तत्र तां पतितां भूमौ शयानामतथोचिताम् ॥ २२ ॥
प्रतप्त इव दुःखेन सोऽपश्यज्जगतीपतिः ।

कोपभवनमें वह भूमिपर पड़ी थी और इस तरह ले[टी] हुई थी, जो उसके लिये योग्य नहीं था । राजाने दुःख[के] कारण संतप्त-से होकर उसे इस अवस्थामें देखा ॥ २२½ ॥

स वृद्धस्तरुणीं भार्यां प्राणेभ्योऽपि गरीयसीम् ॥ २३ ॥
अपापः पापसंकल्पां ददर्श धरणीतले ।
लतामिव विनिष्कृत्तां पतितां देवतामिव ॥ २४ ॥

राजा बूढ़े थे और उनकी वह पत्नी तरुणी थी, अतः [वे] उसे अपने प्राणोंसे भी बढ़कर मानते थे । राजाके मनमें को[ई] पाप नहीं था; परंतु कैकेयी अपने मनमें पापपूर्ण संकल्प लि[ये] हुए थी । उन्होंने उसे कटी हुई लताकी भाँति पृथ्वीपर प[ड़ी] देखा—मानो कोई देवाङ्गना स्वर्गसे भूतलपर गिर प[ड़ी] हो ॥ २३-२४ ॥

किंनरीमिव निर्धूतां च्युतामप्सरसं यथा ।
मायामिव परिभ्रष्टां हरिणीमिव संयताम् ॥ २५ ॥

वह स्वर्गभ्रष्ट किन्नरी, देवलोकसे च्युत हुई अप्सरा, लक्ष्यभ्रष्ट माया और जालमें बँधी हुई हरिणीके समान जा[न] पड़ती थी ॥ २५ ॥

करेणुमिव दिग्धेन विद्धां मृगयुना वने ।
महागज इवारण्ये स्नेहात् परमदुःखिताम् ॥ २६ ॥
परिमृज्य च पाणिभ्यामभिसंत्रस्तचेतनः ।
कामी कमलपत्राक्षीमुवाच वनितामिदम् ॥ २७ ॥

जैसे कोई महान् गजराज वनमें व्याधके द्वारा विषलिप्त बाणसे विद्ध होकर गिरी हुई अत्यन्त दुःखित हथिनीका स्नेहवश स्पर्श करता है, उसी प्रकार कामी राजा दशरथने महान् दुःखमें पड़ी हुई कमलनयनी भार्या कैकेयीका स्नेहपूर्वक दोनों हाथोंसे स्पर्श किया। उस समय उनके मनमें सब ओरसे यह भय समा गया था कि न जाने यह क्या कहेगी और क्या करेगी? वे उसके अङ्गोंपर हाथ फेरते हुए उससे इस प्रकार बोले—॥ २६-२७ ॥

न तेऽहमभिजानामि क्रोधमात्मनि संश्रितम्।
देवि केनाभियुक्तासि केन वासि विमानिता ॥ २८ ॥

'देवि! तुम्हारा क्रोध मुझपर है, ऐसा तो मुझे विश्वास नहीं होता। फिर किसने तुम्हारा तिरस्कार किया है? किसके द्वारा तुम्हारी निन्दा की गयी है?॥ २८ ॥

यदिदं मम दुःखाय शेषे कल्याणि पांसुषु।
भूमौ शेषे किमर्थं त्वं मयि कल्याणचेतसि ॥ २९ ॥
भूतोपहतचित्तेव मम चित्तप्रमाथिनि।

'कल्याणि! तुम जो इस तरह मुझे दुःख देनेके लिये धूलमें लोट रही हो, इसका क्या कारण है? मेरे चित्तको मथ डालनेवाली सुन्दरी! मेरे मनमें तो सदा तुम्हारे कल्याणकी ही भावना रहती है। फिर मेरे रहते हुए तुम किस लिये धरतीपर सो रही हो? जान पड़ता है तुम्हारे चित्तपर किसी पिशाचने अधिकार कर लिया है॥ २९½ ॥

सन्ति मे कुशला वैद्यास्त्वभितुष्टाश्च सर्वशः ॥ ३० ॥
सुखितां त्वां करिष्यन्ति व्याधिमाचक्ष्व भामिनि।

'भामिनि! तुम अपना रोग बताओ। मेरे यहाँ बहुत-से चिकित्साकुशल वैद्य हैं, जिन्हें मैंने सब प्रकारसे संतुष्ट कर रक्खा है, वे तुम्हें सुखी कर देंगे॥ ३०½ ॥

कस्य वापि प्रियं कार्यं केन वा विप्रियं कृतम् ॥ ३१ ॥
कः प्रियं लभतामद्य को वा सुमहदप्रियम्।

'अथवा कहो, आज किसका प्रिय करना है? या किसने तुम्हारा अप्रिय किया है? तुम्हारे किस उपकारीको आज प्रिय मनोरथ प्राप्त हो अथवा किस अपकारीको अत्यन्त अप्रिय—कठोर दण्ड दिया जाय?॥ ३१½ ॥

मा रौत्सीर्मा च कार्षीस्त्वं देवि सम्परिशोषणम् ॥ ३२ ॥
अवध्यो वध्यतां को वा वध्यः को वा विमुच्यताम्।
दरिद्रः को भवेदाढ्यो द्रव्यवान् वाप्यकिंचनः ॥ ३३ ॥

'देवि! तुम न रोओ, अपनी देहको न सुखाओ; आज तुम्हारी इच्छाके अनुसार किस अवध्यका वध किया जाय? अथवा किस प्राणदण्ड पाने योग्य अपराधीको भी मुक्त कर दिया जाय? किस दरिद्रको धनवान् और किस धनवान्‌को कंगाल बना दिया जाय?॥ ३२-३३ ॥

अहं च हि मदीयाश्च सर्वे तव वशानुगाः।
न ते कंचिदभिप्रायं व्याहन्तुमहमुत्सहे ॥ ३४ ॥
आत्मनो जीवितेनापि ब्रूहि यन्मनसि स्थितम्।

'मैं और मेरे सभी सेवक तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं। तुम्हारे किसी भी मनोरथको मैं भंग नहीं कर सकता—उसे पूरा करके ही रहूँगा, चाहे उसके लिये मुझे अपने प्राण ही क्यों न देने पड़ें; अतः तुम्हारे मनमें जो कुछ हो, उसे स्पष्ट कहो॥ ३४½ ॥

बलमात्मनि जानन्ती न मां शङ्कितुमर्हसि ॥ ३५ ॥
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे।

'अपने बलको जानते हुए भी तुम्हें मुझपर संदेह नहीं करना चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ, जिससे तुम्हें प्रसन्नता हो, वही करूँगा॥ ३५½ ॥

यावदावर्तते चक्रं तावती मे वसुंधरा ॥ ३६ ॥
द्राविडाः सिन्धुसौवीराः सौराष्ट्रा दक्षिणापथाः।
वङ्गाङ्गमगधा मत्स्याः समृद्धाः काशिकोसलाः ॥ ३७ ॥

'जहाँतक सूर्यका चक्र घूमता है, वहाँतक सारी पृथ्वी मेरे अधिकारमें है। द्रविड, सिन्धु-सौवीर, सौराष्ट्र, दक्षिण भारतके सारे प्रदेश तथा अङ्ग, वङ्ग, मगध, मत्स्य, काशी और कोसल—इन सभी समृद्धिशाली देशोंपर मेरा आधिपत्य है॥

तत्र जातं बहु द्रव्यं धनधान्यमजाविकम्।
ततो वृणीष्व कैकेयि यद् यत् त्वं मनसेच्छसि ॥ ३८ ॥

'केकयराजनन्दिनि! उनमें पैदा होनेवाले भाँति-भाँतिके द्रव्य, धन-धान्य और बकरी—भेड आदि जो भी तुम मनसे लेना चाहती हो, वह मुझसे माँग लो॥ ३८ ॥

किमायासेन ते भीरु उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शोभने।
तत्त्वं मे ब्रूहि कैकेयि यतस्ते भयमागतम्।
तत् ते व्यपनयिष्यामि नीहारमिव रश्मिवान् ॥ ३९ ॥

'भीरु! इतना क्लेश उठाने—प्रयास करनेकी क्या आवश्यकता है? शोभने! उठो, उठो। कैकेयि! ठीक-ठीक बताओ, तुम्हें किससे कौन-सा भय प्राप्त हुआ है? जैसे अंशुमाली सूर्य कुहरा दूर कर देते हैं, उसी प्रकार मैं तुम्हारे भयका सर्वथा निवारण कर दूँगा'॥ ३९ ॥

तथोक्ता सा समाश्वस्ता वक्तुकामा तदप्रियम्।
परिपीडयितुं भूयो भर्तारमुपचक्रमे ॥ ४० ॥

राजाके ऐसा कहनेपर कैकेयीको कुछ सान्त्वना मिली। अब उसे अपने स्वामीसे वह अप्रिय बात कहनेकी इच्छा हुई। उसने पतिको और अधिक पीड़ा देनेकी तैयारी की॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे दशमः सर्गः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें दसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १० ॥

एकादशः सर्गः

कैकेयीका राजाको प्रतिज्ञाबद्ध करके उन्हें पहलेके दिये हुए दो वरोंका स्मरण दिलाकर भरतके लिये अभिषेक और रामके लिये चौदह वर्षोंका वनवास माँगना

तं मन्मथशरैर्विद्धं कामवेगवशानुगम्।
उवाच पृथिवीपालं कैकेयी दारुणं वचः॥ १॥

भूपाल दशरथ कामदेवके बाणोंसे पीड़ित तथा कामवेगके वशीभूत हो उसीका अनुसरण कर रहे थे। उनसे कैकेयीने यह कठोर वचन कहा—॥ १॥

नास्मि विप्रकृता देव केनचिन्नावमानिता।
अभिप्रायस्तु मे कश्चित् तमिच्छामि त्वया कृतम्॥२॥

'देव! न तो किसीने मेरा अपकार किया है और न किसीके द्वारा मैं अपमानित या निन्दित ही हुई हूँ। मेरा कोई एक अभिप्राय (मनोरथ) है और मैं आपके द्वारा उसकी पूर्ति चाहती हूँ॥ २॥

प्रतिज्ञां प्रतिजानीष्व यदि त्वं कर्तुमिच्छसि।
अथ ते व्याहरिष्यामि यथाभिप्रार्थितं मया॥ ३॥

'यदि आप उसे पूर्ण करना चाहते हों तो प्रतिज्ञा कीजिये। इसके बाद मैं अपना वास्तविक अभिप्राय आपसे कहूँगी'॥ ३॥

तामुवाच महाराजः कैकेयीमीषदुत्स्मयः।
कामी हस्तेन संगृह्य मूर्धजेषु भुवि स्थिताम्॥ ४॥

महाराज दशरथ कामके अधीन हो रहे थे। वे कैकेयीकी बात सुनकर किंचित् मुस्कराये और पृथ्वीपर पड़ी हुई उस देवीके केशोंको हाथसे पकड़कर—उसके सिरको अपनी गोदमें रखकर उससे इस प्रकार बोले—॥ ४॥

अवलिप्ते न जानासि त्वत्तः प्रियतरो मम।
मनुजो मनुजव्याघ्राद् रामादन्यो न विद्यते॥ ५॥

'अपने सौभाग्यपर गर्व करनेवाली कैकेयी! क्या तुम्हें मालूम नहीं है कि नरश्रेष्ठ श्रीरामके अतिरिक्त दूसरा कोई ऐसा मनुष्य नहीं है; जो मुझे तुमसे अधिक प्रिय हो॥ ५॥

तेनाजय्येन मुख्येन राघवेण महात्मना।
शपे ते जीवनार्हेण ब्रूहि यन्मनसेप्सितम्॥ ६॥

'जो प्राणोंके द्वारा भी आराधनीय हैं और जिन्हें जीतना किसीके लिये भी असम्भव है, उन प्रमुख वीर महात्मा श्रीरामकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी कामना पूर्ण होगी; अतः तुम्हारे मनकी जो इच्छा हो उसे बताओ॥ ६॥

यं मुहूर्तमपश्यंस्तु न जीवे तमहं ध्रुवम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ७॥

'कैकेयि! जिन्हें दो घड़ी भी न देखनेपर निश्चय ही मैं जीवित नहीं रह सकता, उन श्रीरामकी शपथ खाकर कह[illegible] हूँ कि तुम जो कहोगी, उसे पूर्ण करूँगा॥ ७॥

आत्मना चात्मजैश्चान्यैर्वृणे यं मनुजर्षभम्।
तेन रामेण कैकेयि शपे ते वचनक्रियाम्॥ ८॥

'केकयनन्दिनि! अपने तथा अपने दूसरे पुत्रो[illegible] निछावर करके भी मैं जिन नरश्रेष्ठ श्रीरामका वरण करने[illegible] उद्यत हूँ, उन्हींकी शपथ खाकर कहता हूँ कि तुम्हारी क[illegible] हुई बात पूरी करूँगा॥ ८॥

भद्रे हृदयमप्येतदनुमृश्योद्धरस्व मे।
एतत् समीक्ष्य कैकेयि ब्रूहि यत् साधु मन्यसे॥ ९॥

'भद्रे! केकयराजकुमारी! मेरा यह हृदय भी तुम[illegible] वचनोंकी पूर्तिके लिये तत्पर है। ऐसा सोचकर तुम अप[illegible] इच्छा व्यक्त करके इस दुःखसे मेरा उद्धार करो। श्री[illegible] सबको अधिक प्रिय हैं—इस बातपर दृष्टिपात करके तुम्हें[illegible] अच्छा जान पड़े, वह कहो॥ ९॥

बलमात्मनि पश्यन्ती न विशङ्कितुमर्हसि।
करिष्यामि तव प्रीतिं सुकृतेनापि ते शपे॥ १०॥

'अपने बलको देखते हुए भी तुम्हें मुझपर श[illegible] नहीं करनी चाहिये। मैं अपने सत्कर्मोंकी शपथ खाकर प्रति[illegible] करता हूँ कि तुम्हारा प्रिय कार्य अवश्य सिद्ध करूँगा'॥१[illegible]

सा तदर्थमना देवी तमभिप्रायमागतम्।
निर्माध्यस्थ्याच्च हर्षाच्च बभाषे दुर्वचं वचः॥ ११॥

रानी कैकेयीका मन स्वार्थकी सिद्धिमें ही लगा हु[illegible] था। उसके हृदयमें भरतके प्रति पक्षपात था और राजा[illegible] अपने वशमें देखकर हर्ष हो रहा था; अतः यह सोचकर [illegible] अब मेरे लिये अपना मतलब साधनेका अवसर आ गया [illegible] वह राजासे ऐसी बात बोली, जिसे मुँहसे निकालना (शत्रु[illegible] लिये भी) कठिन है॥ ११॥

तेन वाक्येन संहृष्टा तमभिप्रायमात्मनः।
व्याजहार महाघोरमभ्यागतमिवान्तकम्॥ १२॥

राजाके उस शपथयुक्त वचनसे उसको बड़ा हर्ष हु[illegible] था। उसने अपने उस अभिप्रायको जो पास आये हु[illegible] यमराजके समान अत्यन्त भयंकर था; इन शब्दों[illegible] व्यक्त किया—॥ १२॥

यथा क्रमेण शपसे वरं मम ददासि च।
तच्छृण्वन्तु त्रयस्त्रिंशद् देवाः सेन्द्रपुरोगमाः॥ १३॥

'राजन्! आप जिस तरह क्रमशः शपथ खा[illegible]

मुझे वर देनेको उद्यत हुए हैं, उसे इन्द्र आदि तैंतीस देवता सुन लें ॥ १३ ॥

चन्द्रादित्यौ नभश्चैव ग्रहा रात्र्यहनी दिशः।
जगच्च पृथिवी चेयं सगन्धर्वाः सराक्षसाः ॥ १४ ॥
निशाचराणि भूतानि गृहेषु गृहदेवताः।
यानि चान्यानि भूतानि जानीयुर्भाषितं तव ॥ १५ ॥

'चन्द्रमा, सूर्य, आकाश, ग्रह, रात, दिन, दिशा, जगत्, यह पृथ्वी, गन्धर्व, राक्षस, रातमें विचरनेवाले प्राणी, घरोंमें रहनेवाले गृहदेवता तथा इनके अतिरिक्त भी जितने प्राणी हों, वे सब आपके कथनको जान लें—आपकी बातोंके साक्षी बनें ॥ १४-१५ ॥

सत्यसंधो महातेजा धर्मज्ञः सत्यवाक्शुचिः।
वरं मम ददात्येष सर्वे शृण्वन्तु दैवताः ॥ १६ ॥

'सब देवता सुनें! महातेजस्वी, सत्यप्रतिज्ञ, धर्मके ज्ञाता, सत्यवादी तथा शुद्ध आचार-विचारवाले ये महाराज मुझे वर दे रहे हैं' ॥ १६ ॥

इति देवी महेष्वासं परिगृह्याभिशस्य च।
ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार काममोहित होकर वर देनेको उद्यत हुए महाधनुर्धर राजा दशरथको अपनी मुट्ठीमें करके देवी कैकेयीने पहले उनकी प्रशंसा की; फिर इस प्रकार कहा—॥ १७ ॥

स्मर राजन् पुरा वृत्तं तस्मिन् देवासुरे रणे।
तत्र त्वां च्यावयच्छत्रुस्तव जीवितमन्तरा ॥ १८ ॥

'राजन्! उस पुरानी बातको याद कीजिये, जब कि देवासुरसंग्राम हो रहा था। वहाँ शत्रुने आपको घायल करके गिरा दिया था, केवल प्राण नहीं लिये थे ॥ १८ ॥

तत्र चापि मया देव यत् त्वं समभिरक्षितः।
जाग्रत्या यतमानायास्ततो मे प्रददौ वरौ ॥ १९ ॥

'देव! उस युद्धस्थलमें सारी रात जागकर अनेक प्रकारके प्रयत्न करके जो मैंने आपके जीवनकी रक्षा की थी उससे संतुष्ट होकर आपने मुझे दो वर दिये थे ॥ १९ ॥

तौ दत्तौ च वरौ देव निक्षेपौ मृगयाम्यहम्।
तवैव पृथिवीपाल सकाशे रघुनन्दन ॥ २० ॥

'देव! पृथ्वीपाल रघुनन्दन! आपके दिये हुए वे दोनों वर मैंने धरोहरके रूपमें आपके ही पास रख दिये थे। आज इस समय उन्हींकी मैं खोज करती हूँ ॥ २० ॥

तत् प्रतिश्रुत्य धर्मेण न चेद् दास्यसि मे वरम्।
अद्यैव हि प्रहास्यामि जीवितं त्वद्विमानिता ॥ २१ ॥

'इस प्रकार धर्मतः प्रतिज्ञा करके यदि आप मेरे उन वरोंको नहीं देंगे तो मैं अपनेको आपके द्वारा अपमानित हुई समझकर आज ही प्राणोंका परित्याग कर दूँगी' ॥ २१ ॥

वाङ्मात्रेण तदा राजा कैकेय्या स्ववशे कृतः।
प्रचस्कन्द विनाशाय पाशं मृग इवात्मनः ॥ २२ ॥

जैसे मृग बहेलियेकी वाणीमात्रसे अपने ही विनाशके लिये उसके जालमें फँस जाता है, उसी प्रकार कैकेयीके वशीभूत हुए राजा दशरथ उस समय पूर्वकालके वरदान-वाक्यका स्मरण करानेमात्रसे अपने ही विनाशके लिये प्रतिज्ञाके बन्धनमें बँध गये ॥ २२ ॥

ततः परमुवाचेदं वरदं काममोहितम्।
वरौ देयौ त्वया देव तदा दत्तौ महीपते ॥ २३ ॥
तौ तावदहमद्यैव वक्ष्यामि शृणु मे वचः।
अभिषेकसमारम्भो राघवस्योपकल्पितः ॥ २४ ॥
अनेनैवाभिषेकेण भरतो मेऽभिषिच्यताम्।

तदनन्तर कैकेयीने काममोहित होकर वर देनेके लिये उद्यत हुए राजासे इस प्रकार कहा—'देव! पृथ्वीनाथ! उन दिनों आपने जो दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उन्हें अब मुझे देना चाहिये। उन दोनों वरोंको मैं अभी बताऊँगी—आप मेरी बात सुनिये—यह जो श्रीरामके राज्याभिषेककी तैयारी की गयी है, इसी अभिषेक-सामग्रीद्वारा मेरे पुत्र भरतका अभिषेक किया जाय ॥ २३-२४½ ॥

यो द्वितीयो वरो देव दत्तः प्रीतेन मे त्वया ॥ २५ ॥
तदा देवासुरे युद्धे तस्य कालोऽयमागतः।

'देव! आपने उस समय देवासुरसंग्राममें प्रसन्न होकर मेरे लिये जो दूसरा वर दिया था, उसे प्राप्त करनेका यह समय भी अभी आया है ॥ २५½ ॥

नव पञ्च च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः ॥ २६ ॥
चीराजिनधरो धीरो रामो भवतु तापसः।
भरतो भजतामद्य यौवराज्यमकण्टकम् ॥ २७ ॥

'धीर स्वभाववाले श्रीराम तपस्वीके वेशमें वल्कल तथा मृगचर्म धारण करके चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें जाकर रहें। भरतको आज निष्कण्टक युवराजपद प्राप्त हो जाय ॥

एष मे परमः कामो दत्तमेव वरं वृणे।
अद्य चैव हि पश्येयं प्रयान्तं राघवं वने ॥ २८ ॥

'यही मेरी सर्वश्रेष्ठ कामना है। मैं आपसे पहलेका दिया हुआ वर ही माँगती हूँ। आप ऐसी व्यवस्था करें, जिससे मैं आज ही श्रीरामको वनकी ओर जाते देखूँ ॥ २८ ॥

स राजराजो भव सत्यसंगरः
कुलं च शीलं च हि जन्म रक्ष च।
परत्र वासे हि वदन्त्यनुत्तमं
तपोधनाः सत्यवचो हितं नृणाम् ॥ २९ ॥

'आप राजाओंके राजा हैं; अतः सत्यप्रतिज्ञ बनिये और

उस सत्यके द्वारा अपने कुल, शील तथा जन्मकी रक्षा कीजिये। तपस्वी पुरुष कहते हैं कि सत्य बोलना सबसे श्रेष्ठ धर्म है। वह परलोकमें निवास होनेपर मनुष्योंके लिये परम कल्याणकारी होता है ॥ २९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकादशः सर्गः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें ग्यारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशः सर्गः

महाराज दशरथकी चिन्ता, विलाप, कैकेयीको फटकारना, समझाना और उससे वैसा वर न माँगनेके लिये अनुरोध करना

ततः श्रुत्वा महाराजः कैकेय्या दारुणं वचः।
चिन्तामभिसमापेदे मुहूर्तं प्रतताप च ॥ १ ॥

कैकेयीका यह कठोर वचन सुनकर महाराज दशरथको बड़ी चिन्ता हुई। वे एक मुहूर्ततक अत्यन्त संताप करते रहे ॥ १ ॥

किं नु मेऽयं दिवास्वप्नश्चित्तमोहोऽपि वा मम।
अनुभूतोपसर्गो वा मनसो वाप्युपद्रवः ॥ २ ॥

उन्होंने सोचा—'क्या दिनमें ही यह मुझे स्वप्न दिखायी दे रहा है? अथवा मेरे चित्तका मोह है? या किसी भूत (ग्रह आदि) के आवेशसे चित्तमें विकलता आ गयी है? या आधि-व्याधिके कारण यह कोई मनका ही उपद्रव है'॥२॥

इति संचिन्त्य तद् राजा नाध्यगच्छत् तदासुखम्।
प्रतिलभ्य ततः संज्ञां कैकेयीवाक्यतापितः ॥ ३ ॥

यही सोचते हुए उन्हें अपने भ्रमके कारणका पता नहीं लगा। उस समय राजाको मूर्च्छित कर देनेवाला महान् दुःख प्राप्त हुआ। तत्पश्चात् होशमें आनेपर कैकेयीकी बातको याद करके उन्हें पुनः संताप होने लगा ॥ ३ ॥

व्यथितो विक्लवश्चैव व्याघ्रीं दृष्ट्वा यथा मृगः।
असंवृतायामासीनो जगत्यां दीर्घमुच्छ्वसन् ॥ ४ ॥
मण्डले पन्नगो रुद्धो मन्त्रैरिव महाविषः।

जैसे किसी बाघिनको देखकर मृग व्यथित हो जाता है, उसी प्रकार वे नरेश कैकेयीको देखकर पीडित एवं व्याकुल हो उठे। बिस्तररहित खाली भूमिपर बैठे हुए राजा लंबी साँस खींचने लगे, मानो कोई महाविषैला सर्प किसी मण्डलमें मन्त्रोंद्वारा अवरुद्ध हो गया हो ॥ ४½ ॥

अहो धिगिति सामर्षो वाचमुक्त्वा नराधिपः ॥ ५ ॥
मोहमापेदिवान् भूयः शोकोपहतचेतनः।

राजा दशरथ रोषमें भरकर 'अहो! धिक्कार है' यह कहकर पुनः मूर्च्छित हो गये। शोकके कारण उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी ॥ ५½ ॥

चिरेण तु नृपः संज्ञां प्रतिलभ्य सुदुःखितः ॥ ६ ॥
कैकेयीमब्रवीत् क्रुद्धो निर्दहन्निव तेजसा।

बहुत देरके बाद जब उन्हें फिर चेत हुआ, तब वे नरेश अत्यन्त दुखी होकर कैकेयीको अपने तेजसे दग्ध-सी करते हुए क्रोधपूर्वक उससे बोले—॥ ६½ ॥

नृशंसे दुष्टचारित्रे कुलस्यास्य विनाशिनि ॥ ७ ॥
किं कृतं तव रामेण पापे पापं मयापि वा।

'दयाहीन दुराचारिणी कैकेयि! तू इस कुलका विनाश करनेवाली डाइन है। पापिनि! बता, मैंने अथवा श्रीरामने तेरा क्या बिगाड़ा है? ॥ ७½ ॥

सदा ते जननीतुल्यां वृत्तिं वहति राघवः ॥ ८ ॥
तस्यैवं त्वमनर्थाय किंनिमित्तमिहोद्यता।

'श्रीरामचन्द्र तो तेरे साथ सदा सगी माताका-सा बर्ताव करते आये हैं; फिर तू किस लिये उनका इस तरह अनिष्ट करनेपर उतारू हो गयी है ॥ ८½ ॥

त्वं मयाऽऽत्मविनाशाय भवनं स्वं निवेशिता ॥ ९ ॥
अविज्ञानान्नृपसुता व्याला तीक्ष्णविषा यथा।

'मालूम होता है—मैंने अपने विनाशके लिये ही तुझे अपने घरमें लाकर रखा था। मैं नहीं जानता था कि तू राजकन्याके रूपमें तीखे विषवाली नागिन है ॥ ९½ ॥

जीवलोको यदा सर्वो रामस्याह गुणस्तवम् ॥ १० ॥
अपराधं कमुद्दिश्य त्यक्ष्यामीष्टमहं सुतम्।

'जब सारा जीव-जगत् श्रीरामके गुणोंकी प्रशंसा करता है, तब मैं किस अपराधके कारण अपने उस प्यारे पुत्रको त्याग दूँ? ॥ १०½ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च त्यजेयमपि वा श्रियम् ॥ ११ ॥
जीवितं चात्मनो रामं न त्वेव पितृवत्सलम्।

'मैं कौसल्या और सुमित्राको भी छोड़ सकता हूँ, राजलक्ष्मीका भी परित्याग कर सकता हूँ, परंतु अपने प्राणस्वरूप पितृभक्त श्रीरामको नहीं छोड़ सकता ॥ ११½ ॥

परा भवति मे प्रीतिर्दृष्ट्वा तनयमग्रजम् ॥ १२ ॥
अपश्यतस्तु मे रामं नष्टं भवति चेतनम्।

'अपने ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखते ही मेरे हृदयमें परम-

प्रेम उमड़ आता है; परंतु जब मैं श्रीरामको नहीं देखता हूँ, तब मेरी चेतना नष्ट होने लगती है ॥ १२½ ॥

तिष्ठेल्लोको विना सूर्यं सस्यं वा सलिलं विना ॥ १३ ॥
न तु रामं विना देहे तिष्ठेत्तु मम जीवितम् ।

'सम्भव है सूर्यके बिना यह संसार टिक सके अथवा पानीके बिना खेती उपज सके, परंतु श्रीरामके बिना मेरे शरीरमें प्राण नहीं रह सकते ॥ १३½ ॥

तदलं त्यज्यतामेष निश्चयः पापनिश्चये ॥ १४ ॥
अपि ते चरणौ मूर्ध्ना स्पृशाम्येष प्रसीद मे ।
किमर्थं चिन्तितं पापे त्वया परमदारुणम् ॥ १५ ॥

'अतः ऐसा वर माँगनेसे कोई लाभ नहीं। पापपूर्ण निश्चयवाली कैकेयि ! तू इस निश्चय अथवा दुराग्रहको त्याग दे। यह लो, मैं तेरे पैरोंपर अपना मस्तक रखता हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जा। पापिनि ! तूने ऐसी परम क्रूरतापूर्ण बात किस लिये सोची है ? ॥ १४-१५ ॥

अथ जिज्ञाससे मां त्वं भरतस्य प्रियाप्रिये ।
अस्तु यत्तत्त्वया पूर्वं व्याहृतं राघवं प्रति ॥ १६ ॥

'यदि यह जानना चाहती है कि भरत मुझे प्रिय हैं या अप्रिय तो रघुनन्दन भरतके सम्बन्धमें तू पहले जो कुछ कह चुकी है, वह पूर्ण हो अर्थात् तेरे प्रथम वरके अनुसार मैं भरतका राज्याभिषेक स्वीकार करता हूँ ॥ १६ ॥

स मे ज्येष्ठसुतः श्रीमान् धर्मज्येष्ठ इतीव मे ।
तत् त्वया प्रियवादिन्या सेवार्थं कथितं भवेत् ॥ १७ ॥

'तू पहले कहा करती थी कि 'श्रीराम मेरे बड़े बेटे हैं, वे धर्माचरणमें भी सबसे बड़े हैं !' परंतु अब मालूम हुआ कि तू ऊपर-ऊपरसे चिकनी-चुपड़ी बातें किया करती थी और वह बात तूने श्रीरामसे अपनी सेवा करानेके लिये ही कही होगी ॥ १७ ॥

तच्छ्रुत्वा शोकसंतप्ता संतापयसि मां भृशम् ।
आविष्टासि गृहे शून्ये सा त्वं परवशं गता ॥ १८ ॥

'आज श्रीरामके अभिषेककी बात सुनकर तू शोकसे संतप्त हो उठी है और मुझे भी बहुत संताप दे रही है; इससे जान पड़ता है कि इस सूने घरमें तुझपर भूत आदिका आवेश हो गया है, अतः तू परवश होकर ऐसी बातें कह रही है ॥ १८ ॥

इक्ष्वाकूणां कुले देवि सम्प्राप्तः सुमहानयम् ।
अनयो नयसम्पन्ने यत्र ते विकृता मतिः ॥ १९ ॥

'देवि ! न्यायशील इक्ष्वाकुवंशमें यह बड़ा भारी अन्याय आकर उपस्थित हुआ है, जहाँ तेरी बुद्धि इस प्रकार विकृत हो गयी है ॥ १९ ॥

नहि किंचिदयुक्तं वा विप्रियं वा पुरा मम ।
अकरोस्त्वं विशालाक्षि तेन न श्रद्दधामि ते ॥ २० ॥

'विशाललोचने ! आजसे पहले तूने कभी कोई ऐसा आचरण नहीं किया है, जो अनुचित अथवा मेरे लिये अप्रिय हो; इसीलिये तेरी आजकी बातपर भी मुझे विश्वास नहीं होता है ॥ २० ॥

ननु ते राघवस्तुल्यो भरतेन महात्मना ।
बहुशो हि स्म बाले त्वं कथाः कथयसे मम ॥ २१ ॥

'तेरे लिये तो श्रीराम भी महात्मा भरतके ही तुल्य हैं। बाले ! तू बहुत बार बातचीतके प्रसंगमें स्वयं ही यह बात मुझसे कहती रही है ॥ २१ ॥

तस्य धर्मात्मनो देवि वने वासं यशस्विनः ।
कथं रोचयसे भीरु नव वर्षाणि पञ्च च ॥ २२ ॥

'भीरु स्वभाववाली देवि ! उन्हीं धर्मात्मा और यशस्वी श्रीरामका चौदह वर्षोंके लिये वनवास तुझे कैसे अच्छा लगता है ? ॥ २२ ॥

अत्यन्तसुकुमारस्य तस्य धर्मे कृतात्मनः ।
कथं रोचयसे वासमरण्ये भृशदारुणे ॥ २३ ॥

'जो अत्यन्त सुकुमार और धर्ममें दृढ़तापूर्वक मन लगाये रखनेवाले हैं, उन्हीं श्रीरामको वनवास देना तुझे कैसे रुचिकर जान पड़ता है ? अहो ! तेरा हृदय बड़ा कठोर है ॥ २३ ॥

रोचयस्यभिरामस्य रामस्य शुभलोचने ।
तव शुश्रूषमाणस्य किमर्थं विप्रवासनम् ॥ २४ ॥

'सुन्दर नेत्रोंवाली कैकेयि ! जो सदा तेरी सेवा-शुश्रूषामें लगे रहते हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको देशनिकाला दे देनेकी इच्छा तुझे किसलिये हो रही है ? ॥ २४ ॥

रामो हि भरताद् भूयस्तव शुश्रूषते सदा ।
विशेषं त्वयि तस्मात् तु भरतस्य न लक्षये ॥ २५ ॥

'मैं देखता हूँ, भरतसे अधिक श्रीराम ही सदा तेरी सेवा करते हैं। भरत उनसे अधिक तेरी सेवामें रहते हों, ऐसा मैंने कभी नहीं देखा है ॥ २५ ॥

शुश्रूषां गौरवं चैव प्रमाणं वचनक्रियाम् ।
कस्तु भूयस्तरं कुर्यादन्यत्र पुरुषर्षभात् ॥ २६ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीरामसे बढ़कर दूसरा कौन है, जो गुरुजनोंकी सेवा करने, उन्हें गौरव देने, उनकी बातोंको मान्यता देने और उनकी आज्ञाका तुरंत पालन करनेमें अधिक तत्परता दिखाता हो ॥ २६ ॥

बहूनां स्त्रीसहस्राणां बहूनां चोपजीविनाम् ।
परिवादोऽपवादो वा राघवे नोपपद्यते ॥ २७ ॥

'मेरे यहाँ कई सहस्र स्त्रियाँ हैं और बहुत-से उपजीवी भृत्यजन हैं; परंतु किसीके मुँहसे श्रीरामके सम्बन्धमें सच्ची या झूठी किसी प्रकारकी शिकायत नहीं सुनी जाती ॥ २७ ॥

सान्त्वयन् सर्वभूतानि रामः शुद्धेन चेतसा ।
गृह्णाति मनुजव्याघ्रः प्रियैर्विषयवासिनः ॥ २८ ॥

'पुरुषसिंह श्रीराम समस्त प्राणियोंको शुद्ध हृदयसे सान्त्वना देते हुए प्रिय आचरणोंद्वारा राज्यकी समस्त प्रजाओंको अपने वशमें किये रहते हैं ॥ २८ ॥

सत्येन लोकाञ्जयति द्विजान् दानेन राघवः।
गुरूञ्छुश्रूषया वीरो धनुषा युधि शात्रवान् ॥ २९ ॥

'वीर श्रीरामचन्द्र अपने सात्त्विक भावसे समस्त लोकोंको, दानके द्वारा द्विजोंको, सेवासे गुरुजनोंको और धनुष-बाणद्वारा युद्धस्थलमें शत्रु-सैनिकोंको जीतकर अपने अधीन कर लेते हैं॥

सत्यं दानं तपस्त्यागो मित्रता शौचमार्जवम्।
विद्या च गुरुशुश्रूषा ध्रुवाण्येतानि राघवे ॥ ३० ॥

'सत्य, दान, तप, त्याग, मित्रता, पवित्रता, सरलता, विद्या और गुरु-शुश्रूषा—ये सभी सद्गुण श्रीराममें स्थिररूपसे रहते हैं ॥ ३० ॥

तस्मिन्नार्जवसम्पन्ने देवि देवोपमे कथम्।
पापमाशंससे रामे महर्षिसमतेजसि ॥ ३१ ॥

'देवि ! महर्षियोंके समान तेजस्वी उन सीधे-सादे देव-तुल्य श्रीरामका तू क्यों अनिष्ट करना चाहती है ? ॥ ३१ ॥

न स्मराम्यप्रियं वाक्यं लोकस्य प्रियवादिनः।
स कथं त्वत्कृते रामं वक्ष्यामि प्रियमप्रियम् ॥ ३२ ॥

'श्रीराम सब लोगोंसे प्रिय बोलते हैं। उन्होंने कभी किसीको अप्रिय वचन कहा हो, ऐसा मुझे याद नहीं पड़ता। ऐसे सर्वप्रिय रामसे मैं तेरे लिये अप्रिय बात कैसे कहूँगा ? ॥

क्षमा यस्मिंस्तपस्त्यागः सत्यं धर्मः कृतज्ञता।
अप्यहिंसा च भूतानां तमृते का गतिर्मम ॥ ३३ ॥

'जिनमें क्षमा, तप, त्याग, सत्य, धर्म, कृतज्ञता और समस्त जीवोंके प्रति दया भरी हुई है, उन श्रीरामके बिना मेरी क्या गति होगी ? ॥ ३३ ॥

मम वृद्धस्य कैकेयि गतान्तस्य तपस्विनः।
दीनं लालप्यमानस्य कारुण्यं कर्तुमर्हसि ॥ ३४ ॥

'कैकेयि ! मैं बूढ़ा हूँ। मौतके किनारे बैठा हूँ। मेरी अवस्था शोचनीय हो रही है और मैं दीनभावसे तेरे सामने गिड़गिड़ा रहा हूँ। तुझे मुझपर दया करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यत् किंचिदधिगम्यते।
तत् सर्वं तव दास्यामि मा च त्वं मन्युमाविश ॥ ३५ ॥

'समुद्रपर्यन्त पृथ्वीपर जो कुछ मिल सकता है, वह सब मैं तुझे दे दूँगा, परंतु तू ऐसे दुराग्रहमें न पड़, जो मुझे मौतके मुँहमें ढकेलनेवाला हो ॥ ३५ ॥

अञ्जलिं कुर्मि कैकेयि पादौ चापि स्पृशामि ते।
शरणं भव रामस्य माधर्मो मामिह स्पृशेत् ॥ ३६ ॥

'केकयनन्दिनि ! मैं हाथ जोड़ता हूँ और तेरे पैरों पड़ता हूँ। तू श्रीरामको शरण दे, जिससे यहाँ मुझे पाप न लगे' ॥

इति दुःखाभिसंतप्तं विलपन्तमचेतनम्।
घूर्णमानं महाराजं शोकेन समभिप्लुतम् ॥ ३७ ॥
पारं शोकार्णवस्याशु प्रार्थयन्तं पुनः पुनः।
प्रत्युवाचाथ कैकेयी रौद्रा रौद्रतरं वचः ॥ ३८ ॥

महाराज दशरथ इस प्रकार दुःखसे संतप्त होकर विलाप कर रहे थे। उनकी चेतना बार-बार लुप्त हो जाती थी। उनके मस्तिष्कमें चक्कर आ रहा था और वे शोकमग्न हो उस शोकसागरसे शीघ्र पार होनेके लिये बारंबार अनुनय-विनय कर रहे थे, तो भी कैकेयीका हृदय नहीं पिघला। वह और भी भीषण रूप धारण करके अत्यन्त कठोर वाणीमें उन्हें इस प्रकार उत्तर देने लगी—॥ ३७-३८ ॥

यदि दत्त्वा वरौ राजन् पुनः प्रत्यनुतप्यसे।
धार्मिकत्वं कथं वीर पृथिव्यां कथयिष्यसि ॥ ३९ ॥

'राजन् ! यदि दो वरदान देकर आप फिर उनके लिये पश्चात्ताप करते हैं तो वीर नरेश्वर ! इस भूमण्डलमें आप अपनी धार्मिकताका ढिंढोरा कैसे पीट सकेंगे ? ॥ ३९ ॥

यदा समेता बहवस्त्वया राजर्षयः सह।
कथयिष्यन्ति धर्मज्ञ तत्र किं प्रतिवक्ष्यसि ॥ ४० ॥

'धर्मके ज्ञाता महाराज ! जब बहुत-से राजर्षि एकत्र होकर आपके साथ मुझे दिये हुए वरदानके विषयमें बातचीत करेंगे, उस समय वहाँ आप उन्हें क्या उत्तर देंगे ? ॥ ४० ॥

यस्याः प्रसादे जीवामि या च मामभ्यपालयत्।
तस्याः कृता मया मिथ्या कैकेय्या इति वक्ष्यसि॥ ४१ ॥

'यही कहेंगे न, कि जिसके प्रसादसे मैं जीवित हूँ, जिसने (बहुत बड़े संकटसे) मेरी रक्षा की, उसी कैकेयीको वर देनेके लिये की हुई प्रतिज्ञा मैंने झूठी कर दी ॥ ४१ ॥

किल्बिषं त्वं नरेन्द्राणां करिष्यसि नराधिप।
यो दत्त्वा वरमद्यैव पुनरन्यानि भाषसे ॥ ४२ ॥

'महाराज ! आज ही वरदान देकर यदि आप फिर उससे विपरीत बात कहेंगे तो अपने कुलके राजाओंके माथे कलंकका टीका लगायेंगे ॥ ४२ ॥

शैब्यः श्येनकपोतीये स्वमांसं पक्षिणे ददौ।
अलर्कश्चक्षुषी दत्त्वा जगाम गतिमुत्तमाम् ॥ ४३ ॥

'राजा शैब्यने बाज और कबूतरके झगड़ेमें (कबूतरके प्राण बचानेकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये) बाज नामक पक्षीको अपने शरीरका मांस काटकर दे दिया था। इसी तरह राजा अलर्कने (एक अंधे ब्राह्मणको) अपने दोनों नेत्रोंका दान करके परम उत्तम गति प्राप्त की थी ॥ ४३ ॥

सागरः समयं कृत्वा न वेलामतिवर्तते।
समयं मानृतं कार्षीः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ४४ ॥

'समुद्रने (देवताओंके समक्ष) अपनी नियत सीमाको

न लाँघनेकी प्रतिज्ञा की थी, सो अबतक वह उसका उल्लङ्घन नहीं करता है। आप भी पूर्ववर्ती महापुरुषोंके बर्तावको सदा ध्यानमें रखकर अपनी प्रतिज्ञा झूठी न करें ॥ ४४ ॥

स त्वं धर्मं परित्यज्य रामं राज्येऽभिषिच्य च।
सह कौसल्यया नित्यं रन्तुमिच्छसि दुर्मते ॥ ४५ ॥

'(परंतु आप मेरी बात क्यों सुनेंगे ?) दुर्बुद्धि नरेश ! आप तो धर्मको तिलाञ्जलि देकर श्रीरामको राज्यपर अभिषिक्त करके रानी कौसल्याके साथ सदा मौज उड़ाना चाहते हैं ॥ ४५ ॥

भवत्वधर्मो धर्मो वा सत्यं वा यदि वानृतम्।
यत्त्वया संश्रुतं मह्यं तस्य नास्ति व्यतिक्रमः ॥ ४६ ॥

'अब धर्म हो या अधर्म, झूठ हो या सच, जिस बातके लिये आपने मुझसे प्रतिज्ञा कर ली है, उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता ॥ ४६ ॥

अहं हि विषमद्यैव पीत्वा बहु तवाग्रतः।
पश्यतस्ते मरिष्यामि रामो यद्यभिषिच्यते ॥ ४७ ॥

'यदि श्रीरामका राज्याभिषेक होगा तो मैं आपके सामने आपके देखते-देखते आज ही बहुत-सा विष पीकर मर जाऊँगी ॥ ४७ ॥

एकाहमपि पश्येयं यद्यहं राममातरम्।
अञ्जलिं प्रतिगृह्णन्तीं श्रेयो ननु मृतिर्मम ॥ ४८ ॥

'यदि मैं एक दिन भी राममाता कौसल्याको राजमाता होनेके नाते दूसरे लोगोंसे अपनेको हाथ जोड़वाती देख लूँगी तो उस समय मैं अपने लिये मर जाना ही अच्छा समझूँगी ॥

भरतेनात्मना चाहं शपे ते मनुजाधिप।
यथा नान्येन तुष्येयमृते रामविवासनात् ॥ ४९ ॥

'नरेश्वर ! मैं आपके सामने अपनी और भरतकी शपथ खाकर कहती हूँ कि श्रीरामको इस देशसे निकाल देनेके सिवा दूसरे किसी वरसे मुझे संतोष नहीं होगा' ॥ ४९ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं कैकेयी विरराम ह।
विलपन्तं च राजानं न प्रतिव्याजहार सा ॥ ५० ॥

इतना कहकर कैकेयी चुप हो गयी। राजा बहुत रोये-गिड़गिड़ाये; किंतु उसने उनकी किसी बातका जवाब नहीं दिया ॥ ५० ॥

श्रुत्वा तु राजा कैकेय्या वाक्यं परमशोभनम्।
रामस्य च वने वासमैश्वर्यं भरतस्य च ॥ ५१ ॥
नाभ्यभाषत कैकेयीं मुहूर्तं व्याकुलेन्द्रियः।
प्रैक्षतानिमिषो देवीं प्रियामप्रियवादिनीम् ॥ ५२ ॥

'श्रीरामका वनवास हो और भरतका राज्याभिषेक', कैकेयीके मुखसे यह परम अमङ्गलकारी वचन सुनकर राजाकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठीं। वे एक मुहूर्ततक कैकेयीसे कुछ न बोले। उस अप्रिय वचन बोलनेवाली प्यारी रानीकी ओर केवल एकटक दृष्टिसे देखते रहे ॥ ५१-५२ ॥

तां हि वज्रसमां वाचमाकर्ण्य हृदयाप्रियाम्।
दुःखशोकमयीं श्रुत्वा राजा न सुखितोऽभवत् ॥ ५३ ॥

मनको अप्रिय लगनेवाली कैकेयीकी वह वज्रके समान कठोर तथा दुःख-शोकमयी वाणी सुनकर राजाको बड़ा दुःख हुआ। उनकी सुख-शान्ति छिन गयी ॥ ५३ ॥

स देव्या व्यवसायं च घोरं च शपथं कृतम्।
ध्यात्वा रामेति निःश्वस्य च्छिन्नस्तरुरिवापतत् ॥ ५४ ॥

देवी कैकेयीके उस घोर निश्चय और किये हुए शपथकी ओर ध्यान जाते ही वे 'हा राम!' कहकर लंबी साँस खींचते हुए कटे वृक्षकी भाँति गिर पड़े ॥ ५४ ॥

नष्टचित्तो यथोन्मत्तो विपरीतो यथातुरः।
हृततेजा यथा सर्पो बभूव जगतीपतिः ॥ ५५ ॥

उनकी चेतना लुप्त-सी हो गयी। वे उन्मादग्रस्त-से प्रतीत होने लगे। उनकी प्रकृति विपरीत-सी हो गयी। वे रोगी-से जान पड़ते थे। इस प्रकार भूपाल दशरथ मन्त्रसे जिसका तेज हर लिया गया हो उस सर्पके समान निश्चेष्ट हो गये ॥

दीनयाऽऽतुरया वाचा इति होवाच कैकयीम्।
अनर्थमिममर्थाभं केन त्वमुपदेशिता ॥ ५६ ॥

तदनन्तर उन्होंने दीन और आतुर वाणीमें कैकेयीसे इस प्रकार कहा—'अरी ! तुझे अनर्थ ही अर्थ-सा प्रतीत हो रहा है, किसने तुझे इसका उपदेश दिया है ? ॥ ५६ ॥

भूतोपहतचित्तेव ब्रुवन्ती मां न लज्जसे।
शीलव्यसनमेतत् ते नाभिजानाम्यहं पुरा ॥ ५७ ॥

'जान पड़ता है, तेरा चित्त किसी भूतके आवेशसे दूषित हो गया है। पिशाचग्रस्त नारीकी भाँति मेरे सामने ऐसी बातें कहती हुई तू लज्जित क्यों नहीं होती ? मुझे पहले इस बातका पता नहीं था कि तेरा यह कुलाङ्गनोचित शील इस तरह नष्ट हो गया है ॥ ५७ ॥

बालायास्तत् त्विदानीं ते लक्षये विपरीतवत्।
कुतो वा ते भयं जातं या त्वमेवंविधं वरम् ॥ ५८ ॥
राष्ट्रे भरतमासीनं वृणीषे राघवं वने।
विरमैतेन भावेन त्वमेतेनानृतेन च ॥ ५९ ॥

'बालावस्थामें जो तेरा शील था, उसे इस समय मैं विपरीत-सा देख रहा हूँ। तुझे किस बातका भय हो गया है जो इस तरहका वर माँगती है ? भरत राज्य-सिंहासनपर बैठें और श्रीराम वनमें रहें—यही तू माँग रही है। यह बड़ा असत्य तथा ओछा विचार है। तू अब भी इससे विरत हो जा ॥

यदि भर्तुः प्रियं कार्यं लोकस्य भरतस्य च।
नृशंसे पापसंकल्पे क्षुद्रे दुष्कृतकारिणि ॥ ६० ॥

'क्रूर स्वभाव और पापपूर्ण विचारवाली नीच दुराचारिणि !

यदि अपने पतिका, सारे जगत्का और भरतका भी प्रिय करना चाहती है तो इस दूषित संकल्पको त्याग दे ॥ ६० ॥

किं नु दुःखमलीकं वा मयि रामे च पश्यसि ।
न कथंचिदृते रामाद् भरतो राज्यमावसेत् ॥ ६१ ॥

'तू मुझमें या श्रीराममें कौन-सा दुःखदायक या अप्रिय बर्ताव देख रही है (कि ऐसा नीच कर्म करनेपर उतारू हो गयी है); श्रीरामके बिना भरत किसी तरह राज्य लेना स्वीकार नहीं करेंगे ॥ ६१ ॥

रामादपि हि तं मन्ये धर्मतो बलवत्तरम् ।
कथं द्रक्ष्यामि रामस्य वनं गच्छेति भाषिते ॥ ६२ ॥
मुखवर्णं विवर्णं तु यथैवेन्दुमुपप्लुतम् ।

'क्योंकि मेरी समझमें धर्मपालनकी दृष्टिसे भरत श्रीरामसे भी बढ़े-चढ़े हैं । श्रीरामसे यह कह देनेपर कि तुम वनको जाओ; जब उनके मुखकी कान्ति राहुग्रस्त चन्द्रमाकी भाँति फीकी पड़ जायगी, उस समय मैं कैसे उनके उस उदास मुख-की ओर देख सकूँगा ? ॥ ६२½ ॥

तां तु मे सुकृतां बुद्धिं सुहृद्भिः सह निश्चिताम् ॥ ६३ ॥
कथं द्रक्ष्याम्यपावृत्तां परैरिव हतां चमूम् ।

'मैंने श्रीरामके अभिषेकका निश्चय सुहृदोंके साथ विचार करके किया है, मेरी यह बुद्धि शुभ कर्ममें प्रवृत्त हुई है; अब मैं इसे शत्रुओंद्वारा पराजित हुई सेनाकी भाँति पलटी हुई कैसे देखूँगा ? ॥ ६३½ ॥

किं मां वक्ष्यन्ति राजानो नानादिग्भ्यः समागताः ६४
बालो बतायमैक्ष्वाकश्चिरं राज्यमकारयत् ।

'नाना दिशाओंसे आये हुए राजा लोग मुझे लक्ष्य करके खेदपूर्वक कहेंगे कि इस मूढ इक्ष्वाकुवंशी राजाने कैसे दीर्घकालतक इस राज्यका पालन किया है ? ॥ ६४½ ॥

यदा हि बहवो वृद्धा गुणवन्तो बहुश्रुताः ॥ ६५ ॥
परिप्रक्ष्यन्ति काकुत्स्थं वक्ष्यामीह कथं तदा ।
कैकेय्या क्लिश्यमानेन पुत्रः प्रव्राजितो मया ॥ ६६ ॥

'जब बहुत-से बहुश्रुत गुणवान् एवं वृद्ध पुरुष आकर मुझसे पूछेंगे कि श्रीराम कहाँ हैं ? तब मैं उनसे कैसे यह कहूँगा कि कैकेयीके दबाव देनेपर मैंने अपने बेटेको घरसे निकाल दिया ॥ ६५-६६ ॥

यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति ।
किं मां वक्ष्यति कौसल्या राघवे वनमास्थिते ॥ ६७ ॥
किं चैनां प्रतिवक्ष्यामि कृत्वा विप्रियमीदृशम् ।

'यदि कहूँ कि श्रीरामको वनवास देकर मैंने सत्यका पालन किया है तो इसके पहले जो उन्हें राज्य देनेकी बात कह चुका हूँ, वह असत्य हो जायगी । यदि राम वनको चले गये तो कौसल्या मुझे क्या कहेगी ? उसका ऐसा महान् अपकार करके मैं उसे क्या उत्तर दूँगा ॥ ६७½ ॥

यदा यदा च कौसल्या दासीव च सखीव च ॥ ६८ ॥
भार्यावद् भगिनीवच्च मातृवच्चोपतिष्ठति ।
सततं प्रियकामा मे प्रियपुत्रा प्रियंवदा ॥ ६९ ॥
न मया सत्कृता देवी सत्कारार्हा कृते तव ।

'हाय ! जिसका पुत्र मुझे सबसे अधिक प्रिय है, वह प्रिय वचन बोलनेवाली कौसल्या जब-जब दासी, सखी, पत्नी, बहिन और माताकी भाँति मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे मेरी सेवामें उपस्थित होती थी, तब-तब उस सत्कार पानेयोग्य देवीका भी मैंने तेरे ही कारण कभी सत्कार नहीं किया ॥ ६८-६९½ ॥

इदानीं तत्तपति मां यन्मया सुकृतं त्वयि ॥ ७० ॥
अपथ्यव्यञ्जनोपेतं भुक्तमन्नमिवातुरम् ।

'तेरे साथ जो मैंने इतना अच्छा बर्ताव किया, वह याद आकर इस समय मुझे उसी प्रकार संताप दे रहा है, जैसे अपथ्य (हानिकारक) व्यञ्जनोंसे युक्त खाया हुआ अन्न किसी रोगीको कष्ट देता है ॥ ७०½ ॥

विप्रकारं च रामस्य सम्प्रयाणं वनस्य च ॥ ७१ ॥
सुमित्रा प्रेक्ष्य वै भीता कथं मे विश्वसिष्यति ।

'श्रीरामके अभिषेकका निवारण और उनका वनकी ओर प्रस्थान देखकर निश्चय ही सुमित्रा भयभीत हो जायगी, फिर वह कैसे मेरा विश्वास करेगी ? ॥ ७१½ ॥

कृपणं बत वैदेही श्रोष्यति द्वयमप्रियम् ॥ ७२ ॥
मां च पञ्चत्वमापन्नं रामं च वनमाश्रितम् ।

'हाय ! बेचारी सीताको एक ही साथ दो दुःखद एवं अप्रिय समाचार सुनने पड़ेंगे—श्रीरामका वनवास और मेरी मृत्यु ॥ ७२½ ॥

वैदेही बत मे प्राणाञ्शोचन्ती क्षपयिष्यति ॥ ७३ ॥
हीना हिमवतः पार्श्वे किंनरेणेव किंनरी ।

'जब वह श्रीरामके लिये शोक करने लगेगी, उस समय मेरे प्राणोंका नाश कर डालेगी—उसका शोक देखकर मेरे प्राण इस शरीरमें नहीं रह सकेंगे । उसकी दशा हिमालयके पार्श्वभागमें अपने स्वामी किन्नरसे बिछुड़ी हुई किन्नरीके समान हो जायगी ॥ ७३½ ॥

नहि राममहं दृष्ट्वा प्रवसन्तं महावने ॥ ७४ ॥
चिरं जीवितुमाशंसे रुदन्तीं चापि मैथिलीम् ।
सा नूनं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ७५ ॥

'मैं श्रीरामको विशाल वनमें निवास करते और मिथिलेश-कुमारी सीताको रोती देख अधिक कालतक जीवित रहना नहीं चाहता । ऐसी दशामें तू निश्चय ही विधवा होकर बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करना ॥ ७४-७५ ॥

सतीं त्वामहमत्यन्तं व्यवस्याम्यसतीं सतीम् ।
रूपिणीं विषसंयुक्तां पीत्वेव मदिरां नरः ॥ ७६ ॥

'ओह ! मैं तुझे अत्यन्त सती-साध्वी समझता था, परंतु तू बड़ी दुष्टा निकली; ठीक उसी तरह जैसे कोई मनुष्य देखनेमें सुन्दर मदिराको पीकर पीछे उसके द्वारा किये गये विकारसे यह समझ पाता है कि इसमें विष मिला हुआ था ॥ ७६ ॥

अनृतैर्बत मां सान्त्वैः सान्त्वयन्ती स्म भाषसे ।
गीतशब्देन संरुध्य लुब्धो मृगमिवावधीः ॥ ७७ ॥

'अबतक जो तू सान्त्वनापूर्ण मीठे वचन बोलकर मुझे आश्वासन देती हुई बातें किया करती थी, वे तेरी कही हुई सारी बातें झूठी थीं । जैसे व्याध हरिणको मधुर संगीतसे आकृष्ट करके उसे मार डालता है, उसी प्रकार तू भी पहले मुझे लुभाकर अब मेरे प्राण ले रही है ॥ ७७ ॥

अनार्य इति मामार्याः पुत्रविक्रायकं ध्रुवम् ।
विकरिष्यन्ति रथ्यासु सुरापं ब्राह्मणं यथा ॥ ७८ ॥

'श्रेष्ठ पुरुष निश्चय ही मुझे नीच और एक नारीके मोहमें पड़कर बेटेको बेच देनेवाला कहकर शराबी ब्राह्मणकी भाँति मेरी राह-बाट और गली-कूचोंमें निन्दा करेंगे ॥ ७८ ॥

अहो दुःखमहो कृच्छ्रं यत्र वाचः क्षमे तव ।
दुःखमेवंविधं प्राप्तं पुरा कृतमिवाशुभम् ॥ ७९ ॥

'अहो ! कितना दुःख है ! कितना कष्ट है !! जहाँ मुझे तेरी ये बातें सहन करनी पड़ती हैं । मानो यह मेरे पूर्वजन्मके किये हुए पापका ही अशुभ फल है, जो मुझपर ऐसा महान् दुःख आ पड़ा ॥ ७९ ॥

चिरं खलु मया पापे त्वं पापेनाभिरक्षिता ।
अज्ञानादुपसम्पन्ना रज्जुरुद्बन्धनी यथा ॥ ८० ॥

'पापिनि ! मुझ पापीने बहुत दिनोंसे तेरी रक्षा की और अज्ञानवश तुझे गले लगाया; किंतु तू आज मेरे गलेमें पड़ी हुई फाँसीकी रस्सी बन गयी ॥ ८० ॥

रममाणस्त्वया सार्धं मृत्युं त्वां नाभिलक्षये ।
बालो रहसि हस्तेन कृष्णसर्पमिवास्पृशम् ॥ ८१ ॥

'जैसे बालक एकान्तमें खेलता-खेलता काले नागको हाथमें पकड़ ले, उसी प्रकार मैंने एकान्तमें तेरे साथ क्रीड़ा करते हुए तेरा आलिङ्गन किया है; परंतु उस समय मुझे यह न सूझा कि तू ही एक दिन मेरी मृत्युका कारण बनेगी ॥ ८१ ॥

तं तु मां जीवलोकोऽयं नूनमाक्रोष्टुमर्हति ।
मया ह्यपितृकः पुत्रः स महात्मा दुरात्मना ॥ ८२ ॥

'हाय ! मुझ दुरात्माने जीतेजी ही अपने महात्मा पुत्रको पितृहीन बना दिया । मुझे यह सारा संसार निश्चय ही धिक्कारेगा—गालियाँ देगा, जो उचित ही होगा ॥ ८२ ॥

बालिशो बत कामात्मा राजा दशरथो भृशम् ।
स्त्रीकृते यः प्रियं पुत्रं वनं प्रस्थापयिष्यति ॥ ८३ ॥

'लोग मेरी निन्दा करते हुए कहेंगे कि राजा दशरथ बड़ा ही मूर्ख और कामी है, जो एक स्त्रीको संतुष्ट करनेके लिये अपने प्यारे पुत्रको वनमें भेज रहा है ॥ ८३ ॥

वेदैश्च ब्रह्मचर्यैश्च गुरुभिश्चोपकर्शितः ।
भोगकाले महत्कृच्छ्रं पुनरेव प्रपत्स्यते ॥ ८४ ॥

'हाय ! अबतक तो श्रीराम वेदोंका अध्ययन करने, ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करने तथा अनेकानेक गुरुजनोंकी सेवामें संलग्न रहनेके कारण दुबले होते चले आये हैं । अब जब इनके लिये सुखभोगका समय आया है, तब ये वनमें जाकर महान् कष्टमें पड़ेंगे ॥ ८४ ॥

नालं द्वितीयं वचनं पुत्रो मां प्रतिभाषितुम् ।
स वनं प्रव्रजेत्युक्तो बाढमित्येव वक्ष्यति ॥ ८५ ॥

'अपने पुत्र श्रीरामसे यदि मैं कह दूँ कि तुम वनको चले जाओ तो वे तुरंत 'बहुत अच्छा' कहकर मेरी आज्ञाको स्वीकार कर लेंगे । मेरे पुत्र राम दूसरी कोई बात कहकर मुझे प्रतिकूल उत्तर नहीं दे सकते ॥ ८५ ॥

यदि मे राघवः कुर्याद् वनं गच्छेति चोदितः ।
प्रतिकूलं प्रियं मे स्यान्न तु वत्सः करिष्यति ॥ ८६ ॥

'यदि मेरे वन जानेकी आज्ञा दे देनेपर भी श्रीरामचन्द्र उसके विपरीत करते—वनमें नहीं जाते तो वही मेरे लिये प्रिय कार्य होगा; किंतु मेरा बेटा ऐसा नहीं कर सकता ॥८६॥

राघवे हि वनं प्राप्ते सर्वलोकस्य धिक्कृतम् ।
मृत्युरक्षमणीयं मां नयिष्यति यमक्षयम् ॥ ८७ ॥

'यदि रघुनन्दन राम वनको चले गये तो सब लोगोंके धिक्कारपात्र बने हुए मुझ अक्षम्य अपराधीको मृत्यु अवश्य यमलोकमें पहुँचा देगी ॥ ८७ ॥

मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
इष्टे मम जने शेषे किं पापं प्रतिपत्स्यसे ॥ ८८ ॥

'यदि नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर मेरी मृत्यु हो गयी तो शेष जो मेरे प्रियजन (कौसल्या आदि) यहाँ रहेंगे, उनपर तू कौन-सा अत्याचार करेगी ? ॥ ८८ ॥

कौसल्या मां च रामं च पुत्रौ च यदि हास्यति ।
दुःखान्यसहती देवी मामेवानुगमिष्यति ॥ ८९ ॥

'देवी कौसल्याको यदि मुझसे, श्रीरामसे तथा शेष दोनों पुत्र लक्ष्मण और शत्रुघ्नसे विछोह हो जायगा तो वह इतने बड़े दुःखको सहन नहीं कर सकेगी; अतः मेरे ही पीछे वह भी परलोक सिधार जायगी । (सुमित्राका भी यही हाल होगा) ॥ ८९ ॥

कौसल्यां च सुमित्रां च मां च पुत्रैस्त्रिभिः सह ।
प्रक्षिप्य नरके सा त्वं कैकेयि सुखिता भव ॥ ९० ॥

'कैकेयि ! इस प्रकार कौसल्याको, सुमित्राको और तीनों

पुत्रोंके साथ मुझे भी नरक-तुल्य महान् शोकमें डालकर तू स्वयं सुखी होना ॥ ९० ॥

मया रामेण च त्यक्तं शाश्वतं सत्कृतं गुणैः ।
इक्ष्वाकुकुलमक्षोभ्यमाकुलं पालयिष्यसि ॥ ९१ ॥

'अनेकानेक गुणोंसे सत्कृत, शाश्वत तथा क्षोभरहित यह इक्ष्वाकुकुल जब मुझसे और श्रीरामसे परित्यक्त होकर शोकसे व्याकुल हो जायगा, तब उस अवस्थामें तू इसका पालन करेगी ॥ ९१ ॥

प्रियं चेद् भरतस्यैतद् रामप्रव्राजनं भवेत् ।
मा स्म मे भरतः कार्षीत् प्रेतकृत्यं गतायुषः ॥ ९२ ॥

'यदि भरतको भी श्रीरामका यह वनमें भेजा जाना प्रिय लगता हो तो मेरी मृत्युके बाद वे मेरे शरीरका दाह-संस्कार न करें ॥ ९२ ॥

मृते मयि गते रामे वनं पुरुषपुङ्गवे ।
सेदानीं विधवा राज्यं सपुत्रा कारयिष्यसि ॥ ९३ ॥

'पुरुषशिरोमणि श्रीरामके वन-गमनके पश्चात् मेरी मृत्यु हो जानेपर अब विधवा होकर तू बेटेके साथ अयोध्याका राज्य करेगी ॥ ९३ ॥

त्वं राजपुत्रि दैवेन न्यवसो मम वेश्मनि ।
अकीर्तिश्चातुला लोके ध्रुवः परिभवश्च मे ।
सर्वभूतेषु चावज्ञा यथा पापकृतस्तथा ॥ ९४ ॥

'राजकुमारी ! तू मेरे दुर्भाग्यसे मेरे घरमें आकर बस गयी । तेरे कारण संसारमें पापाचारीकी भाँति मुझे निश्चय ही अनुपम अपयश, तिरस्कार और समस्त प्राणियोंसे अवहेलना प्राप्त होगी ॥ ९४ ॥

कथं रथैर्विभुर्यात्वा गजाश्वैश्च मुहुर्मुहुः ।
पद्भ्यां रामो महारण्ये वत्सो मे विचरिष्यति ॥ ९५ ॥

'मेरे पुत्र सामर्थ्यशाली राम बारंबार रथों, हाथियों और घोड़ोंसे यात्रा किया करते थे । वे ही अब उस विशाल वनमें पैदल कैसे चलेंगे ? ॥ ९५ ॥

यस्य चाहारसमये सूदाः कुण्डलधारिणः ।
अहंपूर्वाः पचन्ति स्म प्रसन्नाः पानभोजनम् ॥ ९६ ॥
स कथं नु कषायाणि तिक्तानि कटुकानि च ।
भक्षयन् वन्यमाहारं सुतो मे वर्तयिष्यति ॥ ९७ ॥

'भोजनके समय जिनके लिये कुण्डलधारी रसोइये प्रसन्न होकर 'पहले मैं बनाऊँगा' ऐसा कहते हुए खाने-पीनेकी वस्तुएँ तैयार करते थे, वे ही मेरे पुत्र रामचन्द्र वनमें कसैले, तिक्त और कड़वे फलोंका आहार करते हुए किस तरह निर्वाह करेंगे ॥ ९६-९७ ॥

महार्हवस्त्रसम्बद्धो भूत्वा चिरसुखोचितः ।
काषायपरिधानस्तु कथं रामो भविष्यति ॥ ९८ ॥

'जो सदा बहुमूल्य वस्त्र पहना करते थे और जिनका चिरकालसे सुखमें ही समय बीता है, वे ही श्रीराम वनमें गेरुए वस्त्र पहनकर कैसे रह सकेंगे ? ॥ ९८ ॥

कस्येदं दारुणं वाक्यमेवंविधमपीरितम् ।
रामस्यारण्यगमनं भरतस्याभिषेचनम् ॥ ९९ ॥

'श्रीरामका वनगमन और भरतका अभिषेक—ऐसा कठोर वाक्य तूने किसकी प्रेरणासे अपने मुँहसे निकाला है ॥ ९९ ॥

धिगस्तु योषितो नाम शठाः स्वार्थपरायणाः ।
न ब्रवीमि स्त्रियः सर्वा भरतस्यैव मातरम् ॥ १०० ॥

'स्त्रियोंको धिक्कार है; क्योंकि वे शठ और स्वार्थपरायण होती हैं; परंतु मैं सारी स्त्रियोंके लिये ऐसा नहीं कह सकता, केवल भरतकी माताकी ही निन्दा करता हूँ ॥ १०० ॥

अनर्थभावेऽर्थपरे नृशंसे
ममानुतापाय निवेशितासि ।
किमप्रियं पश्यसि मन्निमित्तं
हितानुकारिण्यथवापि रामे ॥ १०१ ॥

'अनर्थमें ही अर्थबुद्धि रखनेवाली क्रूर कैकेयि ! तू मुझे संताप देनेके लिये ही इस घरमें बसायी गयी है । अरी ! मेरे कारण तू अपना कौन-सा अप्रिय होता देख रही है ? अथवा सबका निरन्तर हित करनेवाले श्रीराममें ही तुझे कौन-सी बुराई दिखायी देती है ॥ १०१ ॥

परित्यजेयुः पितरोऽपि पुत्रान्
भार्याः पतींश्चापि कृतानुरागाः ।
कृत्स्नं हि सर्वं कुपितं जगत् स्याद्
दृष्ट्वैव रामं व्यसने निमग्नम् ॥ १०२ ॥

'श्रीरामको संकटके समुद्रमें डूबा हुआ देखकर तो पिता अपने पुत्रोंको त्याग देंगे । अनुरागिणी स्त्रियाँ भी अपने पतियोंको त्याग देंगी । इस प्रकार यह सारा जगत् ही कुपित-विपरीत व्यवहार करनेवाला हो जायगा ॥ १०२ ॥

अहं पुनर्देवकुमाररूप-
मलंकृतं तं सुतमाव्रजन्तम् ।
नन्दामि पश्यन्निव दर्शनेन
भवामि दृष्ट्वैव पुनर्युवेव ॥ १०३ ॥

'देवकुमारके समान कमनीय रूपवाले अपने पुत्र श्रीरामको जब वस्त्र और आभूषणोंसे विभूषित होकर सामने आते देखता हूँ तो नेत्रोंसे उनकी शोभा निहारकर निहाल हो जाता हूँ । उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है मानो मैं फिर जवान हो गया ॥ १०३ ॥

विना हि सूर्येण भवेत् प्रवृत्ति-
रवर्षता वज्रधरेण वापि ।
रामं तु गच्छन्तमितः समीक्ष्य
जीवेन्न कश्चित्त्विति चेतना मे ॥ १०४ ॥

'कदाचित् सूर्यके बिना भी संसारका काम चल जाय, वज्रधारी इन्द्रके वर्षा न करनेपर भी प्राणियोंका जीवन सुरक्षित रह जाय, परंतु रामको यहाँसे वनकी ओर जाते देखकर कोई भी जीवित नहीं रह सकता—मेरी ऐसी धारणा है ॥ १०४ ॥

विनाशकामामहितामभित्रा-
मावासयं मृत्युमिवात्मनस्त्वाम्।
चिरं बताङ्केन धृतासि सर्पी
महाविषा तेन हतोऽस्मि मोहात्॥ १०५॥

'अरी ! तू मेरा विनाश चाहनेवाली, अहित करनेवाली और शत्रुरूप है। जैसे कोई अपनी ही मृत्युको घरमें स्थान दे दे, उसी प्रकार मैंने तुझे घरमें बसा लिया है। खेदकी बात है कि मैंने मोहवश तुझ महाविषैली नागिनको चिरकालसे अपने अङ्कमें धारण कर रखा है; इसीलिये आज मैं मारा गया ॥ १०५ ॥

मया च रामेण सलक्ष्मणेन
प्रशास्तु हीनो भरतस्त्वया सह।
पुरं च राष्ट्रं च निहत्य बान्धवान्
ममाहितानां च भवाभिहर्षिणी ॥१०६॥

'मुझसे, श्रीराम और लक्ष्मणसे हीन होकर भरत समस्त बान्धवोंका विनाश करके तेरे साथ इस नगर तथा राष्ट्रका शासन करें तथा तू मेरे शत्रुओंका हर्ष बढ़ानेवाली हो ॥ १०६ ॥

नृशंसवृत्ते व्यसनप्रहारिणि
प्रसह्य वाक्यं यदिहाद्य भाषसे।
न नाम ते तेन मुखात् पतन्त्यधो
विशीर्यमाणा दशनाः सहस्रधा ॥१०७॥

'क्रूरतापूर्ण बर्ताव करनेवाली कैकेयी ! तू संकटमें पड़े हुएपर प्रहार कर रही है। अरी ! जब तू दुराग्रहपूर्वक आज ऐसी कठोर बातें मुँहसे निकालती है, उस समय तेरे दाँतोंके सैकड़ों टुकड़े होकर मुँहसे नीचे क्यों नहीं गिर जाते ? ॥ १०७ ॥

न किंचिदाहाहितमप्रियं वचो
न वेत्ति रामः परुषाणि भाषितुम्।
कथं तु रामे ह्यभिरामवादिनि
ब्रवीषि दोषान् गुणनित्यसम्मते॥१०८॥

'श्रीराम कभी किसीसे कोई अहितकारक या अप्रिय वचन नहीं करते हैं। वे कटुवचन बोलना जानते ही नहीं हैं। उनका अपने गुणोंके कारण सदा-सर्वदा सम्मान होता है। उन्हीं मनोहर वचन बोलनेवाले श्रीराममें तू दोष कैसे बता रही है ? क्योंकि वनवास उसीको दिया जाता है, जिसके बहुत-से दोष सिद्ध हो चुके हों ॥ १०८ ॥

प्रताम्य वा प्रज्वल वा प्रणश्य वा
सहस्रशो वा स्फुटितां महीं व्रज।
न ते करिष्यामि वचः सुदारुणं
ममाहितं केकयराजपांसने ॥१०९॥

'ओ केकयराजके कुलकी जीती-जागती कलङ्क ! तू चाहे ग्लानिमें डूब जा अथवा आगमें जलकर खाक हो जा या विष खाकर प्राण दे दे अथवा पृथ्वीमें हजारों दरारें बनाकर उसीमें समा जा; परंतु मेरा अहित करनेवाली तेरी यह अत्यन्त कठोर बात मैं कदापि नहीं मानूँगा ॥ १०९ ॥

क्षुरोपमां नित्यमसत्प्रियंवदां
प्रदुष्टभावां स्वकुलोपघातिनीम्।
न जीवितुं त्वां विषहेऽमनोरमां
दिधक्षमाणां हृदयं सबन्धनम् ॥११०॥

'तू छुरेके समान घात करनेवाली है। बातें तो मीठी-मीठी करती है, परंतु वे सदा झूठी और सद्भावनासे रहित होती हैं। तेरे हृदयका भाव अत्यन्त दूषित है तथा तू अपने कुलका भी नाश करनेवाली है। इतना ही नहीं, तू प्राणों-सहित मेरे हृदयको भी जलाकर भस्म कर डालना चाहती है; इसीलिये मेरे मनको नहीं भाती है। तुझ पापिनीका जीवित रहना मैं नहीं सह सकता ॥ ११० ॥

न जीवितं मेऽस्ति कुतः पुनः सुखं
विनात्मजेनात्मवतां कुतो रतिः।
ममाहितं देवि न कर्तुमर्हसि
स्पृशामि पादावपि ते प्रसीद मे॥१११॥

'देवि ! अपने बेटे श्रीरामके बिना मेरा जीवन नहीं रह सकता, फिर कहाँसे सुख हो सकता है ? आत्मज्ञ पुरुषोंको भी अपने पुत्रसे बिछोह हो जानेपर कैसे चैन मिल सकती है ? अतः तू मेरा अहित न कर। मैं तेरे पैर छूता हूँ, तू मुझपर प्रसन्न हो जा' ॥ १११ ॥

स भूमिपालो विलपन्ननाथवत्
स्त्रिया गृहीतो हृदयेऽतिमात्रया।
पपात देव्याश्चरणौ प्रसारिता-
वुभावसम्प्राप्य यथाऽऽतुरस्तथा॥११२॥

इस प्रकार महाराज दशरथ मर्यादाका उल्लङ्घन करनेवाली उस हठीली स्त्रीके वशमें पड़कर अनाथकी भाँति विलाप कर रहे थे। वे देवी कैकेयीके फैलाये हुए दोनों चरणोंको छूना चाहते थे; परंतु उन्हें न पाकर बीचमें ही मूर्च्छित होकर गिर पड़े। ठीक उसी तरह, जैसे कोई रोगी किसी वस्तुको छूना चाहता है; किंतु दुर्बलताके कारण वहाँतक न पहुँचकर बीचमें ही अचेत होकर गिर जाता है ॥ ११२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वादशः सर्गः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १२ ॥

त्रयोदशः सर्गः

राजाका विलाप और कैकेयीसे अनुनय-विनय

**अतदर्हं महाराजं शयानमतथोचितम् ।
ययातिमिव पुण्यान्ते देवलोकात् परिच्युतम् ॥ १ ॥
अनर्थरूपासिद्धार्था ह्यभीता भयदर्शिनी ।
पुनराकारयामास तमेव वरमङ्गना ॥ २ ॥**

महाराज दशरथ उस अयोग्य और अनुचित अवस्थामें पृथ्वीपर पड़े थे । उस समय वे पुण्य समाप्त होनेपर देवलोकसे भ्रष्ट हुए राजा ययातिके समान जान पड़ते थे । उनकी वैसी दशा देख अनर्थकी साक्षात् मूर्ति कैकेयी, जिसका प्रयोजन अभीतक सिद्ध नहीं हुआ था, जो लोकापवादका भय छोड़ चुकी थी और श्रीरामसे भरतके लिये भय देखती थी, पुनः उसी वरके लिये राजाको सम्बोधित करके कहने लगी—॥१-२॥

**त्वं कत्थसे महाराज सत्यवादी दृढव्रतः ।
मम चेदं वरं कस्माद् विधारयितुमिच्छसि ॥ ३ ॥**

'महाराज ! आप तो डींग मारा करते थे कि मैं बड़ा सत्यवादी और दृढ़प्रतिज्ञ हूँ, फिर आप मेरे इस वरदानको क्यों हजम कर जाना चाहते हैं ?' ॥ ३ ॥

**एवमुक्तस्तु कैकेय्या राजा दशरथस्तदा ।
प्रत्युवाच ततः क्रुद्धो मुहूर्तं विह्वलन्निव ॥ ४ ॥**

कैकेयीके ऐसा कहनेपर राजा दशरथ दो घड़ीतक व्याकुलकी-सी अवस्थामें रहे । तत्पश्चात् कुपित होकर उसे इस प्रकार उत्तर देने लगे—॥ ४ ॥

**मृते मयि गते रामे वनं मनुजपुङ्गवे ।
हन्तानार्ये ममामित्रे सकामा सुखिनी भव ॥ ५ ॥**

'ओ नीच ! तू मेरी शत्रु है । नरश्रेष्ठ श्रीरामके वनमें चले जानेपर जब मेरी मृत्यु हो जायगी, उस समय तू सफलमनोरथ होकर सुखसे रहना ॥ ५ ॥

**स्वर्गेऽपि खलु रामस्य कुशलं दैवतैरहम् ।
प्रत्यादेशादभिहितं धारयिष्ये कथं बत ॥ ६ ॥**

'हाय ! स्वर्गमें भी जब देवता मुझसे श्रीरामका कुशल-समाचार पूछेंगे, उस समय मैं उन्हें क्या उत्तर दूँगा ? यदि कहूँ, उन्हें वनमें भेज दिया तो उसके बाद वे लोग जो मेरे प्रति धिक्कारपूर्ण बात कहेंगे, उसे कैसे सह सकूँगा ? इसके लिये मुझे बड़ा खेद है ॥ ६ ॥

**कैकेय्याः प्रियकामेन रामः प्रव्राजितो वनम् ।
यदि सत्यं ब्रवीम्येतत् तदसत्यं भविष्यति ॥ ७ ॥**

'कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे उसके माँगे हुए वरदानके अनुसार मैंने श्रीरामको वनमें भेज दिया, यदि ऐसा कहूँ और इसे सत्य बताऊँ तो मेरी वह पहली बात असत्य हो जायगी, जिसके द्वारा मैंने रामको राज्य देनेका आश्वासन दिया है ॥ ७ ॥

**अपुत्रेण मया पुत्रः श्रमेण महता महान् ।
रामो लब्धो महातेजाः स कथं त्यज्यते मया ॥ ८ ॥**

'मैं पहले पुत्रहीन था, फिर महान् परिश्रम करके मैंने जिन महातेजस्वी महापुरुष श्रीरामको पुत्ररूपमें प्राप्त किया है, उनका मेरे द्वारा त्याग कैसे किया जा सकता है ? ॥ ८ ॥

**शूरश्च कृतविद्यश्च जितक्रोधः क्षमापरः ।
कथं कमलपत्राक्षो मया रामो विवास्यते ॥ ९ ॥**

'जो शूरवीर, विद्वान्, क्रोधको जीतनेवाले और क्षमापरायण हैं, उन कमलनयन श्रीरामको मैं देशनिकाला कैसे दे सकता हूँ ? ॥ ९ ॥

**कथमिन्दीवरश्यामं दीर्घबाहुं महाबलम् ।
अभिराममहं रामं स्थापयिष्यामि दण्डकान् ॥ १० ॥**

'जिनकी अङ्गकान्ति नीलकमलके समान श्याम है, भुजाएँ विशाल और बल महान् हैं, उन नयनाभिराम श्रीरामको मैं दण्डकवनमें कैसे भेज सकूँगा ? ॥ १० ॥

**सुखानामुचितस्यैव दुःखैरनुचितस्य च ।
दुःखं नामानुपश्येयं कथं रामस्य धीमतः ॥ ११ ॥**

'जो सदा सुख भोगनेके ही योग्य हैं, कदापि दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन बुद्धिमान् श्रीरामको दुःख उठाते मैं कैसे देख सकता हूँ ? ॥ ११ ॥

**यदि दुःखमकृत्वा तु मम संक्रमणं भवेत् ।
अदुःखार्हस्य रामस्य ततः सुखमवाप्नुयाम् ॥ १२ ॥**

'जो दुःख भोगनेके योग्य नहीं हैं, उन श्रीरामको यह वनवासका दुःख दिये बिना ही यदि मैं इस संसारसे विदा हो जाता तो मुझे बड़ा सुख मिलता ॥ १२ ॥

**नृशंसे पापसंकल्पे रामं सत्यपराक्रमम् ।
किं विप्रियेण कैकेयि प्रियं योजयसे मम ॥ १३ ॥
अकीर्तिरतुला लोके ध्रुवं परिभविष्यति ।**

'ओ पापपूर्ण विचार रखनेवाली पाषाणहृदया कैकेयि ! सत्यपराक्रमी श्रीराम मुझे बहुत प्रिय हैं, तू मुझसे उनका बिछोह क्यों करा रही है ? अरी ! ऐसा करनेसे निश्चय ही संसारमें तेरी वह अपकीर्ति फैलेगी, जिसकी कहीं तुलना नहीं है' ॥ १३½ ॥

**तथा विलपतस्तस्य परिभ्रमितचेतसः ॥ १४ ॥
अस्तमभ्यागमत् सूर्यो रजनी चाभ्यवर्तत ।**

इस प्रकार विलाप करते-करते राजा दशरथका चित्त

अत्यन्त व्याकुल हो उठा । इतनेमें ही सूर्यदेव अस्ताचलको चले गये और प्रदोषकाल आ पहुँचा ॥ १४½ ॥

सा त्रियामा तदार्तस्य चन्द्रमण्डलमण्डिता ॥ १५ ॥
राज्ञो विलपमानस्य न व्यभासत शर्वरी ।

वह तीन पहरोंवाली रात यद्यपि चन्द्रमण्डलकी चारु-चन्द्रिकासे आलोकित हो रही थी, तो भी उस समय आर्त होकर विलाप करते हुए राजा दशरथके लिये प्रकाश या उल्लास न दे सकी ॥ १५½ ॥

सदैवोष्णं विनिःश्वस्य वृद्धो दशरथो नृपः ॥ १६ ॥
विललापार्तवद् दुःखं गगनासक्तलोचनः ।

बूढ़े राजा दशरथ निरन्तर गरम उच्छ्वास लेते हुए आकाशकी ओर दृष्टि लगाये आर्तकी भाँति दुःखपूर्ण विलाप करने लगे—॥ १६½ ॥

न प्रभातं त्वयेच्छामि निशे नक्षत्रभूषिते ॥ १७ ॥
क्रियतां मे दया भद्रे मयायं रचितोऽञ्जलिः ।

'नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत कल्याणमयी रात्रिदेवि ! मैं नहीं चाहता कि तुम्हारे द्वारा प्रभात-काल लाया जाय । मुझपर दया करो । मैं तुम्हारे सामने हाथ जोड़ता हूँ ॥१७½॥

अथवा गम्यतां शीघ्रं नाहमिच्छामि निर्घृणाम् ॥ १८ ॥
नृशंसां कैकयीं द्रष्टुं यत्कृते व्यसनं मम ।

'अथवा शीघ्र बीत जाओ; क्योंकि जिसके कारण मुझे भारी संकट प्राप्त हुआ है, उस निर्दय और क्रूर कैकेयीको अब मैं नहीं देखना चाहता' ॥ १८½ ॥

एवमुक्त्वा ततो राजा कैकेयीं संयताञ्जलिः ॥ १९ ॥
प्रसादयामास पुनः कैकेयीं राजधर्मवित् ।

कैकेयीसे ऐसा कहकर राजधर्मके ज्ञाता राजा दशरथने पुनः हाथ जोड़कर उसे मनाने या प्रसन्न करनेकी चेष्टा आरम्भ की—॥ १९½ ॥

साधुवृत्तस्य दीनस्य त्वद्गतस्य गतायुषः ॥ २० ॥
प्रसादः क्रियतां भद्रे देवि राज्ञो विशेषतः ।

'कल्याणमयी देवि ! जो सदाचारी, दीन, तेरे आश्रित, गतायु (मरणासन्न) और विशेषतः राजा है—ऐसे मुझ दशरथपर कृपा कर ॥ २०½ ॥

शून्ये न खलु सुश्रोणि मयेदं समुदाहृतम् ॥ २१ ॥
कुरु साधुप्रसादं मे बाले सहृदया ह्यसि ।

'सुन्दर कटिप्रदेशवाली केकयनन्दिनि ! मैंने जो यह श्रीरामको राज्य देनेकी बात कही है, वह किसी सूने घरमें नहीं, भरी सभामें घोषित की है, अतः बाले ! तू बड़ी सहृदय है; इसलिये मुझपर भलीभाँति कृपा कर (जिससे सभासदोंद्वारा मेरा उपहास न हो) ॥ २१½ ॥

प्रसीद देवि रामो मे त्वद्दत्तं राज्यमव्ययम् ॥ २२ ॥
लभतामसितापाङ्गे यशः परमवाप्स्यसि ।

'देवि ! प्रसन्न हो जा । कजरारे नेत्रप्रान्तवाली प्रिये ! मेरे श्रीराम तेरे ही दिये हुए इस अक्षय राज्यको प्राप्त करें, इससे तुझे उत्तम यशकी प्राप्ति होगी ॥ २२½ ॥

मम रामस्य लोकस्य गुरूणां भरतस्य च ।
प्रियमेतद् गुरुश्रोणि कुरु चारुमुखेक्षणे ॥ २३ ॥

'पृथुल नितम्बवाली देवि ! सुमुखि ! सुलोचने ! यह प्रस्ताव मुझको, श्रीरामको, समस्त प्रजावर्गको, गुरुजनोंको तथा भरतको भी प्रिय होगा, अतः इसे पूर्ण कर' ॥ २३ ॥

विशुद्धभावस्य हि दुष्टभावा
दीनस्य ताम्राश्रुकलस्य राज्ञः ।
श्रुत्वा विचित्रं करुणं विलापं
भर्तुर्नृशंसा न चकार वाक्यम् ॥ २४ ॥

राजाके हृदयका भाव अत्यन्त शुद्ध था, उनके आँसू-भरे नेत्र लाल हो गये थे और वे दीनभावसे विचित्र करुणा-जनक विलाप कर रहे थे, किंतु मनमें दूषित विचार रखने-वाली निष्ठुर कैकेयीने पतिके उस विलापको सुनकर भी उनकी आज्ञाका पालन नहीं किया ॥ २४ ॥

ततः स राजा पुनरेव मूर्च्छितः
प्रियामतुष्टां प्रतिकूलभाषिणीम् ।
समीक्ष्य पुत्रस्य विवासनं प्रति
क्षितौ विसंज्ञो निपपात दुःखितः ॥ २५ ॥

(इतनी अनुनय-विनयके बाद भी) जब प्रिया कैकेयी किसी तरह संतुष्ट न हो सकी और बराबर प्रतिकूल बात ही मुँहसे निकालती गयी, तब पुत्रके वनवासकी बात सोचकर राजा पुनः दुःखके मारे मूर्च्छित हो गये और सुध-बुध खोकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ २५ ॥

इतीव राज्ञो व्यथितस्य सा निशा
जगाम घोरं श्वसतो मनस्विनः ।
विबोध्यमानः प्रतिबोधनं तदा
निवारयामास स राजसत्तमः ॥ २६ ॥

इस प्रकार व्यथित होकर भयंकर उच्छ्वास लेते हुए मनस्वी राजा दशरथकी वह रात धीरे-धीरे बीत गयी । प्रातः-काल राजाको जगानेके लिये मनोहर वाद्योंके साथ मङ्गल-गान होने लगा, परंतु उन राजशिरोमणिने तत्काल मनाही भेजकर वह सब बंद करा दिया ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोदशः सर्गः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेरहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १३ ॥

चतुर्दशः सर्गः

कैकेयीका राजाको सत्यपर दृढ़ रहनेके लिये प्रेरणा देकर अपने वरोंकी पूर्तिके लिये दुराग्रह दिखाना, महर्षि वसिष्ठका अन्तःपुरके द्वारपर आगमन और सुमन्त्रको महाराजके पास भेजना, राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रका श्रीरामको बुलानेके लिये जाना

पुत्रशोकार्दितं पापा विसंज्ञं पतितं भुवि।
विचेष्टमानमुत्प्रेक्ष्य ऐक्ष्वाकमिदमब्रवीत्॥ १॥

इक्ष्वाकुनन्दन राजा दशरथ पुत्रशोकसे पीड़ित हो पृथ्वी-पर अचेत पड़े थे और वेदनासे छटपटा रहे थे, उन्हें इस अवस्थामें देखकर पापिनी कैकेयी इस प्रकार बोली—॥ १॥

पापं कृत्वेव किमिदं मम संश्रुत्य संश्रवम्।
शेषे क्षितितले सन्नः स्थित्यां स्थातुं त्वमर्हसि॥ २॥

'महाराज! आपने मुझे दो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी और जब मैंने उन्हें माँगा, तब आप इस प्रकार सन्न होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, मानो कोई पाप करके पछता रहे हों, यह क्या बात है? आपको सत्पुरुषोंकी मर्यादामें स्थिर रहना चाहिये॥ २॥

आहुः सत्यं हि परमं धर्मं धर्मविदो जनाः।
सत्यमाश्रित्य च मया त्वं धर्मं प्रतिचोदितः॥ ३॥

'धर्मज्ञ पुरुष सत्यको ही सबसे श्रेष्ठ धर्म बतलाते हैं, उस सत्यका सहारा लेकर मैंने आपको धर्मका पालन करनेके लिये ही प्रेरित किया है॥ ३॥

संश्रुत्य शैब्यः श्येनाय स्वां तनुं जगतीपतिः।
प्रदाय पक्षिणे राजा जगाम गतिमुत्तमाम्॥ ४॥

'पृथ्वीपति राजा शैब्यने बाज पक्षीको अपना शरीर देनेकी प्रतिज्ञा करके उसे दे ही दिया और देकर उत्तम गति प्राप्त कर ली॥ ४॥

तथा ह्यलर्कस्तेजस्वी ब्राह्मणे वेदपारगे।
याचमाने स्वके नेत्रे उद्धृत्याविमना ददौ॥ ५॥

'इसी प्रकार तेजस्वी राजा अलर्कने वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणको उसके याचना करनेपर मनमें खेद न लाते हुए अपनी दोनों आँखें निकालकर दे दी थीं॥ ५॥

सरितां तु पतिः स्वल्पां मर्यादां सत्यमन्वितः।
सत्यानुरोधात् समये वेलां स्वां नातिवर्तते॥ ६॥

'सत्यको प्राप्त हुआ समुद्र सत्यका ही अनुसरण करनेके कारण पर्व आदिके समय भी अपनी छोटी-सी सीमातट—भूमिका भी उल्लङ्घन नहीं करता॥ ६॥

सत्यमेकपदं ब्रह्म सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम्॥ ७॥

'सत्य ही प्रणवरूप शब्दब्रह्म है, सत्यमें ही धर्म प्रतिष्ठित है, सत्य ही अविनाशी वेद है और सत्यसे ही परब्रह्म-की प्राप्ति होती है॥ ७॥

सत्यं समनुवर्तस्व यदि धर्मे धृता मतिः।
स वरः सफलो मेऽस्तु वरदो ह्यसि सत्तम॥ ८॥

'इसलिये यदि आपकी बुद्धि धर्ममें स्थित है तो सत्यका अनुसरण कीजिये। साधुशिरोमणे! मेरा माँगा हुआ वह वर सफल होना चाहिये; क्योंकि आप स्वयं ही उस वरके दाता हैं॥ ८॥

धर्मस्यैवाभिकामार्थं मम चैवाभिचोदनात्।
प्रव्राजय सुतं रामं त्रिः खलु त्वां ब्रवीम्यहम्॥ ९॥

'धर्मके ही अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिये तथा मेरी प्रेरणासे भी आप अपने पुत्र श्रीरामको घरसे निकाल दीजिये। मैं अपने इस कथनको तीन बार दुहराती हूँ॥ ९॥

समयं च ममार्येमं यदि त्वं न करिष्यसि।
अग्रतस्ते परित्यक्ता परित्यक्ष्यामि जीवितम्॥ १०॥

'आर्य! यदि मुझसे की हुई इस प्रतिज्ञाका आप पालन नहीं करेंगे तो मैं आपसे परित्यक्त (उपेक्षित) होकर आपके सामने ही अपने प्राणोंका परित्याग कर दूँगी'॥ १०॥

एवं प्रचोदितो राजा कैकेय्या निर्विशङ्कया।
नाशकत् पाशमुन्मोक्तुं बलिरिन्द्रकृतं यथा॥ ११॥

इस प्रकार कैकेयीने जब निःशङ्क होकर राजाको प्रेरित किया, तब वे उस सत्यरूपी बन्धनको वैसे ही नहीं खोल सके—उस बन्धनसे अपनेको उसी तरह नहीं मुक्त कर सके, जैसे राजा बलि इन्द्रप्रेरित वामनके पाशसे अपनेको मुक्त करनेमें असमर्थ हो गये थे॥ ११॥

उद्भ्रान्तहृदयश्चापि विवर्णवदनोऽभवत्।
स धुर्यो वै परिस्पन्दन् युगचक्रान्तरं यथा॥ १२॥

दो पहियोंके बीचमें फँसकर वहाँसे निकलनेकी चेष्टा करनेवाले गाड़ीके बैलकी भाँति उनका हृदय उद्भ्रान्त हो उठा था और उनके मुखकी कान्ति भी फीकी पड़ गयी थी॥

विकलाभ्यां च नेत्राभ्यामपश्यन्निव भूमिपः।
कृच्छ्राद् धैर्येण संस्तभ्य कैकेयीमिदमब्रवीत्॥ १३॥

अपने विकल नेत्रोंसे कुछ भी देखनेमें असमर्थ-से होकर भूपाल दशरथने बड़ी कठिनाईसे धैर्य धारण करके अपने हृदयको सँभाला और कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १३॥

यस्ते मन्त्रकृतः पाणिरग्नौ पापे मया धृतः।
संत्यजामि स्वजं चैव तव पुत्रं सह त्वया ॥ १४ ॥

'पापिनि ! मैंने अग्निके समीप 'साङ्गुष्ठं ते गृभ्णामि सौभगत्वाय हस्तम्०' इत्यादि वैदिक मन्त्रका पाठ करके तेरे जिस हाथको पकड़ा था, उसे आज छोड़ रहा हूँ। साथ ही तेरे और अपनेद्वारा उत्पन्न हुए तेरे पुत्रका भी त्याग करता हूँ ॥ १४ ॥

प्रयाता रजनी देवि सूर्यस्योदयनं प्रति।
अभिषेकाय हि जनस्त्वरयिष्यति मां ध्रुवम् ॥ १५ ॥

'देवि ! रात बीत गयी। सूर्योदय होते ही सब लोग निश्चय ही श्रीरामका राज्याभिषेक करनेके लिये मुझे शीघ्रता करनेको कहेंगे ॥ १५ ॥

रामाभिषेकसम्भारैस्तदर्थमुपकल्पितैः।
रामः कारयितव्यो मे मृतस्य सलिलक्रियाम् ॥ १६ ॥
सपुत्रया त्वया नैव कर्तव्या सलिलक्रिया।

'उस समय जो सामान श्रीरामके अभिषेकके लिये जुटाया गया है, उसके द्वारा मेरे मरनेके बाद श्रीरामके हाथसे मुझे जलाञ्जलि दिलवा देना; परंतु अपने पुत्रसहित तू मेरे लिये जलाञ्जलि न देना ॥ १६½ ॥

व्याहन्तास्यशुभाचारे यदि रामाभिषेचनम् ॥ १७ ॥
न शक्तोऽद्यास्म्यहं द्रष्टुं दृष्ट्वा पूर्वं तथामुखम्।
हतहर्षं तथानन्दं पुनर्जनमवाङ्मुखम् ॥ १८ ॥

'पापाचारिणि ! यदि तू श्रीरामके अभिषेकमें विघ्न डालेगी (तो तुझे मेरे लिये जलाञ्जलि देनेका कोई अधिकार न होगा)। मैं पहले श्रीरामके राज्याभिषेकके समाचारसे जो जन-समुदायका हर्षोल्लाससे परिपूर्ण उन्नत मुख देख चुका हूँ, वैसा देखनेके पश्चात् आज पुनः उसी जनताके हर्ष और आनन्दसे शून्य, नीचे लटके हुए मुखको मैं नहीं देख सकूँगा'॥

तां तथा ब्रुवतस्तस्य भूमिपस्य महात्मनः।
प्रभाता शर्वरी पुण्या चन्द्रनक्षत्रमालिनी ॥ १९ ॥

महात्मा राजा दशरथके कैकेयीसे इस तरहकी बातें करते-करते ही चन्द्रमा और नक्षत्रमालाओंसे अलंकृत वह पुण्यमयी रजनी बीत गयी और प्रभातकाल आ गया ॥ १९ ॥

ततः पापसमाचारा कैकेयी पार्थिवं पुनः।
उवाच परुषं वाक्यं वाक्यज्ञा रोषमूर्च्छिता ॥ २० ॥

तदनन्तर बातचीतके मर्मको समझनेवाली पापाचारिणी कैकेयी रोषसे मूर्च्छित-सी होकर राजासे पुनः कठोर वाणीमें बोली—॥ २० ॥

किमिदं भाषसे राजन् वाक्यं गररुजोपमम्।
आनाययितुमक्लिष्टं पुत्रं राममिहार्हसि ॥ २१ ॥
स्थाप्य राज्ये मम सुतं कृत्वा रामं वनेचरम्।
निःसपत्नां च मां कृत्वा कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २२ ॥

'राजन् ! आप विष और शूल आदि रोगोंके समान कष्ट देनेवाले ऐसे वचन क्यों बोल रहे हैं (इन बातोंसे कुछ होने-जानेवाला नहीं है)। आप बिना किसी क्लेशके अपने पुत्र श्रीरामको यहाँ बुलवाइये। मेरे पुत्रको राज्यपर प्रतिष्ठित कीजिये और श्रीरामको वनमें भेजकर मुझे निष्कण्टक बनाइये; तभी आप कृतकृत्य हो सकेंगे' ॥ २१-२२ ॥

स तुन्न इव तीक्ष्णेन प्रतोदेन हयोत्तमः।
राजा प्रचोदितोऽभीक्ष्णं कैकेय्या वाक्यमब्रवीत् ॥ २३ ॥

तीखे कोड़ेकी मारसे पीड़ित हुए उत्तम अश्वकी भाँति कैकेयीद्वारा बारंबार प्रेरित होनेपर व्यथित हुए राजा दशरथने इस प्रकार कहा—॥ २३ ॥

धर्मबन्धेन बद्धोऽस्मि नष्टा च मम चेतना।
ज्येष्ठं पुत्रं प्रियं रामं द्रष्टुमिच्छामि धार्मिकम् ॥ २४ ॥

'मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हुआ हूँ। मेरी चेतना लुप्त होती जा रही है। इसलिये इस समय मैं अपने धर्मपरायण परम प्रिय ज्येष्ठ पुत्र श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ २४ ॥

ततः प्रभातां रजनीमुदिते च दिवाकरे।
पुण्ये नक्षत्रयोगे च मुहूर्ते च समागते ॥ २५ ॥
वसिष्ठो गुणसम्पन्नः शिष्यैः परिवृतस्तथा।
उपगृह्याशु सम्भारान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ २६ ॥

उधर जब रात बीती, प्रभात हुआ, सूर्यदेवका उदय हो गया और पुण्यनक्षत्रके योगमें अभिषेकका शुभ मुहूर्त आ पहुँचा, उस समय शिष्योंसे घिरे हुए शुभगुणसम्पन्न महर्षि वसिष्ठ अभिषेककी आवश्यक सामग्रियोंका संग्रह करके शीघ्रता-पूर्वक उस श्रेष्ठ पुरीमें आये ॥ २५-२६ ॥

सिक्तसम्मार्जितपथां पताकोत्तमभूषिताम्।
संहृष्टमनुजोपेतां समृद्धविपणापणाम् ॥ २७ ॥

उस पुण्यवेलामें अयोध्याकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं और उनपर जलका छिड़काव हुआ था। सारी पुरी उत्तम पताकाओंसे सुशोभित थी। वहाँके सभी मनुष्य हर्ष और उत्साहसे भरे हुए थे। बाजार और दूकानें इस तरह सजी हुई थीं कि उनकी समृद्धि देखते ही बनती थी ॥ २७ ॥

महोत्सवसमायुक्तां राघवार्थे समुत्सुकाम्।
चन्दनागुरुधूपैश्च सर्वतः परिधूमिताम् ॥ २८ ॥

सब ओर महान् उत्सव हो रहा था। सारी नगरी श्रीराम-चन्द्रजीके अभिषेकके लिये उत्सुक थी। चारों ओर चन्दन, अगर और धूपकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥ २८ ॥

तां पुरीं समतिक्रम्य पुरंदरपुरोपमाम्।
ददर्शान्तःपुरं श्रीमान् नानाध्वजगणायुतम् ॥ २९ ॥

इन्द्रनगरी अमरावतीके समान शोभा पानेवाली उस पुरीको पार करके श्रीमान् वसिष्ठजीने राजा दशरथके अन्तः-पुरका दर्शन किया। जहाँ सहस्रों ध्वजाएँ फहरा रही थीं ॥

पौरजानपदाकीर्णं ब्राह्मणैरुपशोभितम्।
यष्टिमद्भिः सुसम्पूर्णं सदश्वैः परमार्चितैः ॥ ३० ॥

नगर और जनपदके लोग वहाँ भरे हुए थे। बहुत-से ब्राह्मण उस स्थानकी शोभा बढ़ाते थे। छड़ीदार राजसेवक तथा सजे-सजाये सुन्दर घोड़े वहाँ अधिक संख्यामें उपस्थित थे॥

तदन्तःपुरमासाद्य व्यतिचक्राम तं जनम्।
वसिष्ठः परमप्रीतः परमर्षिभिरावृतः ॥ ३१ ॥

श्रेष्ठ महर्षियोंसे घिरे हुए वसिष्ठजी परम प्रसन्न हो उस अन्तःपुरमें पहुँचकर उस जन-समुदायको लाँघकर आगे बढ़ गये॥

स त्वपश्यद् विनिष्क्रान्तं सुमन्त्रं नाम सारथिम्।
द्वारे मनुजसिंहस्य सचिवं प्रियदर्शनम् ॥ ३२ ॥

वहाँ उन्होंने महाराजके सुन्दर सचिव तथा सारथि सुमन्त्रको अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित देखा, जो उसी समय भीतरसे निकले थे ॥ ३२ ॥

तमुवाच महातेजाः सूतपुत्रं विशारदम्।
वसिष्ठः क्षिप्रमाचक्ष्व नृपतेर्मामिहागतम् ॥ ३३ ॥

तब महातेजस्वी वसिष्ठने परम चतुर सूतपुत्र सुमन्त्रसे कहा—'सूत! तुम महाराजको शीघ्र ही मेरे आगमनकी सूचना दो ॥ ३३ ॥

इमे गङ्गोदकघटाः सागरेभ्यश्च काञ्चनाः।
औदुम्बरं भद्रपीठमभिषेकार्थमाहृतम् ॥ ३४ ॥

'(उन्हें बताओ कि श्रीरामके राज्याभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र कर ली गयी है) ये गङ्गाजलसे भरे कलश रखे हैं, इन सोनेके कलशोंमें समुद्रोंसे लाया हुआ जल भरा हुआ है। यह गूलरकी लकड़ीका बना हुआ भद्रपीठ है, जो अभिषेकके लिये लाया गया है (इसीपर बिठाकर श्रीरामका अभिषेक होगा) ॥ ३४ ॥

सर्वबीजानि गन्धाश्च रत्नानि विविधानि च।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ३५ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः।
चतुरश्वो रथः श्रीमान् निस्त्रिंशो धनुरुत्तमम् ॥ ३६ ॥
वाहनं नरसंयुक्तं छत्रं च शशिसंनिभम्।
श्वेते च वालव्यजने भृङ्गारं च हिरण्मयम् ॥ ३७ ॥
हेमदामपिनद्धश्च ककुद्मान् पाण्डुरो वृषः।
केसरी च चतुर्दंष्ट्रो हरिश्रेष्ठो महाबलः ॥ ३८ ॥
सिंहासनं व्याघ्रतनुः समिधश्च हुताशनः।
सर्वे वादित्रसङ्घाश्च वेश्याश्चालंकृताः स्त्रियः ॥ ३९ ॥
आचार्या ब्राह्मणा गावः पुण्याश्च मृगपक्षिणः।
पौरजानपदश्रेष्ठा नैगमाश्च गणैः सह ॥ ४० ॥
एते चान्ये च बहवः प्रीयमाणाः प्रियंवदाः।
अभिषेकाय रामस्य सह तिष्ठन्ति पार्थिवैः ॥ ४१ ॥

'सब प्रकारके बीज, गन्ध, भाँति-भाँतिके रत्न, मधु, दही, घी, लावा या खील, कुश, फूल, दूध, आठ सुन्दरी कन्याएँ, मत्त गजराज, चार घोड़ोंवाला रथ, चमचमाता हुआ खड्ग; उत्तम धनुष, मनुष्योंद्वारा ढोयी जानेवाली सवारी (पालकी आदि), चन्द्रमाके समान श्वेत छत्र, सफेद चँवर, सोनेकी झारी, सुवर्णकी मालासे अलंकृत ऊँचे डीलवाला श्वेत पीतवर्णका वृषभ, चार दाढ़ोंवाला सिंह, महाबलवान् उत्तम अश्व, सिंहासन, व्याघ्रचर्म, समिधाएँ, अग्नि, सब प्रकारके बाजे, वाराङ्गनाएँ, शृङ्गारयुक्त सौभाग्यवती स्त्रियाँ, आचार्य, ब्राह्मण, गौ, पवित्र पशु-पक्षी, नगर और जनपदके श्रेष्ठ पुरुष अपने सेवक-गणोंसहित प्रसिद्ध-प्रसिद्ध व्यापारी—ये तथा और भी बहुत-से प्रियवादी मनुष्य बहुसंख्यक राजाओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक श्रीरामके अभिषेकके लिये यहाँ उपस्थित हैं ॥ ३५–४१ ॥

त्वरयस्व महाराजं यथा समुदितेऽहनि।
पुष्ये नक्षत्रयोगे च रामो राज्यमवाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

'तुम महाराजसे शीघ्रता करनेके लिये कहो, जिससे अब सूर्योदयके पश्चात् पुष्य-नक्षत्रके योगमें श्रीराम राज्य प्राप्त कर लें' ॥ ४२ ॥

इति तस्य वचः श्रुत्वा सूतपुत्रो महाबलः।
स्तुवन् नृपतिशार्दूलं प्रविवेश निवेशनम् ॥ ४३ ॥

वसिष्ठजीके ये वचन सुनकर महाबली सूतपुत्र सुमन्त्रने राजसिंह दशरथकी स्तुति करते हुए उनके भवनमें प्रवेश किया॥

तं तु पूर्वोदितं वृद्धं द्वारस्था राजसम्मताः।
न शेकुरभिसंरोद्धुं राज्ञः प्रियचिकीर्षवः ॥ ४४ ॥

राजाका प्रिय करनेकी इच्छा रखनेवाले और उनके द्वारा सम्मानित द्वारपाल उन बूढ़े सचिवको भीतर जानेसे रोक न सके; क्योंकि उनके लिये पहलेसे ही महाराजकी आज्ञा थी कि ये किसी समय भी भीतर आनेसे रोके न जायँ ॥ ४४ ॥

स समीपस्थितो राज्ञस्तामवस्थामजज्ञिवान्।
वाग्भिः परमतुष्टाभिरभिष्टोतुं प्रचक्रमे ॥ ४५ ॥

सुमन्त्र राजाके पास जाकर खड़े हो गये। उन्हें उनकी उस अवस्थाका पता नहीं था; इसलिये वे अत्यन्त संतोषदायक वचनोंद्वारा उनकी स्तुति करनेको उद्यत हुए ॥ ४५ ॥

ततः सूतो यथापूर्वं पार्थिवस्य निवेशने।
सुमन्त्रः प्राञ्जलिर्भूत्वा तुष्टाव जगतीपतिम् ॥ ४६ ॥

सूत सुमन्त्र राजाके उस महलमें पहलेकी ही भाँति हाथ जोड़कर उन महाराजकी स्तुति करने लगे—॥ ४६ ॥

यथा नन्दति तेजस्वी सागरो भास्करोदये।
प्रीतः प्रीतेन मनसा तथा नन्दय नस्ततः ॥ ४७ ॥

'महाराज! जैसे सूर्योदय होनेपर तेजस्वी समुद्र स्वयं

हर्षकी तरंगोंसे उल्लसित हो उसमें स्नानकी इच्छावाले मनुष्योंको आनन्दित करता है, उसी प्रकार आप स्वयं प्रसन्न हो प्रसन्नतापूर्ण हृदयसे हम सेवकोंको आनन्द प्रदान कीजिये ॥

इन्द्रमस्यां तु वेलायामभितुष्टाव मातलिः।
सोऽजयद् दानवान् सर्वांस्तथा त्वां बोधयाम्यहम्॥४८॥

'देवसारथि मातलिने इसी वेलामें देवराज इन्द्रकी स्तुति की थी, जिससे उन्होंने समस्त दानवोंपर विजय प्राप्त कर ली, उसी प्रकार मैं भी स्तुति-वचनोंद्वारा आपको जगा रहा हूँ ॥

वेदाः सहाङ्गा विद्याश्च यथा ह्यात्मभुवं प्रभुम्।
ब्रह्माणं बोधयन्त्यद्य तथा त्वां बोधयाम्यहम्॥ ४९॥

'छहों अङ्गोंसहित चारों वेद तथा समस्त विद्याएँ जैसे स्वयम्भू भगवान् ब्रह्माको जगाती हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ४९ ॥

आदित्यः सह चन्द्रेण यथा भूतधरां शुभाम्।
बोधयत्यद्य पृथिवीं तथा त्वां बोधयाम्यहम् ॥ ५०॥

'जैसे चन्द्रमाके साथ सूर्य समस्त भूतोंकी आधारभूता इस शुभ-स्वरूपा पृथ्वीको जगाया करते हैं, उसी प्रकार आज मैं आपको जगा रहा हूँ ॥ ५० ॥

उत्तिष्ठ सुमहाराज कृतकौतुकमङ्गलः।
विराजमानो वपुषा मेरोरिव दिवाकरः ॥ ५१॥

'महाराज ! उठिये और उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके वस्त्राभूषणोंसे सुशोभित शरीरसे सिंहासनपर विराजमान होइये। फिर मेरु पर्वतसे ऊपर उठनेवाले सूर्यदेवके समान आपकी शोभा होती रहे ॥ ५१ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि।
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ॥ ५२॥

'ककुत्स्थ-कुलनन्दन ! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ ५२ ॥

गता भगवती रात्रिः कृतं कृत्यमिदं तव।
बुध्यस्व नृपशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ॥ ५३॥

'राजसिंह ! भगवती रात्रिदेवी विदा हो गयीं। आपने जिसके लिये आज्ञा दी थी, आपका वह सारा कार्य पूर्ण हो गया। इस बातको आप जान लें और इसके बाद जो अभिषेकका कार्य शेष है, उसे पूर्ण करें ॥ ५३ ॥

उदतिष्ठत रामस्य समग्रमभिषेचनम्।
पौरजानपदाश्चापि नैगमश्च कृताञ्जलिः ॥ ५४॥

'श्रीरामके अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है। नगर और जनपदके लोग तथा मुख्य-मुख्य व्यापारी भी हाथ जोड़े हुए उपस्थित हैं ॥ ५४ ॥

स्वयं वसिष्ठो भगवान् ब्राह्मणैः सह तिष्ठति।
क्षिप्रमाज्ञाप्यतां राजन् राघवस्याभिषेचनम् ॥ ५५॥

'राजन् ! ये भगवान् वसिष्ठ मुनि ब्राह्मणोंके साथ द्वारपर खड़े हैं; अतः श्रीरामके अभिषेकका कार्य आरम्भ करनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये ॥ ५५ ॥

यथा ह्यपालाः पशवो यथा सेना ह्यनायका।
यथा चन्द्रं विना रात्रिर्यथा गावो विना वृषम् ॥ ५६॥
एवं हि भविता राष्ट्रं यत्र राजा न दृश्यते।

'जैसे चरवाहोंके बिना पशु, सेनापतिके बिना सेना, चन्द्रमाके बिना रात्रि और साँड़के बिना गौओंकी शोभा नहीं होती, ऐसी ही दशा उस राष्ट्रकी हो जाती है, जहाँ राजाका दर्शन नहीं होता है' ॥ ५६½ ॥

एवं तस्य वचः श्रुत्वा सान्त्वपूर्वमिवार्थवत् ॥ ५७॥
अभ्यकीर्यत शोकेन भूय एव महीपतिः।

सुमन्त्रके इस प्रकार कहे हुए सान्त्वनापूर्ण और सार्थक वचनको सुनकर राजा दशरथ पुनः शोकसे ग्रस्त हो गये ॥ ५७½ ॥

ततस्तु राजा तं सूतं सन्नहर्षः सुतं प्रति ॥ ५८॥
शोकरक्तेक्षणः श्रीमानुद्वीक्ष्योवाच धार्मिकः।
वाक्यैस्तु खलु मर्माणि मम भूयो निकृन्तसि ॥ ५९॥

उस समय पुत्रके वियोगकी सम्भावनासे उनकी प्रसन्नता नष्ट हो चुकी थी। शोकके कारण उनके नेत्र लाल हो गये थे। उन धर्मात्मा श्रीमान् नरेशने एक बार दृष्टि उठाकर सूतकी ओर देखा और इस प्रकार कहा—'तुम ऐसी बातें सुनाकर मेरे मर्म-स्थानोंपर और अधिक आघात क्यों कर रहे हो' ॥ ५८-५९ ॥

सुमन्त्रः करुणं श्रुत्वा दृष्ट्वा दीनं च पार्थिवम्।
प्रगृहीताञ्जलिः किंचित् तस्माद् देशादपाक्रमत्॥ ६०॥

राजाके ये करुण वचन सुनकर और उनकी दीन दशापर दृष्टिपात करके सुमन्त्र हाथ जोड़े हुए उस स्थानसे कुछ पीछे हट गये ॥ ६० ॥

यदा वक्तुं स्वयं दैन्यान्न शशाक महीपतिः।
तदा सुमन्त्रं मन्त्रज्ञा कैकेयी प्रत्युवाच ह ॥ ६१॥

जब दुःख और दीनताके कारण राजा स्वयं कुछ भी न कह सके, तब मन्त्रणाका ज्ञान रखनेवाली कैकेयीने सुमन्त्रको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ ६१ ॥

सुमन्त्र राजा रजनीं रामहर्षसमुत्सुकः।
प्रजागरपरिश्रान्तो निद्रावशमुपागतः ॥ ६२॥

'सुमन्त्र ! राजा रातभर श्रीरामके राज्याभिषेकजनित हर्षके कारण उत्कण्ठित होकर जागते रहे हैं। अधिक जागरणसे थक जानेके कारण इस समय इन्हें नींद आ गयी है ॥६२॥

तद् गच्छ त्वरितं सूत राजपुत्रं यशस्विनम्।
राममानय भद्रं ते नात्र कार्या विचारणा ॥ ६३॥

'अतः सूत ! तुम्हारा भला हो । तुम तुरंत जाओ और यशस्वी राजकुमार श्रीरामको यहाँ बुला लाओ । इस विषयमें तुम्हें कोई अन्यथा विचार नहीं करना चाहिये' ॥ ६३ ॥

अश्रुत्वा राजवचनं कथं गच्छामि भामिनि ।
तच्छ्रुत्वा मन्त्रिणो वाक्यं राजा मन्त्रिणमब्रवीत्॥ ६४ ॥

तब सुमन्त्रने कहा—'भामिनि ! मैं महाराजकी आज्ञा सुने बिना कैसे जा सकता हूँ ?' मन्त्रीकी बात सुनकर राजाने उनसे कहा—॥ ६४ ॥

सुमन्त्र रामं द्रक्ष्यामि शीघ्रमानय सुन्दरम् ।
स मन्यमानः कल्याणं हृदयेन ननन्द च ॥ ६५ ॥

'सुमन्त्र ! मैं सुन्दर श्रीरामको देखना चाहता हूँ । तुम शीघ्र उन्हें यहाँ ले आओ ।' उस समय श्रीरामके दर्शनसे ही कल्याण मानते हुए राजा मन-ही-मन आनन्दका अनुभव करने लगे ॥ ६५ ॥

निर्जगाम च स प्रीत्या त्वरितो राजशासनात्।
सुमन्त्रश्चिन्तयामास त्वरितं चोदितस्तया ॥ ६६ ॥

इधर सुमन्त्र राजाकी आज्ञासे तुरंत प्रसन्नतापूर्वक वहाँसे चल दिये । कैकेयीने जो तुरंत श्रीरामको बुला लानेकी आज्ञा दी थी, उसे याद करके वे सोचने लगे—'पता नहीं, यह उन्हें बुलानेके लिये इतनी जल्दी क्यों मचा रही है ? ॥ ६६ ॥

व्यक्तं रामाभिषेकार्थे इहायस्यति धर्मराट् ।
इति सूतो मतिं कृत्वा हर्षेण महता पुनः ॥ ६७॥
निर्जगाम महातेजा राघवस्य दिदृक्षया ।
सागरह्रदसंकाशात्सुमन्त्रोऽन्तःपुराच्छुभात् ।
निष्क्रम्य जनसम्बाधं ददर्श द्वारमग्रतः ॥ ६८॥

'जान पड़ता है, श्रीरामचन्द्रके अभिषेकके लिये ही यह जल्दी कर रही है । इस कार्यमें धर्मराज राजा दशरथको अधिक आयास करना पड़ता है (शायद इसीलिये ये बाहर नहीं निकलते) ।' ऐसा निश्चय करके महातेजस्वी सूत सुमन्त्र फिर बड़े हर्षके साथ श्रीरामके दर्शनकी इच्छासे चल पड़े । समुद्रके अन्तर्वर्ती जलाशयके समान उस सुन्दर अन्तःपुरसे निकलकर सुमन्त्रने द्वारके सामने मनुष्योंकी भारी भीड़ एकत्र हुई देखी ॥ ६७-६८ ॥

ततः पुरस्तात् सहसा विनिःसृतो
महीपतेर्द्वारगतान् विलोकयन् ।
ददर्श पौरान् विविधान् महाधना-
नुपस्थितान् द्वारमुपेत्य विष्ठितान्॥ ६९ ॥

राजाके अन्तःपुरसे सहसा निकलकर सुमन्त्रने द्वारपर एकत्र हुए लोगोंकी ओर दृष्टिपात किया । उन्होंने देखा, बहुसंख्यक पुरवासी वहाँ उपस्थित थे और अनेकानेक महाधनी पुरुष राजद्वारपर आकर खड़े थे ॥ ६९ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्दशः सर्गः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौदहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १४ ॥

पञ्चदशः सर्गः

सुमन्त्रका राजाकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये उनके महलमें जाना

ते तु तां रजनीमुष्य ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
उपतस्थुरुपस्थानं सह राजपुरोहिताः ॥ १ ॥

वे वेदोंके पारङ्गत ब्राह्मण तथा राजपुरोहित वह रात बिताकर प्रातःकाल (राजाकी प्रेरणाके अनुसार) राजद्वारपर उपस्थित हुए थे ॥ १ ॥

अमात्या बलमुख्याश्च मुख्या ये निगमस्य च ।
राघवस्याभिषेकार्थे प्रीयमाणाः सुसंगताः ॥ २ ॥

मन्त्री, सेनाके मुख्य-मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार श्रीरामचन्द्रजीके अभिषेकके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँ एकत्र हुए थे ॥ २ ॥

उदिते विमले सूर्ये पुष्ये चाभ्यागतेऽहनि ।
लग्ने कर्कटके प्राप्ते जन्म रामस्य च स्थिते ॥ ३ ॥
अभिषेकाय रामस्य द्विजेन्द्रैरुपकल्पितम् ।
काञ्चना जलकुम्भाश्च भद्रपीठं स्वलंकृतम् ॥ ४ ॥
रथश्च सम्यगास्तीर्णो भास्वता व्याघ्रचर्मणा ।
गङ्गायमुनयोः पुण्यात् संगमादाहृतं जलम् ॥ ५ ॥

निर्मल सूर्योदय होनेपर दिनमें जब पुष्य नक्षत्रका योग आया तथा श्रीरामके जन्मका कर्क लग्न उपस्थित हुआ, उस समय श्रेष्ठ ब्राह्मणोंने श्रीरामके अभिषेकके लिये सारी सामग्री एकत्र करके उसे जँचाकर रख दिया । जलसे भरे हुए सोनेके कलश, भलीभाँति सजाया हुआ भद्रपीठ, चमकीले व्याघ्रचर्मसे अच्छी तरह आवृत रथ, गङ्गा-यमुनाके पवित्र सङ्गमसे लाया हुआ जल—ये सब वस्तुएँ एकत्र कर ली गयी थीं ॥ ३—५ ॥

याश्चान्याः सरितः पुण्या ह्रदाः कूपाः सरांसि च ।
प्राग्वहाश्चोर्ध्ववाहाश्च तिर्यग्वाहाश्च क्षीरिणः ॥ ६ ॥
ताभ्यश्चैवाहृतं तोयं समुद्रेभ्यश्च सर्वशः ।
क्षौद्रं दधि घृतं लाजा दर्भाः सुमनसः पयः ॥ ७ ॥
अष्टौ च कन्या रुचिरा मत्तश्च वरवारणः ।

सजलाः क्षीरिभिश्छन्ना घटाः काञ्चनराजताः ॥ ८ ॥
पद्मोत्पलयुता भान्ति पूर्णाः परमवारिणा ।

इनके सिवा जो अन्य नदियाँ, पवित्र जलाशय, कूप और सरोवर हैं तथा जो पूर्वकी ओर बहनेवाली (गोदावरी और कावेरी आदि) नदियाँ हैं, ऊपरकी ओर प्रवाहवाले जो (ब्रह्मावर्त आदि) सरोवर हैं तथा दक्षिण और उत्तरकी ओर बहनेवाली जो (गण्डकी एवं शोणभद्र आदि) नदियाँ हैं, जिनमें दूधके समान निर्मल जल भरा रहता है, उन सबसे और समस्त समुद्रोंसे भी लाया हुआ जल वहाँ संग्रह करके रखा गया था । इनके अतिरिक्त दूध, दही, घी, मधु, लावा, कुश, फूल, आठ सुन्दर कन्याएँ, मदमत्त गजराज और दूधवाले वृक्षोंके पल्लवोंसे ढके हुए सोने-चाँदीके जलपूर्ण कलश भी वहाँ विराजमान थे, जो उत्तम जलसे भरे होनेके साथ ही पद्म और उत्पलोंसे संयुक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहे थे ॥ ६–८½ ॥

चन्द्रांशुविकचप्रख्यं पाण्डुरं रत्नभूषितम् ॥ ९ ॥
सज्जं तिष्ठति रामस्य वालव्यजनमुत्तमम् ।

श्रीरामके लिये चन्द्रमाकी किरणोंके समान विकसित कान्तिसे युक्त श्वेत, पीतवर्णका रत्नजटित उत्तम चँवर सुसज्जितरूपसे रखा हुआ था ॥ ९½ ॥

चन्द्रमण्डलसंकाशमातपत्रं च पाण्डुरम् ॥ १० ॥
सज्जं द्युतिकरं श्रीमदभिषेकपुरस्सरम् ।

चन्द्रमण्डलके समान सुसज्जित श्वेत छत्र भी अभिषेक-सामग्रीके साथ शोभा पा रहा था, जो परम सुन्दर और प्रकाश फैलानेवाला था ॥ १०½ ॥

पाण्डुरश्च वृषः सज्जः पाण्डुराश्वश्च संस्थितः ॥ ११ ॥

सुसज्जित श्वेत वृषभ और श्वेत अश्व भी खड़े थे ॥ ११ ॥

वादित्राणि च सर्वाणि वन्दिनश्च तथापरे ।
इक्ष्वाकूणां यथा राज्ये सम्भ्रियेताभिषेचनम् ॥ १२ ॥
तथाजातीयमादाय राजपुत्राभिषेचनम् ।
ते राजवचनात् तत्र समवेता महीपतिम् ॥ १३ ॥

सब प्रकारके बाजे मौजूद थे । स्तुति-पाठ करनेवाले वन्दी तथा अन्य मागध आदि भी उपस्थित थे । इक्ष्वाकुवंशी राजाओंके राज्यमें जैसी अभिषेक-सामग्रीका संग्रह होना चाहिये, राजकुमारके अभिषेककी वैसी ही सामग्री साथ लेकर वे सब लोग महाराज दशरथकी आज्ञाके अनुसार वहाँ उनके दर्शनके लिये एकत्र हुए थे ॥ १२–१३ ॥

अपश्यन्तोऽब्रुवन् को नु राज्ञो नः प्रतिवेदयेत् ।
न पश्यामश्च राजानमुदितश्च दिवाकरः ॥ १४ ॥
यौवराज्याभिषेकश्च सज्जो रामस्य धीमतः ।

राजाको द्वारपर न देखकर वे कहने लगे—'कौन महाराजके पास जाकर हमारे आगमनकी सूचना देगा । हम महाराजको यहाँ नहीं देखते हैं । सूर्योदय हो गया है और बुद्धिमान् श्रीरामके यौवराज्याभिषेककी सारी सामग्री जुट गयी है' ॥ १४½ ॥

इति तेषु ब्रुवाणेषु सर्वांस्तांश्च महीपतीन् ॥ १५ ॥
अब्रवीत् तानिदं वाक्यं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ।

वे सब लोग जब इस प्रकारकी बातें कर रहे थे, उसी समय राजाद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने वहाँ खड़े हुए उन समस्त भूपतियोंसे यह बात कही—॥ १५½ ॥

रामं राज्ञो नियोगेन त्वरया प्रस्थितो ह्यहम् ॥ १६ ॥
पूज्या राज्ञो भवन्तश्च रामस्य तु विशेषतः ।
अयं पृच्छामि वचनात् सुखमायुष्मतामहम् ॥ १७ ॥

'मैं महाराजकी आज्ञासे श्रीरामको बुलानेके लिये तुरंत जा रहा हूँ । आप सब लोग महाराजके तथा विशेषतः श्रीरामचन्द्रजीके पूजनीय हैं । मैं उन्हींकी ओरसे आप समस्त चिरंजीवी पुरुषोंके कुशल-समाचार पूछ रहा हूँ । आपलोग सुखसे हैं न ?' ॥ १६–१७ ॥

राज्ञः सम्प्रतिबुद्धस्य चानागमनकारणम् ।
इत्युक्त्वान्तःपुरद्वारमाजगाम पुराणवित् ॥ १८ ॥

ऐसा कहकर और जगे हुए होनेपर श्रीमहाराजके बाहर न आनेका कारण बताकर पुरातन वृत्तान्तोंको जाननेवाले सुमन्त्र पुनः अन्तःपुरके द्वारपर लौट आये ॥ १८ ॥

सदा सक्तं च तद् वेश्म सुमन्त्रः प्रविवेश ह ।
तुष्टावास्य तदा वंशं प्रविश्य स विशाम्पतेः ॥ १९ ॥

वह राजभवन सुमन्त्रके लिये सदा खुला रहता था । उन्होंने भीतर प्रवेश किया और प्रवेश करके महाराजके वंशकी स्तुति की ॥ १९ ॥

शयनीयं नरेन्द्रस्य तदासाद्य व्यतिष्ठत ।
सोऽत्यासाद्य तु तद् वेश्म तिरस्करणिमन्तरा ॥ २० ॥
आशीर्भिर्गुणयुक्ताभिरभितुष्टाव राघवम् ।

तदनन्तर वे राजाके शयनगृहके पास जाकर खड़े हो गये । उस घरके अत्यन्त निकट पहुँचकर जहाँ बीचमें केवल चिकका अन्तर रह गया था, खड़े हो वे गुणवर्णनपूर्वक आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा रघुकुलनरेशकी स्तुति करने लगे—॥ २०½ ॥

सोमसूर्यौ च काकुत्स्थ शिववैश्रवणावपि ॥ २१ ॥
वरुणश्चाग्निरिन्द्रश्च विजयं प्रदिशन्तु ते ।

'ककुत्स्थनन्दन ! चन्द्रमा, सूर्य, शिव, कुबेर, वरुण, अग्नि और इन्द्र आपको विजय प्रदान करें ॥ २१½ ॥

गता भगवती रात्रिरहः शिवमुपस्थितम् ॥ २२ ॥
बुद्ध्यस्व राजशार्दूल कुरु कार्यमनन्तरम् ।

'भगवती रात्रि विदा हो गयी । अब कल्याणस्वरूप दिन उपस्थित हुआ है । राजसिंह ! निद्रा त्यागकर जग जाइये और अब जो कार्य प्राप्त है, उसे कीजिये ॥ २२½ ॥

ब्राह्मणा बलमुख्याश्च नैगमाश्चागतास्त्विह ॥ २३ ॥
दर्शनं तेऽभिकाङ्क्षन्ते प्रतिबुद्ध्यस्व राघव ।

'ब्राह्मण, सेनाके मुख्य अधिकारी और बड़े-बड़े सेठ-साहूकार यहाँ आ गये हैं । वे सब लोग आपका दर्शन चाहते हैं । रघुनन्दन ! जागिये' ॥ २३½ ॥

स्तुवन्तं तं तदा सूतं सुमन्त्रं मन्त्रकोविदम् ॥ २४ ॥
प्रतिबुद्ध्य ततो राजा इदं वचनमब्रवीत् ।

मन्त्रणा करनेमें कुशल सूत सुमन्त्र जब इस प्रकार स्तुति करने लगे, तब राजाने जागकर उनसे यह बात कही—॥ २४½ ॥

राममानय सूतेति यदस्यभिहितो मया ॥ २५ ॥
किमिदं कारणं येन ममाज्ञा प्रतिवाह्यते ।
न चैव सम्प्रसुप्तोऽहमानयेहाशु राघवम् ॥ २६ ॥

'सूत ! श्रीरामको बुला लाओ'—यह जो मैंने तुमसे कहा था, उसका पालन क्यों नहीं हुआ ? ऐसा कौन-सा कारण है, जिससे मेरी आज्ञाका उल्लङ्घन किया जा रहा है ? मैं सोया नहीं हूँ । तुम श्रीरामको शीघ्र यहाँ बुला लाओ' ॥ २५-२६ ॥

इति राजा दशरथः सूतं तत्रान्वशात् पुनः ।
स राजवचनं श्रुत्वा शिरसा प्रतिपूज्य तम् ॥ २७ ॥
निर्जगाम नृपावासान्मन्यमानः प्रियं महत् ।
प्रपन्नो राजमार्गं च पताकाध्वजशोभितम् ॥ २८ ॥

इस प्रकार राजा दशरथने जब सूतको फिर उपदेश दिया, तब वे राजाकी वह आज्ञा सुनकर सिर झुकाकर उसका सम्मान करते हुए राजभवनसे बाहर निकल गये । वे मन-ही-मन अपना महान् प्रिय हुआ मानने लगे । राजभवनसे निकलकर सुमन्त्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित राजमार्गपर आ गये ॥ २७-२८ ॥

हृष्टः प्रमुदितः सूतो जगामाशु विलोकयन् ।
स सूतस्तत्र शुश्राव रामाधिकरणाः कथाः ॥ २९ ॥
अभिषेचनसंयुक्ताः सर्वलोकस्य हृष्टवत् ।

वे हर्ष और उल्लासमें भरकर सब ओर दृष्टि डालते हुए शीघ्रतापूर्वक आगे बढ़ने लगे । सूत सुमन्त्र वहाँ मार्गमें सब लोगोंके मुँहसे श्रीरामके राज्याभिषेककी आनन्ददायिनी बातें सुनते जा रहे थे ॥ २९½ ॥

ततो ददर्श रुचिरं कैलाससदृशप्रभम् ॥ ३० ॥
रामवेश्म सुमन्त्रस्तु शक्रवेश्मसमप्रभम् ।
महाकपाटपिहितं वितर्दिशतशोभितम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर सुमन्त्रको श्रीरामका सुन्दर भवन दिखायी दिया, जो कैलासपर्वतके समान श्वेत प्रभासे प्रकाशित हो रहा था । वह इन्द्रभवनके समान दीप्तिमान् था । उसका फाटक विशाल किवाड़ोंसे बंद था (उसके भीतरका छोटा-सा द्वार ही खुला हुआ था) । सैकड़ों वेदिकाएँ उस भवनकी शोभा बढ़ा रही थीं ॥ ३०-३१ ॥

काञ्चनप्रतिमैकाग्रं मणिविद्रुमतोरणम् ।
शारदाभ्रघनप्रख्यं दीप्तं मेरुगुहासमम् ॥ ३२ ॥

उसका मुख्य अग्रभाग सोनेकी देव-प्रतिमाओंसे अलंकृत था । उसके बाहर फाटकमें मणि और मूँगे जड़े हुए थे । वह सारा भवन शरद् ऋतुके बादलोंकी भाँति श्वेत कान्तिसे युक्त, दीप्तिमान् और मेरुपर्वतकी कन्दराके समान शोभायमान था ॥ ३२ ॥

मणिभिर्वरमाल्यानां सुमहद्भिरलंकृतम् ।
मुक्तामणिभिराकीर्णं चन्दनागुरुभूषितम् ॥ ३३ ॥

सुवर्णनिर्मित पुष्पोंकी मालाओंके बीच-बीचमें पिरोयी हुई बहुमूल्य मणियोंसे वह भवन सजा हुआ था । दीवारोंमें जड़ी हुई मुक्तामणियोंसे व्याप्त होकर जगमगा रहा था (अथवा वहाँ मोती और मणियोंके भण्डार भरे हुए थे) । चन्दन और अगरकी सुगन्ध उसकी शोभा बढ़ा रही थी ॥ ३३ ॥

गन्धान् मनोज्ञान् विसृजद् दार्दुरं शिखरं यथा ।
सारसैश्च मयूरैश्च विनदद्भिर्विराजितम् ॥ ३४ ॥

वह भवन मलयाचलके समीपवर्ती दर्दुर नामक चन्दन-गिरिके शिखरकी भाँति सब ओर मनोहर सुगन्ध बिखेर रहा था । कलरव करते हुए सारस और मयूर आदि पक्षी उसकी शोभावृद्धि कर रहे थे ॥ ३४ ॥

सुकृतेहामृगाकीर्णमुत्कीर्णं भक्तिभिस्तथा ।
मनश्चक्षुश्च भूतानामाददत् तिग्मतेजसा ॥ ३५ ॥

सोने आदिकी सुन्दर ढंगसे बनी हुई भेड़ियोंकी मूर्तियोंसे वह व्याप्त था । शिल्पियोंने उसकी दीवारोंमें बड़ी सुन्दर नक्काशी की थी । वह अपनी उत्कृष्ट शोभासे समस्त प्राणियोंके मन और नेत्रोंको आकृष्ट कर लेता था ॥ ३५ ॥

चन्द्रभास्करसंकाशं कुबेरभवनोपमम् ।
महेन्द्रधामप्रतिमं नानापक्षिसमाकुलम् ॥ ३६ ॥

चन्द्रमा और सूर्यके समान तेजस्वी, कुबेर-भवनके समान अक्षय सम्पत्तिसे पूर्ण तथा इन्द्रधामके समान भव्य एवं मनोरम उस श्रीरामभवनमें नाना प्रकारके पक्षी चहक रहे थे ॥ ३६ ॥

मेरुशृङ्गसमं सूतो रामवेश्म ददर्श ह ।
उपस्थितैः समाकीर्णं जनैरञ्जलिकारिभिः ॥ ३७ ॥

सुमन्त्रने देखा—श्रीरामका महल मेरु-पर्वतके शिखर-की भाँति शोभा पा रहा है। हाथ जोड़कर श्रीरामकी वन्दना करनेके लिये उपस्थित हुए असंख्य मनुष्योंसे वह भरा हुआ है ॥ ३७ ॥

उपादाय समाक्रान्तैस्तदा जानपदैर्जनैः ।
रामाभिषेकसुमुखैरुन्मुखैः समलंकृतम् ॥ ३८ ॥

भाँति-भाँतिके उपहार लेकर जनपद-निवासी मनुष्य उस समय वहाँ पहुँचे हुए थे। श्रीरामके अभिषेकका समाचार सुनकर उनके मुख प्रसन्नतासे खिल उठे थे। वे उस उत्सवको देखनेके लिये उत्कण्ठित थे। उन सबकी उपस्थितिसे भवनकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३८ ॥

महामेघसमप्रख्यमुदग्रं सुविराजितम् ।
नानारत्नसमाकीर्णं कुब्जकैरपि चावृतम् ॥ ३९ ॥

वह विशाल राजभवन महान् मेघखण्डके समान ऊँचा और सुन्दर शोभासे सम्पन्न था। उसकी दीवारोंमें नाना प्रकारके रत्न जड़े गये थे और कुबड़े सेवकोंसे वह भरा हुआ था ॥ ३९ ॥

स वाजियुक्तेन रथेन सारथिः
समाकुलं राजकुलं विराजयन् ।
वरूथिना राजगृहाभिपातिना
पुरस्य सर्वस्य मनांसि हर्षयन् ॥ ४० ॥

सारथि सुमन्त्र राजभवनकी ओर जानेवाले वरूथ (लोहेकी चद्दर या सींकचोंके बने हुए आवरण) से युक्त तथा अच्छे घोड़ोंसे जुते हुए रथके द्वारा मनुष्योंकी भीड़से भरे राजमार्गकी शोभा बढ़ाते तथा समस्त नगर-निवासियोंके मनको आनन्द प्रदान करते हुए श्रीरामके भवनके पास जा पहुँचे ॥ ४० ॥

ततः समासाद्य महाधनं महत्
प्रहृष्टरोमा स बभूव सारथिः ।
मृगैर्मयूरैश्च समाकुलोल्बणं
गृहं वरार्हस्य शचीपतेरिव ॥ ४१ ॥

उत्तम वस्तुको प्राप्त करनेके अधिकारी श्रीरामका वह महान् समृद्धिशाली विशाल भवन शचीपति इन्द्रके भवनकी भाँति सुशोभित होता था। इधर-उधर फैले हुए मृगों और मयूरोंसे उसकी शोभा और भी बढ़ गयी थी। वहाँ पहुँचकर सारथि सुमन्त्रके शरीरमें अधिक हर्षके कारण रोमाञ्च हो आया ॥ ४१ ॥

स तत्र कैलासनिभाः स्वलंकृताः
प्रविश्य कक्ष्यास्त्रिदशालयोपमाः ।
प्रियान् वरान् राममते स्थितान् बहून्
व्यपोह्य शुद्धान्तमुपस्थितो रथी ॥ ४२ ॥

वहाँ कैलास और स्वर्गके समान दिव्य शोभासे युक्त, सुन्दर सजी हुई अनेक ड्यौढ़ियोंको लाँघकर श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञामें चलनेवाले बहुतेरे श्रेष्ठ मनुष्योंको बीचमें छोड़ते हुए रथसहित सुमन्त्र अन्तःपुरके द्वारपर उपस्थित हुए ॥ ४२ ॥

स तत्र शुश्राव च हर्षयुक्ता
रामाभिषेकार्थकृतां जनानाम् ।
नरेन्द्रसूनोरभिमङ्गलार्थाः
सर्वस्य लोकस्य गिरः प्रहृष्टाः ॥ ४३ ॥

उस स्थानपर उन्होंने श्रीरामके अभिषेक-सम्बन्धी कर्म करनेवाले लोगोंकी हर्षभरी बातें सुनीं, जो राजकुमार श्रीरामके लिये सब ओरसे मङ्गलकामना सूचित करती थीं। इसी प्रकार उन्होंने अन्य सब लोगोंकी भी हर्षोल्लाससे परिपूर्ण वार्ताओंको श्रवण किया ॥ ४३ ॥

महेन्द्रसद्मप्रतिमं च वेश्म
रामस्य रम्यं मृगपक्षिजुष्टम् ।
ददर्श मेरोरिव शृङ्गमुच्चं
विभ्राजमानं प्रभया सुमन्त्रः ॥ ४४ ॥

श्रीरामका वह भवन इन्द्रसदनकी शोभाको तिरस्कृत कर रहा था। मृगों और पक्षियोंसे सेवित होनेके कारण उसकी रमणीयता और भी बढ़ गयी थी। सुमन्त्रने उस भवनको देखा। वह अपनी प्रभासे प्रकाशित होनेवाले मेरुगिरिके ऊँचे शिखरकी भाँति सुशोभित हो रहा था ॥ ४४ ॥

उपस्थितैरञ्जलिकारिभिश्च
सोपायनैर्जानपदैर्जनैश्च ।
कोट्या परार्धैश्च विमुक्तयानैः
समाकुलं द्वारपदं ददर्श ॥ ४५ ॥

उस भवनके द्वारपर पहुँचकर सुमन्त्रने देखा—श्रीरामकी वन्दनाके लिये हाथ जोड़े उपस्थित हुए जनपद-वासी मनुष्य अपनी सवारियोंसे उतरकर हाथोंमें भाँति-भाँतिके उपहार लिये करोड़ों और परार्धोंकी संख्यामें खड़े थे, जिससे वहाँ बड़ी भारी भीड़ लग गयी थी ॥ ४५ ॥

ततो महामेघमहीधराभं
प्रभिन्नमत्यङ्कुशमत्यसह्यम् ।
रामोपवाह्यं रुचिरं ददर्श
शत्रुंजयं नागमुदग्रकायम् ॥ ४६ ॥

तदनन्तर उन्होंने श्रीरामकी सवारीमें आनेवाले सुन्दर शत्रुञ्जय नामक विशालकाय गजराजको देखा, जो महान् मेघसे युक्त पर्वतके समान प्रतीत होता था। उसके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी। वह अंकुशसे काबूमें आनेवाला नहीं था। उसका वेग शत्रुओंके लिये अत्यन्त असह्य था। उसका जैसा नाम था, वैसा ही गुण भी था ॥ ४६ ॥

स्वलंकृतान् साश्वरथान् सकुञ्जरा-
नमात्यमुख्यांश्च ददर्श वल्लभान् ।
व्यपोह्य सूतः सहितान् समन्ततः
समृद्धमन्तःपुरमाविवेश ह ॥

उन्होंने वहाँ राजाके परम प्रिय मुख्य-मुख्य मन्त्रियोंको भी एक साथ उपस्थित देखा, जो सुन्दर वस्त्राभूषणोंसे विभूषित थे और घोड़े, रथ तथा हाथियोंके साथ वहाँ आये थे। सुमन्त्रने उन सबको एक ओर हटाकर स्वयं श्रीरामके समृद्धिशाली अन्तःपुरमें प्रवेश किया ॥ ४७ ॥

ततोऽद्रिकूटाचलमेघसंनिभं
महाविमानोपमवेश्मसंयुतम् ।
अवार्यमाणः प्रविवेश सारथिः
प्रभूतरत्नं मकरो यथार्णवम् ॥ ४८ ॥

जैसे मगर प्रचुर रत्नोंसे भरे हुए समुद्रमें बेरोक-टोक प्रवेश करता है, उसी प्रकार सारथि सुमन्त्रने पर्वत-शिखरपर आरूढ़ हुए अविचल मेघके समान शोभायमान महान् विमानके सदृश सुन्दर गृहोंसे संयुक्त तथा प्रचुर रत्न-भण्डारसे भरपूर उस महलमें बिना किसी रोक-टोकके प्रवेश किया ॥ ४८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चदशः सर्गः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पंद्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १५ ॥

षोडशः सर्गः

सुमन्त्रका श्रीरामके महलमें पहुँचकर महाराजका संदेश सुनाना और श्रीरामका सीतासे अनुमति ले लक्ष्मणके साथ रथपर बैठकर गाजेबाजेके साथ मार्गमें स्त्री-पुरुषोंकी बातें सुनते हुए जाना

स तदन्तःपुरद्वारं समतीत्य जनाकुलम् ।
प्रविविक्तां ततः कक्ष्यामाससाद पुराणवित् ॥ १ ॥

पुरातन वृत्तान्तोंके ज्ञाता सूत सुमन्त्र मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए उस अन्तःपुरके द्वारको लाँघकर महलकी एकान्त-कक्षामें जा पहुँचे, जहाँ भीड़ बिल्कुल नहीं थी ॥ १ ॥

प्रासकार्मुकबिभ्रद्भिर्युवभिर्मृष्टकुण्डलैः ।
अप्रमादिभिरेकाग्रैः स्वानुरक्तैरधिष्ठिताम् ॥ २ ॥

वहाँ श्रीरामके चरणोंमें अनुराग रखनेवाले एकाग्रचित्त एवं सावधान युवक प्रास और धनुष आदि लिये डटे हुए थे। उनके कानोंमें शुद्ध सुवर्णके बने हुए कुण्डल झलमला रहे थे ॥ २ ॥

तत्र काषायिणो वृद्धान् वेत्रपाणीन् स्वलंकृतान् ।
ददर्श विष्ठितान् द्वारि स्त्र्यध्यक्षान् सुसमाहितान् ॥

उस ड्योढ़ीमें सुमन्त्रको गेरुआ वस्त्र पहने और हाथमें छड़ी लिये वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत बहुतसे वृद्ध पुरुष बड़ी सावधानीके साथ द्वारपर बैठे दिखायी दिये, जो अन्तःपुरकी स्त्रियोंके अध्यक्ष (संरक्षक) थे ॥ ३ ॥

ते समीक्ष्य समायान्तं रामप्रियचिकीर्षवः ।
सहसोत्पतिताः सर्वे ह्यासनेभ्यः ससम्भ्रमाः ॥ ४ ॥

सुमन्त्रको आते देख श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सभी पुरुष सहसा वेगपूर्वक आसनोंसे उठकर खड़े हो गये ॥ ४ ॥

तानुवाच विनीतात्मा सूतपुत्रः प्रदक्षिणः ।
क्षिप्रमाख्यात रामाय सुमन्त्रो द्वारि तिष्ठति ॥ ५ ॥

राजसेवामें अत्यन्त कुशल तथा विनीत हृदयवाले सूतपुत्र सुमन्त्रने उनसे कहा—'आपलोग श्रीरामचन्द्रजीसे शीघ्र जाकर कहें, कि सुमन्त्र दरवाजेपर खड़े हैं' ॥ ५ ॥

ते राममुपसङ्गम्य भर्तुः प्रियचिकीर्षवः ।
सहभार्याय रामाय क्षिप्रमेवाचचक्षिरे ॥ ६ ॥

स्वामीका प्रिय करनेकी इच्छावाले वे सब सेवक श्रीरामचन्द्रजीके पास जा पहुँचे। उस समय श्रीराम अपनी धर्मपत्नी सीताके साथ विराजमान थे। उन सेवकोंने शीघ्र ही उन्हें सुमन्त्रका संदेश सुना दिया ॥ ६ ॥

प्रतिवेदितमाज्ञाय सूतमभ्यन्तरं पितुः ।
तत्रैवानाययामास राघवः प्रियकाम्यया ॥ ७ ॥

द्वाररक्षकोंद्वारा दी हुई सूचना पाकर श्रीरामने पिताकी प्रसन्नताके लिये उनके अन्तरङ्ग सेवक सुमन्त्रको वहीं अन्तःपुरमें बुलवा लिया ॥ ७ ॥

तं वैश्रवणसंकाशमुपविष्टं स्वलंकृतम् ।
ददर्श सूतः पर्यङ्के सौवर्णे सोत्तरच्छदे ॥ ८ ॥

वहाँ पहुँचकर सुमन्त्रने देखा श्रीरामचन्द्रजी वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो कुबेरके समान जान पड़ते हैं और बिछौनोंसे युक्त सोनेके पलंगपर विराजमान हैं ॥ ८ ॥

वराहरुधिराभेण शुचिना च सुगन्धिना ।
अनुलिप्तं परार्ध्येन चन्दनेन परंतपम् ॥ ९ ॥
स्थितया पार्श्वतश्चापि वालव्यजनहस्तया ।
उपेतं सीतया भूयश्चित्रया शशिनं यथा ॥ १० ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले रघुनाथजीके श्रीअङ्गोंमें वाराहके रुधिरकी भाँति लाल, पवित्र और सुगन्धित उत्तम चन्दनका लेप लगा हुआ है और देवी सीता उनके पास बैठकर अपने हाथसे चवँर डुला रही हैं। सीताके अत्यन्त समीप बैठे हुए श्रीराम चित्रासे संयुक्त चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते हैं ॥ ९-१० ॥

तं तपन्तमिवादित्यमुपपन्नं स्वतेजसा ।
ववन्दे वरदं वन्दी विनयज्ञो विनीतवत् ॥ ११ ॥

विनयके ज्ञाता वन्दी सुमन्त्रने तपते हुए सूर्यकी भाँति अपने नित्य प्रकाशसे सम्पन्न रहकर अधिक प्रकाशित होनेवाले वरदायक श्रीरामको विनीतभावसे प्रणाम किया ॥ ११ ॥

प्राञ्जलिः सुमुखं दृष्ट्वा विहारशयनासने ।
राजपुत्रमुवाचेदं सुमन्त्रो राजसत्कृतः ॥ १२ ॥

विहारकालिक शयनके लिये जो आसन था, उस पलंगपर बैठे हुए प्रसन्न मुखवाले राजकुमार श्रीरामका दर्शन करके राजा दशरथद्वारा सम्मानित सुमन्त्रने हाथ जोड़कर इस प्रकार कहा—॥ १२ ॥

कौसल्या सुप्रजा राम पिता त्वां द्रष्टुमिच्छति ।
महिष्यापि हि कैकेय्या गम्यतां तत्र माचिरम् ॥ १३ ॥

'श्रीराम! आपको पाकर महारानी कौसल्या सर्वश्रेष्ठ संतानवाली हो गयी हैं। इस समय रानी कैकेयीके साथ बैठे हुए आपके पिताजी आपको देखना चाहते हैं, अतः वहाँ चलिये, विलम्ब न कीजिये' ॥ १३ ॥

एवमुक्तस्तु संहृष्टो नरसिंहो महाद्युतिः ।
ततः सम्मानयामास सीतामिदमुवाच ह ॥ १४ ॥

सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर महातेजस्वी नरश्रेष्ठ श्रीरामने सीताजीका सम्मान करते हुए प्रसन्नतापूर्वक उनसे इस प्रकार कहा—॥ १४ ॥

देवि देवश्च देवी च समागम्य मदन्तरे ।
मन्त्रयेते ध्रुवं किंचिदभिषेचनसंहितम् ॥ १५ ॥

'देवि! जान पड़ता है, पिताजी और माता कैकेयी दोनों मिलकर मेरे विषयमें ही कुछ विचार कर रहे हैं। निश्चय ही मेरे अभिषेकके सम्बन्धमें ही कोई बात होती होगी ॥ १५ ॥

लक्षयित्वा ह्यभिप्रायं प्रियकामा सुदक्षिणा ।
संचोदयति राजानं मदर्थमसितेक्षणा ॥ १६ ॥

'मेरे अभिषेकके विषयमें राजाके अभिप्रायको लक्ष्य करके उनका प्रिय करनेकी इच्छावाली परम उदार एवं समर्थ कजरारे नेत्रोंवाली कैकेयी मेरे अभिषेकके लिये ही राजाको प्रेरित कर रही होंगी ॥ १६ ॥

सा प्रहृष्टा महाराजं हितकामानुवर्तिनी ।
जननी चार्थकामा मे केकयाधिपतेः सुता ॥ १७ ॥

'मेरी माता केकयराजकुमारी इस समाचारसे बहुत प्रसन्न हुई होंगी। वे महाराजका हित चाहनेवाली और उनकी अनुगामिनी हैं। साथ ही वे मेरा भी भला चाहती हैं। अतः वे महाराजको अभिषेक करनेके लिये जल्दी करनेको कह रही होंगी ॥ १७ ॥

दिष्ट्या खलु महाराजो महिष्या प्रियया सह ।
सुमन्त्रं प्राहिणोद् दूतमर्थकामकरं मम ॥ १८ ॥

'सौभाग्यकी बात है कि महाराज अपनी प्यारी रानीके साथ बैठे हैं और उन्होंने मेरे अभीष्ट अर्थको सिद्ध करनेवाले सुमन्त्रको ही दूत बनाकर भेजा है ॥ १८ ॥

यादृशी परिषत् तत्र तादृशो दूत आगतः ।
ध्रुवमद्यैव मां राजा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ १९ ॥

'जैसी वहाँ अन्तरङ्ग परिषद् बैठी है, वैसे ही दूत सुमन्त्रजी यहाँ पधारे हैं। अवश्य आज ही महाराज मुझे युवराजके पदपर अभिषिक्त करेंगे ॥ १९ ॥

हन्त शीघ्रमितो गत्वा द्रक्ष्यामि च महीपतिम् ।
सह त्वं परिवारेण सुखमास्स्व रमस्व च ॥ २० ॥

'अतः मैं प्रसन्नतापूर्वक यहाँसे शीघ्र जाकर महाराजका दर्शन करूँगा। तुम परिजनोंके साथ यहाँ सुखपूर्वक बैठो और आनन्द करो' ॥ २० ॥

पतिसम्मानिता सीता भर्तारमसितेक्षणा ।
आ द्वारमनुवव्राज मङ्गलान्यभिदध्युषी ॥ २१ ॥

पतिके द्वारा इस प्रकार सम्मानित होकर कजरारे नेत्रोंवाली सीतादेवी उनका मङ्गल-चिन्तन करती हुई स्वामीके साथ-साथ द्वारतक उन्हें पहुँचानेके लिये गयीं ॥ २१ ॥

राज्यं द्विजातिभिर्जुष्टं राजसूयाभिषेचनम् ।
कर्तुमर्हति ते राजा वासवस्येव लोककृत् ॥ २२ ॥

उस समय वे बोलीं—'आर्यपुत्र! ब्राह्मणोंके साथ रहकर आपका युवराजपदपर अभिषेक करके महाराज दूसरे समयमें राजसूय-यज्ञमें सम्राट्के पदपर आपका अभिषेक करनेयोग्य हैं। ठीक उसी तरह जैसे लोकस्रष्टा ब्रह्माने देवराज इन्द्रका अभिषेक किया था ॥ २२ ॥

दीक्षितं व्रतसम्पन्नं वराजिनधरं शुचिम् ।
कुरङ्गशृङ्गपाणिं च पश्यन्ती त्वां भजाम्यहम् ॥ २३ ॥

'आप राजसूय यज्ञमें दीक्षित हो तदनुकूल व्रतका पालन करनेमें तत्पर, श्रेष्ठ मृगचर्मधारी, पवित्र तथा हाथमें मृगका शृङ्ग धारण करनेवाले हों और इस रूपमें आपका दर्शन करती हुई मैं आपकी सेवामें संलग्न रहूँ—यही मेरी शुभ-कामना है ॥ २३ ॥

पूर्वां दिशं वज्रधरो दक्षिणां पातु ते यमः ।
वरुणः पश्चिमामाशां धनेशस्तूत्तरां दिशम् ॥ २४ ॥

'आपकी पूर्व दिशामें वज्रधारी इन्द्र, दक्षिण दिशामें

यमराज, पश्चिम दिशामें वरुण और उत्तर दिशामें कुबेर रक्षा करें' ॥ २४ ॥

अथ सीतामनुज्ञाप्य कृतकौतुकमङ्गलः ।
निश्चक्राम सुमन्त्रेण सह रामो निवेशनात् ॥ २५ ॥

तदनन्तर सीताकी अनुमति ले उत्सवकालिक मङ्गलकृत्य पूर्ण करके श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रके साथ अपने महलसे बाहर निकले ॥ २५ ॥

पर्वतादिव निष्क्रम्य सिंहो गिरिगुहाशयः ।
लक्ष्मणं द्वारि सोऽपश्यत् प्रह्वाञ्जलिपुटं स्थितम् ॥२६॥

पर्वतकी गुफामें शयन करनेवाला सिंह जैसे पर्वतसे निकलकर आता है, उसी प्रकार महलसे निकलकर श्रीरामचन्द्रजीने द्वारपर लक्ष्मणको उपस्थित देखा, जो विनीतभावसे हाथ जोड़े खड़े थे ॥ २६ ॥

अथ मध्यमकक्ष्यायां समागच्छत् सुहृज्जनैः ।
स सर्वानर्थिनो दृष्ट्वा समेत्य प्रतिनन्द्य च ॥ २७ ॥
ततः पावकसंकाशमारुरोह रथोत्तमम् ।
वैयाघ्रं पुरुषव्याघ्रो राजितं राजनन्दनः ॥ २८ ॥

तदनन्तर मध्यम कक्षामें आकर वे मित्रोंसे मिले। फिर प्रार्थी जनोंको उपस्थित देख उन सबसे मिलकर उन्हें संतुष्ट करके पुरुषसिंह राजकुमार श्रीराम व्याघ्रचर्मसे आवृत, शोभाशाली तथा अग्निके समान तेजस्वी उत्तम रथपर आरूढ़ हुए ॥ २७–२८ ॥

मेघनादमसम्बाधं मणिहेमविभूषितम् ।
मुष्णन्तमिव चक्षूंषि प्रभया मेरुवर्चसम् ॥ २९ ॥

उस रथकी घरघराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान प्रतीत होती थी। उसमें स्थानकी संकीर्णता नहीं थी। वह विस्तृत था और मणि एवं सुवर्णसे विभूषित था। उसकी कान्ति सुवर्णमय मेरुपर्वतके समान जान पड़ती थी। वह रथ अपनी प्रभासे लोगोंकी आँखोंमें चकाचौंध-सा पैदा कर देता था ॥

करेणुशिशुकल्पैश्च युक्तं परमवाजिभिः ।
हरियुक्तं सहस्राक्षो रथमिन्द्र इवाशुगम् ॥ ३० ॥

उसमें उत्तम घोड़े जुते हुए थे, जो अधिक पुष्ट होनेके कारण हाथीके बच्चोंके समान प्रतीत होते थे। जैसे सहस्र नेत्रधारी इन्द्र हरे रंगके घोड़ोंसे युक्त शीघ्रगामी रथपर सवार होते हैं, उसी प्रकार श्रीराम अपने उस रथपर आरूढ़ थे ॥

प्रययौ तूर्णमास्थाय राघवो ज्वलितः श्रिया ।
स पर्जन्य इवाकाशे स्वनवानभिनादयन् ॥ ३१ ॥
निकेतान्निर्ययौ श्रीमान् महाभ्रादिव चन्द्रमाः ।

अपनी सहज शोभासे प्रकाशित श्रीरघुनाथजी उस रथपर आरूढ़ हो तुरंत वहाँसे चल दिये। वह तेजस्वी रथ आकाशमें गरजनेवाले मेघकी भाँति अपनी घर्घर ध्वनिसे सम्पूर्ण दिशाओं-को प्रतिध्वनित करता हुआ महान् मेघखण्डसे निकलनेवाले चन्द्रमाके समान श्रीरामके उस भवनसे बाहर निकला ॥

चित्रचामरपाणिस्तु लक्ष्मणो राघवानुजः ॥ ३२ ॥
जुगोप भ्रातरं भ्राता रथमास्थाय पृष्ठतः ।

श्रीरामके छोटे भाई लक्ष्मण भी हाथमें विचित्र चँवर लिये उस रथपर बैठ गये और पीछेसे अपने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामकी रक्षा करने लगे ॥ ३२½ ॥

ततो हलहलाशब्दस्तुमुलः समजायत ॥ ३३ ॥
तस्य निष्क्रममाणस्य जनौघस्य समन्ततः ।

फिर तो सब ओरसे मनुष्योंकी भारी भीड़ निकलने लगी। उस समय उस जन-समूहके चलनेसे सहसा भयंकर कोलाहल मच गया ॥ ३३½ ॥

ततो हयवरा मुख्या नागाश्च गिरिसंनिभाः ॥ ३४ ॥
अनुजग्मुस्तथा रामं शतशोऽथ सहस्रशः ।

श्रीरामके पीछे-पीछे अच्छे-अच्छे घोड़े और पर्वतोंके समान विशालकाय श्रेष्ठ गजराज सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें चलने लगे ॥ ३४½ ॥

अग्रतश्चास्य संनद्धाश्चन्दनागुरुभूषिताः ॥ ३५ ॥
खड्गचापधराः शूरा जग्मुराशंसवो जनाः ।

उनके आगे-आगे कवच आदिसे सुसज्जित तथा चन्दन और अगुरुसे विभूषित हो खड्ग और धनुष धारण किये बहुत-से शूरवीर तथा मङ्गलाशंसी मनुष्य—वन्दी आदि चल रहे थे ॥ ३५½ ॥

ततो वादित्रशब्दाश्च स्तुतिशब्दाश्च वन्दिनाम् ॥ ३६ ॥
सिंहनादाश्च शूराणां ततः शुश्रुविरे पथि ।
हर्म्यवातायनस्थाभिर्भूषिताभिः समन्ततः ॥ ३७ ॥
कीर्यमाणः सुपुष्पौघैर्ययौ स्त्रीभिररिंदमः ।

तदनन्तर मार्गमें वाद्योंकी ध्वनि, वन्दीजनोंके स्तुतिपाठके शब्द तथा शूरवीरोंके सिंहनाद सुनायी देने लगे। महलोंकी खिड़कियोंमें बैठी हुई वस्त्राभूषणोंसे विभूषित वनिताएँ सब ओरसे शत्रुदमन श्रीरामपर ढेर-के-ढेर सुन्दर पुष्प बिखेर रही थीं। इस अवस्थामें श्रीराम आगे बढ़ते चले जा रहे थे ॥

रामं सर्वानवद्याङ्ग्यो रामपिप्रीषया ततः ॥ ३८ ॥
वचोभिरग्र्यैर्हर्म्यस्थाः क्षितिस्थाश्च ववन्दिरे ।

उस समय अट्टालिकाओं और भूतलपर खड़ी हुई सर्वाङ्गसुन्दरी युवतियाँ श्रीरामका प्रिय करनेकी इच्छासे श्रेष्ठ वचनों-द्वारा उनकी स्तुति गाने लगीं ॥ ३८½ ॥

नूनं नन्दति ते माता कौसल्या मातृनन्दन ॥ ३९ ॥
पश्यन्ती सिद्धयात्रं त्वां पित्र्यं राज्यमुपस्थितम् ।

'माताको आनन्द प्रदान करनेवाले रघुवीर! आपकी यह यात्रा सफल होगी और आपको पैतृक राज्य प्राप्त होगा।

इस अवस्थामें आपको देखती हुई आपकी माता कौसल्या निश्चय ही आनन्दित हो रही होंगी ॥ ३९½ ॥

सर्वसीमन्तिनीभ्यश्च सीतां सीमन्तिनीं वराम् ॥ ४० ॥
अमन्यन्त हि ता नार्यो रामस्य हृदयप्रियाम् ।
तया सुचरितं देव्या पुरा नूनं महत् तपः ॥ ४१ ॥
रोहिणीव शशाङ्केन रामसंयोगमाप या ।

'वे नारियाँ श्रीरामकी हृदयवल्लभा सीमन्तिनी सीताको संसारकी समस्त सौभाग्यवती स्त्रियोंसे श्रेष्ठ मानती हुई कहने लगीं—'उन देवी सीताने पूर्वकालमें निश्चय ही बड़ा भारी तप किया होगा, तभी उन्होंने चन्द्रमासे संयुक्त हुई रोहिणीकी भाँति श्रीरामका संयोग प्राप्त किया है' ॥ ४०-४१½ ॥

इति प्रासादशृङ्गेषु प्रमदाभिर्नरोत्तमः ।
शुश्राव राजमार्गस्थः प्रिया वाच उदाहृताः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार राजमार्गपर रथपर बैठे हुए श्रीरामचन्द्रजी प्रासादशिखरोंपर बैठी हुई युवती स्त्रियोंके द्वारा कही गयी ये प्यारी बातें सुन रहे थे ॥ ४२ ॥

स राघवस्तत्र तदा प्रलापा-
ञ्छुश्राव लोकस्य समागतस्य ।
आत्माधिकारा विविधाश्च वाचः
प्रहृष्टरूपस्य पुरे जनस्य ॥ ४३ ॥

उस समय अयोध्यामें आये हुए दूर-दूरके लोग अत्यन्त हर्षसे भरकर वहाँ श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें जो वार्तालाप और तरह-तरहकी बातें करते थे, अपने विषयमें कही गयी उन सभी बातोंको श्रीरघुनाथजी सुनते जा रहे थे ॥ ४३ ॥

एष श्रियं गच्छति राघवोऽद्य
राजप्रसादाद् विपुलां गमिष्यन् ।
एते वयं सर्वसमृद्धकामा
येषामयं नो भविता प्रशास्ता ॥ ४४ ॥

वे कहते थे—'इस समय ये श्रीरामचन्द्रजी महाराज दशरथकी कृपासे बहुत बड़ी सम्पत्तिके अधिकारी होने जा रहे हैं। अब हम सब लोगोंकी समस्त कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी, क्योंकि ये श्रीराम हमारे शासक होंगे ॥ ४४ ॥

लाभो जनस्यास्य यदेष सर्वं
प्रपत्स्यते राष्ट्रमिदं चिराय ।
न ह्यप्रियं किंचन जातु कश्चित्
पश्येन्न दुःखं मनुजाधिपेऽस्मिन् ॥ ४५ ॥

'यदि यह सारा राज्य चिरकालके लिये इनके हाथमें आ जाय तो इस जगत्की समस्त जनताके लिये यह महान् लाभ होगा। इनके राजा होनेपर कभी किसीका अप्रिय नहीं होगा और किसीको कोई दुःख भी नहीं देखना पड़ेगा' ॥ ४५ ॥

स घोषवद्भिश्च हयैः सनागैः
पुरःसरैः स्वस्तिकसूतमागधैः ।
महीयमानः प्रवरैश्च वादकै-
रभिष्टुतो वैश्रवणो यथा ययौ ॥ ४६ ॥

हिनहिनाते हुए घोड़ों, चिग्घाड़ते हुए हाथियों, जय-जयकार करते हुए आगे-आगे चलनेवाले वन्दियों, स्तुतिपाठ करनेवाले सूतों, वंशकी विरुदावलि बखाननेवाले मागधों तथा सर्वश्रेष्ठ गुणगायकोंके तुमुल घोषके बीच उन वन्दी आदि-से पूजित एवं प्रशंसित होते हुए श्रीरामचन्द्रजी कुबेरके समान चल रहे थे ॥ ४६ ॥

करेणुमातङ्गरथाश्वसंकुलं
महाजनौघैः परिपूर्णचत्वरम् ।
प्रभूतरत्नं बहुपण्यसंचयं
ददर्श रामो विमलं महापथम् ॥ ४७ ॥

यात्रा करते हुए श्रीरामने उस विशाल राजमार्गको देखा, जो हथिनियों, मतवाले हाथियों, रथों और घोड़ोंसे खचाखच भरा हुआ था। उसके प्रत्येक चौराहेपर मनुष्यों-की भारी भीड़ इकट्ठी हो रही थी। उसके दोनों पार्श्वभागोंमें प्रचुर रत्नोंसे भरी हुई दूकानें थीं तथा विक्रयके योग्य और भी बहुत-से द्रव्योंके ढेर वहाँ दिखायी देते थे। वह राजमार्ग बहुत साफ-सुथरा था ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षोडशः सर्गः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सोलहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशः सर्गः

श्रीरामका राजपथकी शोभा देखते और सुहृदोंकी बातें सुनते हुए पिताके भवनमें प्रवेश

स रामो रथमास्थाय सम्प्रहृष्टसुहृज्जनः ।
पताकाध्वजसम्पन्नं महार्हागुरुधूपितम् ॥ १ ॥
अपश्यन्नगरं श्रीमान् नानाजनसमन्वितम् ।
स गृहैरभ्रसंकाशैः पाण्डुरैरुपशोभितम् ॥ २ ॥
राजमार्गं ययौ रामो मध्येनागुरुधूपितम् ।

इस प्रकार श्रीमान् रामचन्द्रजी अपने सुहृदोंको आनन्द प्रदान करते हुए रथपर बैठे राजमार्गके बीचसे चले जा रहे थे; उन्होंने देखा—सारा नगर ध्वजा और पताकाओंसे सुशोभित हो रहा है, चारों ओर बहुमूल्य अगुरुनामक धूपकी सुगन्ध छा रही है और सब ओर असंख्य मनुष्योंकी भीड़ दिखायी

देती है। वह राजमार्ग श्वेत बादलोंके समान उज्ज्वल भव्य भवनोंसे सुशोभित तथा अगुरुकी सुगन्धसे व्याप्त हो रहा था॥

चन्दनानां च मुख्यानामगुरूणां च संचयैः ॥ ३ ॥
उत्तमानां च गन्धानां क्षौमकौशाम्बरस्य च ।
अविद्धाभिश्च मुक्ताभिरुत्तमैः स्फाटिकैरपि ॥ ४ ॥
शोभमानमसम्बाधं तं राजपथमुत्तमम् ।
संवृतं विविधैः पुष्पैर्भक्ष्यैरुच्चावचैरपि ॥ ५ ॥
ददर्श तं राजपथं दिवि देवपतिर्यथा ।
दध्यक्षतहविर्लाजैर्धूपैरगुरुचन्दनैः ॥ ६ ॥
नानामाल्योपगन्धैश्च सदाभ्यर्चितचत्वरम् ।

अच्छी श्रेणीके चन्दनों, अगुरु नामक धूपों, उत्तम गन्ध-द्रव्यों, अलसी या सन आदिके रेशोंसे बने हुए कपड़ों तथा रेशमी वस्त्रोंके ढेर, अनविंधे मोती और उत्तमोत्तम स्फटिक रत्न उस विस्तृत एवं उत्तम राजमार्गकी शोभा बढ़ा रहे थे। वह नाना प्रकारके पुष्पों तथा भाँति-भाँतिके भक्ष्य पदार्थोंसे भरा हुआ था। उसके चौराहोंकी दही, अक्षत, हविष्य, लावा, धूप, अगर, चन्दन, नाना प्रकारके पुष्पहार और गन्ध-द्रव्योंसे सदा पूजा की जाती थी। स्वर्गलोकमें बैठे हुए देवराज इन्द्रकी भाँति रथारूढ़ श्रीरामने उस राजमार्गको देखा॥

आशीर्वादान् बहूञ्शृण्वन् सुहृद्भिः समुदीरितान् ॥ ७ ॥
यथार्हं चापि सम्पूज्य सर्वानेव नरान् ययौ ।

वे अपने सुहृदोंके मुखसे कहे गये बहुत-से आशीर्वादोंको सुनते और यथायोग्य उन सब लोगोंका सम्मान करते हुए चले जा रहे थे॥ ७½ ॥

पितामहैराचरितं तथैव प्रपितामहैः ॥ ८ ॥
अद्योपादाय तं मार्गमभिषिक्तोऽनुपालय ।

(उनके हितैषी सुहृद् कहते थे—) 'रघुनन्दन ! तुम्हारे पितामह और प्रपितामह (दादे और परदादे) जिसपर चलते आये हैं, आज उसी मार्गको ग्रहण करके युवराज-पदपर अभिषिक्त हो आप हम सब लोगोंका निरन्तर पालन करें' ॥

यथा स्म पोषिताः पित्रा यथा सर्वैः पितामहैः ।
ततः सुखतरं सर्वे रामे वत्स्याम राजनि ॥ ९ ॥

(फिर वे आपसमें कहने लगे–) 'भाइयो ! श्रीरामके पिता तथा समस्त पितामहोंद्वारा जिस प्रकार हमलोगोंका पालन-पोषण हुआ है, श्रीरामके राजा होनेपर हम उससे भी अधिक सुखी रहेंगे ॥ ९ ॥

अलमद्य हि भुक्तेन परमार्थैरलं च नः ।
यदि पश्याम निर्यान्तं रामं राज्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

'यदि हम राज्यपर प्रतिष्ठित हुए श्रीरामको पिताके घरसे निकलते हुए देख लें—यदि राजा रामका दर्शन कर लें तो अब हमें इहलोकके भोग और परमार्थस्वरूप मोक्ष लेकर क्या करना है ॥ १० ॥

ततो हि नः प्रियतरं नान्यत् किंचिद् भविष्यति ।
यथाभिषेको रामस्य राज्येनामिततेजसः ॥ ११ ॥

'अमित तेजस्वी श्रीरामका यदि राज्यपर अभिषेक हो जाय तो वह हमारे लिये जैसा प्रियतर कार्य होगा, उससे बढ़कर दूसरा कोई परम प्रिय कार्य नहीं होगा' ॥ ११ ॥

एताश्चान्याश्च सुहृदामुदासीनः शुभाः कथाः ।
आत्मसम्पूजनीः शृण्वन् ययौ रामो महापथम् ॥ १२ ॥

सुहृदोंके मुँहसे निकली हुई ये तथा और भी कई तरहकी अपनी प्रशंसासे सम्बन्ध रखनेवाली सुन्दर बातें सुनते हुए श्रीरामचन्द्रजी राजपथपर बढ़े चले जा रहे थे ॥ १२ ॥

न हि तस्मान्मनः कश्चिच्चक्षुषी वा नरोत्तमात् ।
नरः शक्नोत्यपाक्रष्टुमतिक्रान्तेऽपि राघवे ॥ १३ ॥

(जो श्रीरामकी ओर एक बार देख लेता, वह उन्हें देखता ही रह जाता था।) श्रीरघुनाथजीके दूर चले जानेपर भी कोई उन पुरुषोत्तमकी ओरसे अपना मन या दृष्टि नहीं हटा पाता था ॥ १३ ॥

यश्च रामं न पश्येत्तु यं च रामो न पश्यति ।
निन्दितः सर्वलोकेषु स्वात्माप्येनं विगर्हते ॥ १४ ॥

उस समय जो श्रीरामको नहीं देखता और जिसे श्रीराम नहीं देख लेते थे, वह समस्त लोकोंमें निन्दित समझा जाता था तथा स्वयं उसकी अन्तरात्मा भी उसे धिक्कारती थी ॥ १४ ॥

सर्वेषु स हि धर्मात्मा वर्णानां कुरुते दयाम् ।
चतुर्णां हि वयःस्थानां तेन ते तमनुव्रताः ॥ १५ ॥

धर्मात्मा श्रीराम चारों वर्णोंके सभी मनुष्योंपर उनकी अवस्थाके अनुरूप दया करते थे, इसलिये वे सभी उनके भक्त थे ॥ १५ ॥

चतुष्पथान् देवपथांश्चैत्यांश्चायतनानि च ।
प्रदक्षिणं परिहरञ्जगाम नृपतेः सुतः ॥ १६ ॥

राजकुमार श्रीराम चौराहों, देवमार्गों, चैत्यवृक्षों तथा देवमन्दिरोंको अपने दाहिने छोड़ते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥

स राजकुलमासाद्य मेघसङ्घोपमैः शुभैः ।
प्रासादशृङ्गैर्विविधैः कैलासशिखरोपमैः ॥ १७ ॥
आवारयद्भिर्गगनं विमानैरिव पाण्डुरैः ।
वर्धमानगृहैश्चापि रत्नजालपरिष्कृतैः ॥ १८ ॥
तत् पृथिव्यां गृहवरं महेन्द्रसदनोपमम् ।
राजपुत्रः पितुर्वेश्म प्रविवेश श्रिया ज्वलन् ॥ १९ ॥

राजा दशरथका भवन मेघसमूहोंके समान शोभा पानेवाले, सुन्दर अनेक रूप-रंगवाले कैलासशिखरके समान उज्ज्वल प्रासादशिखरों (अट्टालिकाओं) से सुशोभित था। उसमें रत्नोंकी जालीसे विभूषित तथा विमानाकार क्रीड़ागृह

भी बने हुए थे, जो अपनी श्वेत आभासे प्रकाशित होते थे। वे अपनी ऊँचाईसे आकाशको भी लाँघते हुए-से प्रतीत होते थे; ऐसे गृहोंसे युक्त वह श्रेष्ठ भवन इस भूतलपर इन्द्रसदनके समान शोभा पाता था। उस राजभवनके पास पहुँचकर अपनी शोभासे प्रकाशित होनेवाले राजकुमार श्रीरामने पिताके महल-में प्रवेश किया ॥ १७—१९ ॥

स कक्ष्या धन्विभिर्गुप्तास्तिस्रोऽतिक्रम्य वाजिभिः।
पदातिरपरे कक्ष्ये द्वे जगाम नरोत्तमः ॥ २० ॥

उन्होंने धनुर्धर वीरोंद्वारा सुरक्षित महलकी तीन ड्योढ़ियों-को तो घोड़े जुते हुए रथसे ही पार किया, फिर दो ड्योढ़ियों-में वे पुरुषोत्तम राम पैदल ही गये ॥ २० ॥

स सर्वाः समतिक्रम्य कक्ष्या दशरथात्मजः।
संनिवर्त्य जनं सर्वं शुद्धान्तःपुरमत्यगात् ॥ २१ ॥

इस प्रकार सारी ड्योढ़ियोंको पार करके दशरथनन्दन श्रीराम साथ आये हुए सब लोगोंको लौटाकर स्वयं अन्तःपुरमें गये ॥ २१ ॥

तस्मिन् प्रविष्टे पितुरन्तिकं तदा
जनः स सर्वो मुदितो नृपात्मजे।
प्रतीक्षते तस्य पुनः स निर्गमं
यथोदयं चन्द्रमसः सरित्पतिः ॥ २२ ॥

जब राजकुमार श्रीराम पिताके पास जानेके लिये अन्तः-पुरमें प्रविष्ट हुए, तब आनन्दमग्न हुए सब लोग बाहर खड़े होकर उनके पुनः निकलनेकी प्रतीक्षा करने लगे, ठीक उसी तरह जैसे सरिताओंका स्वामी समुद्र चन्द्रोदयकी प्रतीक्षा करता रहता है ॥ २२ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तदशः सर्गः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्रहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १७ ॥

अष्टादशः सर्गः

श्रीरामका कैकेयीसे पिताके चिन्तित होनेका कारण पूछना और कैकेयीका कठोरतापूर्वक अपने माँगे हुए वरोंका वृत्तान्त बताकर श्रीरामको वनवासके लिये प्रेरित करना

स ददर्शासने रामो विषण्णं पितरं शुभे।
कैकेय्या सहितं दीनं मुखेन परिशुष्यता ॥ १ ॥

महलमें जाकर श्रीरामने पिताको कैकेयीके साथ एक सुन्दर आसनपर बैठे देखा। वे विषादमें डूबे हुए थे, उनका मुँह सूख गया था और वे बड़े दयनीय दिखायी देते थे ॥ १ ॥

स पितुश्चरणौ पूर्वमभिवाद्य विनीतवत्।
ततो ववन्दे चरणौ कैकेय्याः सुसमाहितः ॥ २ ॥

निकट पहुँचनेपर श्रीरामने विनीतभावसे पहले अपने पिताके चरणोंमें प्रणाम किया; उसके बाद बड़ी सावधानीके साथ उन्होंने कैकेयीके चरणोंमें भी मस्तक झुकाया ॥ २ ॥

रामेत्युक्त्वा तु वचनं वाष्पपर्याकुलेक्षणः।
शशाक नृपतिर्दीनो नेक्षितुं नाभिभाषितुम् ॥ ३ ॥

उस समय दीनदशामें पड़े हुए राजा दशरथ एक बार 'राम !' ऐसा कहकर चुप हो गये (इससे आगे उनसे बोला नहीं गया)। उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये, अतः वे श्रीरामकी ओर न तो देख सके और न उनसे कोई बात ही कर सके ॥ ३ ॥

तदपूर्वं नरपतेर्दृष्ट्वा रूपं भयावहम्।
रामोऽपि भयमापन्नः पदा स्पृष्ट्वेव पन्नगम् ॥ ४ ॥

राजाका वह अभूतपूर्व भयंकर रूप देखकर श्रीरामको भी भय हो गया, मानो उन्होंने पैरसे किसी सर्पको छू दिया हो ॥ ४ ॥

इन्द्रियैरप्रहृष्टैस्तं शोकसंतापकर्शितम्।
निःश्वसन्तं महाराजं व्यथिताकुलचेतसम् ॥ ५ ॥
ऊर्मिमालिनमक्षोभ्यं क्षुभ्यन्तमिव सागरम्।
उपप्लुतमिवादित्यमुक्तानृतमृषिं यथा ॥ ६ ॥

राजाकी इन्द्रियोंमें प्रसन्नता नहीं थी; वे शोक और संतापसे दुर्बल हो रहे थे, बारंबार लंबी साँसें भरते थे तथा उनके चित्तमें बड़ी व्यथा और व्याकुलता थी। वे ऐसे दीखते थे, मानो तरङ्गमालाओंसे उपलक्षित अक्षोभ्य समुद्र क्षुब्ध हो उठा हो, सूर्यको राहुने ग्रस लिया हो अथवा किसी महर्षिने झूठ बोल दिया हो ॥

अचिन्त्यकल्पं नृपतेस्तं शोकमुपधारयन्।
बभूव संरब्धतरः समुद्र इव पर्वणि ॥ ७ ॥

राजाका वह शोक सम्भावनासे परे था। इस शोकका क्या कारण है—यह सोचते हुए श्रीरामचन्द्रजी पूर्णिमाके समुद्रकी भाँति अत्यन्त विक्षुब्ध हो उठे ॥ ७ ॥

चिन्तयामास चतुरो रामः पितृहिते रतः।
किंस्विदद्यैव नृपतिर्न मां प्रत्यभिनन्दति ॥ ८ ॥

पिताके हितमें तत्पर रहनेवाले परम चतुर श्रीराम सोचने लगे कि 'आज ही ऐसी क्या बात हो गयी' जिससे महाराज मुझसे प्रसन्न होकर बोलते नहीं हैं ॥ ८ ॥

अन्यदा मां पिता दृष्ट्वा कुपितोऽपि प्रसीदति ।
तस्य मामद्य सम्प्रेक्ष्य किमायासः प्रवर्तते ॥ ९ ॥

'और दिन तो पिताजी कुपित होनेपर भी मुझे देखते ही प्रसन्न हो जाते थे, आज मेरी ओर दृष्टिपात करके इन्हें क्लेश क्यों हो रहा है?' ॥ ९ ॥

स दीन इव शोकार्तो विषण्णवदनद्युतिः ।
कैकेयीमभिवाद्यैव रामो वचनमब्रवीत् ॥ १० ॥

यह सब सोचकर श्रीराम दीन-से हो गये, शोकसे कातर हो उठे, विषादके कारण उनके मुखकी कान्ति फीकी पड़ गयी। वे कैकेयीको प्रणाम करके उसीसे पूछने लगे—॥ १० ॥

कच्चिन्मया नापराद्धमज्ञानाद् येन मे पिता ।
कुपितस्तन्ममाचक्ष्व त्वमेवैनं प्रसादय ॥ ११ ॥

'मा ! मुझसे अनजानमें कोई अपराध तो नहीं हो गया, जिससे पिताजी मुझपर नाराज हो गये हैं। तुम यह बात मुझे बताओ और तुम्हीं इन्हें मना दो ॥ ११ ॥

अप्रसन्नमनाः किं नु सदा मां प्रति वत्सलः ।
विषण्णवदनो दीनः नहि मां प्रति भाषते ॥ १२ ॥

'ये तो सदा मुझे प्यार करते थे, आज इनका मन अप्रसन्न क्यों हो गया ? देखता हूँ, ये आज मुझसे बोलतेतक नहीं हैं, इनके मुखपर विषाद छा रहा है और ये अत्यन्त दुखी हो रहे हैं ॥ १२ ॥

शारीरो मानसो वापि कच्चिदेनं न बाधते ।
संतापो वाभितापो वा दुर्लभं हि सदा सुखम् ॥ १३ ॥

'कोई शारीरिक व्याधिजनित संताप अथवा मानसिक अभिताप (चिन्ता) तो इन्हें पीड़ित नहीं कर रहा है ? क्योंकि मनुष्यको सदा सुख-ही-सुख मिले—ऐसा सुयोग प्रायः दुर्लभ होता है ॥ १३ ॥

कच्चिन्न किंचिद् भरते कुमारे प्रियदर्शने ।
शत्रुघ्ने वा महासत्त्वे मातॄणां वा ममाशुभम् ॥ १४ ॥

'प्रियदर्शन कुमार भरत, महाबली शत्रुघ्न अथवा मेरी माताओंका तो कोई अमङ्गल नहीं हुआ है ? ॥ १४ ॥

अतोषयन् महाराजमकुर्वन् वा पितुर्वचः ।
मुहूर्तमपि नेच्छेयं जीवितुं कुपिते नृपे ॥ १५ ॥

'महाराजको असंतुष्ट करके अथवा इनकी आज्ञा न मानकर इन्हें कुपित कर देनेपर मैं दो घड़ी भी जीवित रहना नहीं चाहूँगा ॥ १५ ॥

यतोमूलं नरः पश्येत् प्रादुर्भावमिहात्मनः ।
कथं तस्मिन् न वर्तेत प्रत्यक्षे सति दैवते ॥ १६ ॥

'मनुष्य जिसके कारण इस जगत्में अपना प्रादुर्भाव (जन्म) देखता है, उस प्रत्यक्ष देवता पिताके जीते-जी वह उसके अनुकूल बर्ताव क्यों न करेगा ? ॥ १६ ॥

कच्चित्ते परुषं किंचिदभिमानात् पिता मम ।
उक्तो भवत्या रोषेण येनास्य लुलितं मनः ॥ १७ ॥

'कहीं तुमने तो अभिमान या रोषके कारण मेरे पिताजीसे कोई कठोर बात नहीं कह डाली, जिससे इनका मन दुखी हो गया है ? ॥ १७ ॥

एतदाचक्ष्व मे देवि तत्त्वेन परिपृच्छतः ।
किंनिमित्तमपूर्वोऽयं विकारो मनुजाधिपे ॥ १८ ॥

'देवि ! मैं सच्ची बात पूछता हूँ, बताओ, किस कारणसे महाराजके मनमें आज इतना विकार (संताप) है ? इनकी ऐसी अवस्था तो पहले कभी नहीं देखी गयी थी' ॥ १८ ॥

एवमुक्ता तु कैकेयी राघवेण महात्मना ।
उवाचेदं सुनिर्लज्जा धृष्टमात्महितं वचः ॥ १९ ॥

महात्मा श्रीरामके इस प्रकार पूछनेपर अत्यन्त निर्लज्ज कैकेयी बड़ी ढिठाईके साथ अपने मतलबकी बात इस प्रकार बोली—॥ १९ ॥

न राजा कुपितो राम व्यसनं नास्य किंचन ।
किंचिन्मनोगतं त्वस्य त्वद्भयान्नानुभाषते ॥ २० ॥

'राम ! महाराज कुपित नहीं हैं और न इन्हें कोई कष्ट ही हुआ है। इनके मनमें कोई बात है, जिसे तुम्हारे डरसे ये कह नहीं पा रहे हैं ॥ २० ॥

प्रियं त्वामप्रियं वक्तुं वाणी नास्य प्रवर्तते ।
तदवश्यं त्वया कार्यं यदनेनाश्रुतं मम ॥ २१ ॥

'तुम इनके प्रिय हो, तुमसे कोई अप्रिय बात कहनेके लिये इनकी जबान नहीं खुलती; किंतु इन्होंने जिस कार्यके लिये मेरे सामने प्रतिज्ञा की है, उसका तुम्हें अवश्य पालन करना चाहिये ॥ २१ ॥

एष मह्यं वरं दत्त्वा पुरा मामभिपूज्य च ।
स पश्चात् तप्यते राजा यथान्यः प्राकृतस्तथा ॥ २२ ॥

'इन्होंने पहले तो मेरा सत्कार करते हुए मुझे मुँह-माँगा वरदान दे दिया और अब ये दूसरे गँवार मनुष्योंकी भाँति उसके लिये पश्चात्ताप करते हैं ॥ २२ ॥

अतिसृज्य ददानीति वरं मम विशाम्पतिः ।
स निरर्थं गतजले सेतुं बन्धितुमिच्छति ॥ २३ ॥

'ये प्रजानाथ पहले 'मैं दूँगा'—ऐसी प्रतिज्ञा करके मुझे वर दे चुके हैं और अब उसके निवारणके लिये व्यर्थ प्रयत्न कर रहे हैं, पानी निकल जानेपर उसे रोकनेके लिये बाँध बाँधनेकी निरर्थक चेष्टा करते हैं ॥ २३ ॥

धर्ममूलमिदं राम विदितं च सतामपि ।
तत् सत्यं न त्यजेद् राजा कुपितस्त्वत्कृते यथा ॥ २४ ॥

'राम ! सत्य ही धर्मकी जड़ है, यह सत्पुरुषोंका भी

निश्चय है। कहीं ऐसा न हो कि ये महाराज तुम्हारे कारण मुझपर कुपित होकर अपने उस सत्यको ही छोड़ बैठें। जैसे भी इनके सत्यका पालन हो, वैसा तुम्हें करना चाहिये ॥ २४ ॥

यदि तद् वक्ष्यते राजा शुभं वा यदि वाशुभम्।
करिष्यसि ततः सर्वमाख्यास्यामि पुनस्त्वहम् ॥ २५ ॥

'यदि राजा जिस बातको कहना चाहते हैं, वह शुभ हो या अशुभ, तुम सर्वथा उसका पालन करो तो मैं सारी बात पुनः तुमसे कहूँगी ॥ २५ ॥

यदि त्वभिहितं राज्ञा त्वयि तन्न विपत्स्यते।
ततोऽहमभिधास्यामि न ह्येष त्वयि वक्ष्यति ॥ २६ ॥

'यदि राजाकी कही हुई बात तुम्हारे कानोंमें पड़कर वहीं नष्ट न हो जाय—यदि तुम उनकी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सको तो मैं तुमसे सब कुछ खोलकर बता दूँगी, ये स्वयं तुमसे कुछ नहीं कहेंगे' ॥ २६ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा कैकेय्या समुदाहृतम्।
उवाच व्यथितो रामस्तां देवीं नृपसंनिधौ ॥ २७ ॥

कैकेयीकी कही हुई यह बात सुनकर श्रीरामके मनमें बड़ी व्यथा हुई। उन्होंने राजाके समीप ही देवी कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ २७ ॥

अहो धिङ् नार्हसे देवि वक्तुं मामीदृशं वचः।
अहं हि वचनाद् राज्ञः पतेयमपि पावके ॥ २८ ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥ २९ ॥
तद् ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकाङ्क्षितम्।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥ ३० ॥

'अहो! धिक्कार है! देवि! तुम्हें मेरे प्रति ऐसी बात मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये। मैं महाराजके कहनेसे आगमें भी कूद सकता हूँ, तीव्र विषका भी भक्षण कर सकता हूँ और समुद्रमें भी गिर सकता हूँ! महाराज मेरे गुरु, पिता और हितैषी हैं, मैं उनकी आज्ञा पाकर क्या नहीं कर सकता? इसलिये देवि! राजाको जो अभीष्ट है, वह बात मुझे बताओ! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, उसे पूर्ण करूँगा। राम दो तरहकी बात नहीं करता है' ॥ २८-३० ॥

तमार्जवसमायुक्तमनार्या सत्यवादिनम्।
उवाच रामं कैकेयी वचनं भृशदारुणम् ॥ ३१ ॥

श्रीराम सरल स्वभावसे युक्त और सत्यवादी थे, उनकी बात सुनकर अनार्या कैकेयीने अत्यन्त दारुण वचन कहना आरम्भ किया—॥ ३१ ॥

पुरा देवासुरे युद्धे पित्रा ते मम राघव।
रक्षितेन वरौ दत्तौ सशल्येन महारणे ॥ ३२ ॥

'रघुनन्दन! पहलेकी बात है, देवासुरसंग्राममें तुम्हारे पिता शत्रुओंके बाणोंसे बिंध गये थे, उस महासमरमें मैंने इनकी रक्षा की थी, उससे प्रसन्न होकर इन्होंने मुझे दो वर दिये थे ॥ ३२ ॥

तत्र मे याचितो राजा भरतस्याभिषेचनम्।
गमनं दण्डकारण्ये तव चाद्यैव राघव ॥ ३३ ॥

'राघव! उन्हींमेंसे एक वरके द्वारा तो मैंने महाराजसे यह याचना की है कि भरतका राज्याभिषेक हो और दूसरा वर यह माँगा है कि तुम्हें आज ही दण्डकारण्यमें भेज दिया जाय ॥ ३३ ॥

यदि सत्यप्रतिज्ञं त्वं पितरं कर्तुमिच्छसि।
आत्मानं च नरश्रेष्ठ मम वाक्यमिदं शृणु ॥ ३४ ॥

'नरश्रेष्ठ! यदि तुम अपने पिताको सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहते हो और अपनेको भी सत्यवादी सिद्ध करनेकी इच्छा रखते हो तो मेरी यह बात सुनो ॥ ३४ ॥

संनिदेशे पितुस्तिष्ठ यथानेन प्रतिश्रुतम्।
त्वयारण्यं प्रवेष्टव्यं नव वर्षाणि पञ्च च ॥ ३५ ॥

'तुम पिताकी आज्ञाके अधीन रहो, जैसी इन्होंने प्रतिज्ञा की है, उसके अनुसार तुम्हें चौदह वर्षोंके लिये वनमें प्रवेश करना चाहिये ॥ ३५ ॥

भरतश्चाभिषिच्येत यदेतदभिषेचनम्।
त्वदर्थे विहितं राज्ञा तेन सर्वेण राघव ॥ ३६ ॥

'रघुनन्दन! राजाने तुम्हारे लिये जो यह अभिषेकका सामान जुटाया है, उस सबके द्वारा यहाँ भरतका अभिषेक किया जाय ॥ ३६ ॥

सप्त सप्त च वर्षाणि दण्डकारण्यमाश्रितः।
अभिषेकमिमं त्यक्त्वा जटाचीरधरो भव ॥ ३७ ॥

'और तुम इस अभिषेकको त्यागकर चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें रहते हुए जटा और चीर धारण करो ॥ ३७ ॥

भरतः कोसलपतेः प्रशास्तु वसुधामिमाम्।
नानारत्नसमाकीर्णां सवाजिरथसंकुलाम् ॥ ३८ ॥

'कोसलनरेशकी इस वसुधाका, जो नाना प्रकारके रत्नोंसे भरी-पूरी और घोड़े तथा रथोंसे व्याप्त है, भरत शासन करें ॥ ३८ ॥

एतेन त्वां नरेन्द्रोऽयं कारुण्येन समाप्लुतः।
शोकैः संक्लिष्टवदनो न शक्नोति निरीक्षितुम् ॥ ३९ ॥

'बस इतनी ही बात है, ऐसा करनेसे तुम्हारे वियोगका कष्ट सहन करना पड़ेगा, यह सोचकर महाराज करुणामें डूब रहे हैं। इसी शोकसे इनका मुख सूख गया है और इन्हें तुम्हारी ओर देखनेका साहस नहीं होता ॥ ३९ ॥

एतत् कुरु नरेन्द्रस्य वचनं रघुनन्दन।

सत्येन महता राम तारयस्व नरेश्वरम् ॥ ४० ॥

'रघुनन्दन राम ! तुम राजाकी इस आज्ञाका पालन करो और इनके महान् सत्यकी रक्षा करके इन नरेशको संकटसे उबार लो' ॥ ४० ॥

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां
न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो
राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥ ४१ ॥

कैकेयीके इस प्रकार कठोर वचन कहनेपर भी श्रीरामके हृदयमें शोक नहीं हुआ, परंतु महानुभाव राजा दशरथ पुत्रके भावी वियोगजनित दुःखसे संतप्त एवं व्यथित हो उठे ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टादशः सर्गः ॥ १८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अठारहवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ १८ ॥

एकोनविंशः सर्गः

श्रीरामकी कैकेयीके साथ बातचीत और वनमें जाना स्वीकार करके उनका माता कौसल्याके पास आज्ञा लेनेके लिये जाना

तदप्रियममित्रघ्नो वचनं मरणोपमम् ।
श्रुत्वा न विव्यथे रामः कैकेयीं चेदमब्रवीत् ॥ १ ॥

वह अप्रिय तथा मृत्युके समान कष्टदायक वचन सुनकर भी शत्रुसूदन श्रीराम व्यथित नहीं हुए । उन्होंने कैकेयीसे इस प्रकार कहा—॥ १ ॥

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः ।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ २ ॥

'मा ! बहुत अच्छा ! ऐसा ही हो । मैं महाराजकी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये जटा और चीर धारण करके वनमें रहनेके निमित्त अवश्य यहाँसे चला जाऊँगा ॥ २ ॥

इदं तु ज्ञातुमिच्छामि किमर्थं मां महीपतिः ।
नाभिनन्दति दुर्धर्षो यथापूर्वमरिंदमः ॥ ३ ॥

'परंतु मैं यह जानना चाहता हूँ कि आज दुर्जय तथा शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज मुझसे पहलेकी तरह प्रसन्नतापूर्वक बोलते क्यों नहीं हैं ? ॥ ३ ॥

मन्युर्न च त्वया कार्यो देवि ब्रूमि तवाग्रतः ।
यास्यामि भव सुप्रीता वनं चीरजटाधरः ॥ ४ ॥

'देवि ! मैं तुम्हारे सामने ऐसी बात पूछ रहा हूँ, इसलिये तुम्हें क्रोध नहीं करना चाहिये । निश्चय चीर और जटा धारण करके मैं वनको चला जाऊँगा, तुम प्रसन्न रहो ॥ ४ ॥

हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥ ५ ॥

'राजा मेरे हितैषी, गुरु, पिता और कृतज्ञ हैं । इनकी आज्ञा होनेपर मैं इनका कौन-सा ऐसा प्रिय कार्य है, जिसे निःशङ्क होकर न कर सकूँ ? ॥ ५ ॥

अलीकं मानसं त्वेकं हृदयं दहते मम ।
स्वयं यन्नाह मां राजा भरतस्याभिषेचनम् ॥ ६ ॥

'किंतु मेरे मनको एक ही हार्दिक दुःख अधिक जला रहा है कि स्वयं महाराजने मुझसे भरतके अभिषेककी बात नहीं कही ॥ ६ ॥

अहं हि सीतां राज्यं च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्यां भरताय प्रचोदितः ॥ ७ ॥

'मैं केवल तुम्हारे कहनेसे भी अपने भाई भरतके लिये इस राज्यको, सीताको, प्यारे प्राणोंको तथा सारी सम्पत्तिको भी प्रसन्नतापूर्वक स्वयं ही दे सकता हूँ ॥ ७ ॥

किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥ ८ ॥

'फिर यदि स्वयं महाराज—मेरे पिताजी आज्ञा दें और वह भी तुम्हारा प्रिय कार्य करनेके लिये, तो मैं प्रतिज्ञाका पालन करते हुए उस कार्यको क्यों नहीं करूँगा ? ॥ ८ ॥

तथाश्वासय ह्रीमन्तं किं त्विदं यन्महीपतिः ।
वसुधासक्तनयनो मन्दमश्रूणि मुञ्चति ॥ ९ ॥

'तुम मेरी ओरसे विश्वास दिलाकर इन लज्जाशील महाराजको आश्वासन दो । ये पृथ्वीनाथ पृथ्वीकी ओर दृष्टि किये धीरे-धीरे आँसू क्यों बहा रहे हैं ? ॥ ९ ॥

गच्छन्तु चैवानयितुं दूताः शीघ्रजवैर्हयैः ।
भरतं मातुलकुलादद्यैव नृपशासनात् ॥ १० ॥

'आज ही महाराजकी आज्ञासे दूत शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर भरतको मामाके यहाँसे बुलानेके लिये चले जायँ ॥

दण्डकारण्यमेषोऽहं गच्छाम्येव हि सत्वरः ।
अविचार्य पितुर्वाक्यं समा वस्तुं चतुर्दश ॥ ११ ॥

'मैं अभी पिताकी बातपर कोई विचार न करके चौदह वर्षोंतक वनमें रहनेके लिये तुरंत दण्डकारण्यको चला ही जाता हूँ ॥ ११ ॥

सा हृष्टा तस्य तद् वाक्यं श्रुत्वा रामस्य कैकयी।
प्रस्थानं श्रद्दधाना सा त्वरयामास राघवम् ॥ १२ ॥

श्रीरामकी वह बात सुनकर कैकेयी बहुत प्रसन्न हुई। उसे विश्वास हो गया कि ये वनको चले जायँगे। अतः श्रीरामको जल्दी जानेकी प्रेरणा देती हुई वह बोली—॥ १२ ॥

एवं भवतु यास्यन्ति दूताः शीघ्रजवैर्हयैः।
भरतं मातुलकुलादिहावर्तयितुं नराः ॥ १३ ॥

'तुम ठीक कहते हो, ऐसा ही होना चाहिये। भरतको मामाके यहाँसे बुला लानेके लिये दूतलोग शीघ्रगामी घोड़ोंपर सवार होकर अवश्य जायँगे ॥ १३ ॥

तव त्वहं क्षमं मन्ये नोत्सुकस्य विलम्बनम्।
राम तस्मादितः शीघ्रं वनं त्वं गन्तुमर्हसि ॥ १४ ॥

'परंतु राम! तुम वनमें जानेके लिये स्वयं ही उत्सुक जान पड़ते हो; अतः तुम्हारा विलम्ब करना मैं ठीक नहीं समझती। जितना शीघ्र सम्भव हो, तुम्हें यहाँसे वनको चल देना चाहिये ॥ १४ ॥

व्रीडान्वितः स्वयं यच्च नृपस्त्वां नाभिभाषते।
नैतत् किंचिन्नरश्रेष्ठ मन्युरेषोऽपनीयताम् ॥ १५ ॥

'नरश्रेष्ठ! राजा लज्जित होनेके कारण जो स्वयं तुमसे नहीं कहते हैं, यह कोई विचारणीय बात नहीं है। अतः इसका दुःख तुम अपने मनसे निकाल दो ॥ १५ ॥

यावत्त्वं न वनं यातः पुरादस्मादतित्वरम्।
पिता तावन्न ते राम स्नास्यते भोक्ष्यतेऽपि वा॥ १६ ॥

'श्रीराम! तुम जबतक अत्यन्त उतावलीके साथ इस नगरसे वनको नहीं चले जाते, तबतक तुम्हारे पिता स्नान अथवा भोजन नहीं करेंगे' ॥ १६ ॥

धिक्कष्टमिति निःश्वस्य राजा शोकपरिप्लुतः।
मूर्च्छितो न्यपतत् तस्मिन् पर्यङ्के हेमभूषिते ॥ १७ ॥

कैकेयीकी यह बात सुनकर शोकमें डूबे हुए राजा दशरथ लंबी साँस खींचकर बोले—'धिक्कार है! हाय! बड़ा कष्ट हुआ!' इतना कहकर वे मूर्च्छित हो उस सुवर्णभूषित पलंगपर गिर पड़े ॥ १७ ॥

रामोऽप्युत्थाप्य राजानं कैकेय्याभिप्रचोदितः।
कशयेव हतो वाजी वनं गन्तुं कृतत्वरः ॥ १८ ॥

उस समय श्रीरामने राजाको उठाकर बैठा दिया और कैकेयीसे प्रेरित हो कोड़ेकी चोट खाये हुए घोड़ेकी भाँति वे शीघ्रतापूर्वक वनको जानेके लिये उतावले हो उठे ॥ १८ ॥

तदप्रियमनार्याया वचनं दारुणोदयम्।
श्रुत्वा गतव्यथो रामः कैकेयीं वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

अनार्या कैकेयीके उस अप्रिय एवं दारुण वचनको सुनकर भी श्रीरामके मनमें व्यथा नहीं हुई। वे कैकेयीसे बोले—॥ १९ ॥

नाहमर्थपरो देवि लोकमावस्तुमुत्सहे।
विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं विमलं धर्ममास्थितम् ॥ २० ॥

'देवि! मैं धनका उपासक होकर संसारमें नहीं रहना चाहता। तुम विश्वास रखो! मैंने भी ऋषियोंकी ही भाँति निर्मल धर्मका आश्रय ले रखा है ॥ २० ॥

यत् तत्रभवतः किंचिच्छक्यं कर्तुं प्रियं मया।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥ २१ ॥

'पूज्य पिताजीका जो भी प्रिय कार्य मैं कर सकता हूँ, उसे प्राण देकर भी करूँगा। तुम उसे सर्वथा मेरे द्वारा हुआ ही समझो ॥ २१ ॥

न ह्यतो धर्मचरणं किंचिदस्ति महत्तरम्।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥ २२ ॥

'पिताकी सेवा अथवा उनकी आज्ञाका पालन करना, जैसा महत्त्वपूर्ण धर्म है, उससे बढ़कर संसारमें दूसरा कोई धर्माचरण नहीं है ॥ २२ ॥

अनुक्तोऽप्यत्रभवता भवत्या वचनादहम्।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥ २३ ॥

'यद्यपि पूज्य पिताजीने स्वयं मुझसे नहीं कहा है, तथापि मैं तुम्हारे ही कहनेसे चौदह वर्षोंतक इस भूतलपर निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २३ ॥

न नूनं मयि कैकेयि किंचिदाशंससे गुणान्।
यद् राजानमवोचस्त्वं ममेश्वरतरा सती ॥ २४ ॥

'कैकेयि! तुम्हारा मुझपर पूरा अधिकार है। मैं तुम्हारी प्रत्येक आज्ञाका पालन कर सकता हूँ; फिर भी तुमने स्वयं मुझसे न कहकर इस कार्यके लिये महाराजसे कहा—इनको कष्ट दिया। इससे जान पड़ता है कि तुम मुझमें कोई गुण नहीं देखती हो ॥ २४ ॥

यावन्मातरमापृच्छे सीतां चानुनयाम्यहम्।
ततोऽद्यैव गमिष्यामि दण्डकानां महद् वनम् ॥ २५ ॥

'अच्छा! अब मैं माता कौसल्यासे आज्ञा ले लूँ और सीताको भी समझा-बुझा लूँ, इसके बाद आज ही विशाल दण्डक-वनकी यात्रा करूँगा ॥ २५ ॥

भरतः पालयेद् राज्यं शुश्रूषेच्च पितुर्यथा।
तथा भवत्या कर्तव्यं स हि धर्मः सनातनः ॥ २६ ॥

'तुम ऐसा प्रयत्न करना, जिससे भरत इस राज्यका पालन और पिताजीकी सेवा करते रहें; क्योंकि यही सनातन धर्म है' ॥ २६ ॥

रामस्य तु वचः श्रुत्वा भृशं दुःखगतः पिता।
शोकादशक्नुवन् वक्तुं प्ररुरोद महास्वनम् ॥ २७ ॥

श्रीरामका यह वचन सुनकर पिताको बहुत दुःख हुआ। वे शोकके आवेगसे कुछ बोल न सके, केवल फूट-फूटकर रोने लगे॥

वन्दित्वा चरणौ राज्ञो विसंज्ञस्य पितुस्तदा।
कैकेय्याश्चाप्यनार्याया निष्पपात महाद्युतिः॥ २८॥

महातेजस्वी श्रीराम उस समय अचेत पड़े हुए पिता महाराज दशरथ तथा अनार्या कैकेयीके भी चरणोंमें प्रणाम करके उस भवनसे निकले॥ २८॥

स रामः पितरं कृत्वा कैकेयीं च प्रदक्षिणम्।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्मात् स्वं ददर्श सुहृज्जनम्॥ २९॥

पिता दशरथ और माता कैकेयीकी परिक्रमा करके उस अन्तःपुरसे बाहर निकलकर श्रीराम अपने सुहृदोंसे मिले॥

तं बाष्पपरिपूर्णाक्षः पृष्ठतोऽनुजगाम ह।
लक्ष्मणः परमक्रुद्धः सुमित्रानन्दवर्धनः॥ ३०॥

सुमित्राका आनन्द बढ़ानेवाले लक्ष्मण उस अन्यायको देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे थे, तथापि दोनों नेत्रोंमें आँसू भरकर वे चुपचाप श्रीरामचन्द्रजीके पीछे-पीछे चले गये॥

आभिषेचनिकं भाण्डं कृत्वा रामः प्रदक्षिणम्।
शनैर्जगाम सापेक्षो दृष्टिं तत्राविचालयन्॥ ३१॥

श्रीरामचन्द्रजीके मनमें अब वन जानेकी आकाङ्क्षाका उदय हो गया था, अतः अभिषेकके लिये एकत्र की हुई सामग्रियोंकी प्रदक्षिणा करते हुए वे धीरे-धीरे आगे बढ़ गये। उनकी ओर उन्होंने दृष्टिपात नहीं किया॥ ३१॥

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षयः॥ ३२॥

श्रीराम अविनाशी कान्तिसे युक्त थे, इसलिये उस समय राज्यका न मिलना उन लोककमनीय श्रीरामकी महती शोभामें कोई अन्तर न डाल सका; जैसे चन्द्रमाका क्षीण होना उसकी सहज शोभाका अपकर्ष नहीं कर पाता है॥ ३२॥

न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुंधराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया॥ ३३॥

वे वनमें जानेको उत्सुक थे और सारी पृथ्वीका राज्य छोड़ रहे थे; फिर भी उनके चित्तमें सर्वलोकातीत जीवन्मुक्त महात्माकी भाँति कोई विकार नहीं देखा गया॥ ३३॥

प्रतिषिध्य शुभं छत्रं व्यजने च स्वलंकृते।
विसर्जयित्वा स्वजनं रथं पौरांस्तथा जनान्॥ ३४॥
धारयन् मनसा दुःखमिन्द्रियाणि निगृह्य च।
प्रविवेशात्मवान् वेश्म मातुरप्रियशंसिवान्॥ ३५॥

श्रीरामने अपने ऊपर सुन्दर छत्र लगानेकी मनाही कर दी। डुलाये जानेवाले सुसज्जित चँवर भी रोक दिये। वे रथको लौटाकर स्वजनों तथा पुरवासी मनुष्योंको भी बिदा करके (आत्मीय जनोंके दुःखसे होनेवाले) दुःखको मनमें ही दबाकर इन्द्रियोंको काबूमें करके यह अप्रिय समाचार सुनानेके लिये माता कौसल्याके महलमें गये। उस समय उन्होंने मनको पूर्णतः वशमें कर रखा था॥ ३४-३५॥

सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमाञ्श्रीमतः सत्यवादिनः।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने॥ ३६॥

जो शोभाशाली मनुष्य सदा सत्यवादी श्रीमान् रामके निकट रहा करते थे, उन्होंने भी उनके मुखपर कोई विकार नहीं देखा॥ ३६॥

उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान्।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम्॥ ३७॥

मनको वशमें रखनेवाले महाबाहु श्रीरामने अपनी स्वाभाविक प्रसन्नता उसी तरह नहीं छोड़ी थी, जैसे शरद्कालका उद्दीप्त किरणोंवाला चन्द्रमा अपने सहज तेजका परित्याग नहीं करता है॥ ३७॥

वाचा मधुरया रामः सर्वं सम्मानयञ्जनम्।
मातुः समीपं धर्मात्मा प्रविवेश महायशाः॥ ३८॥

महायशस्वी धर्मात्मा श्रीराम मधुर वाणीसे सब लोगोंका सम्मान करते हुए अपनी माताके समीप गये॥ ३८॥

तं गुणैः समतां प्राप्तो भ्राता विपुलविक्रमः।
सौमित्रिरनुवव्राज धारयन् दुःखमात्मजम्॥ ३९॥

उस समय गुणोंमें श्रीरामकी ही समानता करनेवाले महापराक्रमी भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मण भी अपने मानसिक दुःखको मनमें ही धारण किये हुए श्रीरामके पीछे-पीछे गये॥

प्रविश्य वेश्मातिभृशं मुदा युतं
समीक्ष्य तां चार्थविपत्तिमागताम्।
न चैव रामोऽत्र जगाम विक्रियां
सुहृज्जनस्यात्मविपत्तिशङ्कया॥ ४०॥

अत्यन्त आनन्दसे भरे हुए उस भवनमें प्रवेश करके लौकिक दृष्टिसे अपने अभीष्ट अर्थका विनाश हुआ देखकर भी हितैषी सुहृदोंके प्राणोंपर संकट आ जानेकी आशङ्कासे श्रीरामने यहाँ अपने मुखपर कोई विकार नहीं प्रकट होने दिया॥ ४०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनविंशः सर्गः॥ १९॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उन्नीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ १९॥

विंशः सर्गः

राजा दशरथकी अन्य रानियोंका विलाप, श्रीरामका कौसल्याजीके भवनमें जाना और उन्हें अपने वनवासकी बात बताना, कौसल्याका अचेत होकर गिरना और श्रीरामके उठा देनेपर उनकी ओर देखकर विलाप करना

तस्मिंस्तु पुरुषव्याघ्रे निष्क्रामति कृताञ्जलौ।
आर्तशब्दो महान् जज्ञे स्त्रीणामन्तःपुरे तदा ॥ १ ॥

उधर पुरुषसिंह श्रीराम हाथ जोड़े हुए ज्यों ही कैकेयीके महलसे बाहर निकलने लगे, त्यों ही अन्तःपुरमें रहनेवाली राजमहिलाओंका महान् आर्तनाद प्रकट हुआ ॥ १ ॥

कृत्येष्वचोदितः पित्रा सर्वस्यान्तःपुरस्य च।
गतिश्च शरणं चासीत् स रामोऽद्य प्रवत्स्यति ॥ २ ॥

वे कह रही थीं—'हाय! जो पिताके आज्ञा न देनेपर भी समस्त अन्तःपुरके आवश्यक कार्योंमें स्वतः संलग्न रहते थे, जो हमलोगोंके सहारे और रक्षक थे, वे श्रीराम आज वनको चले जायँगे ॥ २ ॥

कौसल्यायां यथा युक्तो जनन्यां वर्तते सदा।
तथैव वर्ततेऽस्मासु जन्मप्रभृति राघवः ॥ ३ ॥

'वे रघुनाथजी जन्मसे ही अपनी माता कौसल्याके प्रति सदा जैसा बर्ताव करते थे, वैसा ही हमारे साथ भी करते थे ॥ ३ ॥

न क्रुध्यत्यभिशप्तोऽपि क्रोधनीयानि वर्जयन्।
क्रुद्धान् प्रसादयन् सर्वान् स इतोऽद्य प्रवत्स्यति ॥

'जो कठोर बात कह देनेपर भी कुपित नहीं होते थे, दूसरोंके मनमें क्रोध उत्पन्न करनेवाली बातें नहीं बोलते थे तथा जो सभी रूठे हुए व्यक्तियोंको मना लिया करते थे, वे ही श्रीराम आज यहाँसे वनको चले जायँगे ॥ ४ ॥

अबुद्धिर्बत नो राजा जीवलोकं चरत्ययम्।
यो गतिं सर्वभूतानां परित्यजति राघवम् ॥ ५ ॥

'बड़े खेदकी बात है कि हमारे महाराजकी बुद्धि मारी गयी। ये इस समय सम्पूर्ण जीव-जगत्का विनाश करनेपर तुले हुए हैं, तभी तो ये समस्त प्राणियोंके जीवनाधार श्रीरामका परित्याग कर रहे हैं' ॥ ५ ॥

इति सर्वा महिष्यस्ता विवत्सा इव धेनवः।
पतिमाचुक्रुशुश्चापि सस्वनं चापि चुक्रुशुः ॥ ६ ॥

इस प्रकार समस्त रानियाँ अपने पतिको कोसने लगीं और बछड़ोंसे बिछुड़ी हुई गौओंकी तरह उच्च स्वरसे क्रन्दन करने लगीं ॥ ६ ॥

स हि चान्तःपुरे घोरमार्तशब्दं महीपतिः।
पुत्रशोकाभिसंतप्तः श्रुत्वा व्यालीयतासने ॥ ७ ॥

अन्तःपुरका वह भयङ्कर आर्तनाद सुनकर महाराज दशरथने पुत्रशोकसे संतप्त हो लज्जाके मारे बिछौनेमें ही अपनेको छिपा लिया ॥ ७ ॥

रामस्तु भृशमायस्तो निःश्वसन्निव कुञ्जरः।
जगाम सहितो भ्रात्रा मातुरन्तःपुरं वशी ॥ ८ ॥

इधर जितेन्द्रिय श्रीरामचन्द्रजी स्वजनोंके दुःखसे अधिक खिन्न होकर हाथीके समान लंबी साँस खींचते हुए भाई लक्ष्मणके साथ माताके अन्तःपुरमें गये ॥ ८ ॥

सोऽपश्यत् पुरुषं तत्र वृद्धं परमपूजितम्।
उपविष्टं गृहद्वारि तिष्ठतश्चापरान् बहून् ॥ ९ ॥

वहाँ उन्होंने उस घरके दरवाजेपर एक परम पूजित वृद्ध पुरुषको बैठा हुआ देखा और दूसरे भी बहुत-से मनुष्य वहाँ खड़े दिखायी दिये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वैव तु तदा रामं ते सर्वे समुपस्थिताः।
जयेन जयतां श्रेष्ठं वर्धयन्ति स्म राघवम् ॥ १० ॥

वे सब-के-सब विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ रघुनन्दन श्रीरामको देखते ही जय-जयकार करते हुए उनकी सेवामें उपस्थित हुए और उन्हें बधाई देने लगे ॥ १० ॥

प्रविश्य प्रथमां कक्ष्यां द्वितीयायां ददर्श सः।
ब्राह्मणान् वेदसम्पन्नान् वृद्धान् राज्ञाभिसत्कृतान् ॥

पहली ड्योढ़ी पार करके जब वे दूसरीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें राजाके द्वारा सम्मानित बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण दिखायी दिये ॥ ११ ॥

प्रणम्य रामस्तान् वृद्धांस्तृतीयायां ददर्श सः।
स्त्रियो बालाश्च वृद्धाश्च द्वाररक्षणतत्पराः ॥ १२ ॥

उन वृद्ध ब्राह्मणोंको प्रणाम करके श्रीरामचन्द्रजी जब तीसरी ड्योढ़ीमें पहुँचे, तब वहाँ उन्हें द्वाररक्षाके कार्यमें लगी हुई बहुत-सी नववयस्का एवं वृद्ध अवस्थावाली स्त्रियाँ दिखायी दीं ॥ १२ ॥

वर्धयित्वा प्रहृष्टास्ताः प्रविश्य च गृहं स्त्रियः।
न्यवेदयन्त त्वरितं राममातुः प्रियं तदा ॥ १३ ॥

उन्हें देखकर उन स्त्रियोंको बड़ा हर्ष हुआ। श्रीरामको बधाई देकर उन स्त्रियोंने तत्काल महलके भीतर प्रवेश किया और तुरंत ही श्रीरामचन्द्रजीकी माताको उनके आगमनका प्रिय समाचार सुनाया ॥ १३ ॥

कौसल्यापि तदा देवी रात्रिं स्थित्वा समाहिता।
प्रभाते चाकरोत् पूजां विष्णोः पुत्रहितैषिणी ॥ १४ ॥

उस समय देवी कौसल्या पुत्रकी मङ्गलकामनासे रातभर जागकर सवेरे एकाग्रचित्त हो भगवान् विष्णुकी पूजा कर रही थीं ॥ १४ ॥

सा क्षौमवसना हृष्टा नित्यं व्रतपरायणा ।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला ॥ १५ ॥

वे रेशमी वस्त्र पहनकर बड़ी प्रसन्नताके साथ निरन्तर व्रतपरायण होकर मङ्गलकृत्य पूर्ण करनेके पश्चात् मन्त्रोच्चारण-पूर्वक उस समय अग्निमें आहुति दे रही थीं ॥ १५ ॥

प्रविश्य तु तदा रामो मातुरन्तःपुरं शुभम् ।
ददर्श मातरं तत्र हावयन्तीं हुताशनम् ॥ १६ ॥

उसी समय श्रीरामने माताके शुभ अन्तःपुरमें प्रवेश करके वहाँ माताको देखा । वे अग्निमें हवन करा रही थीं ॥ १६ ॥

देवकार्यनिमित्तं च तत्रापश्यत् समुद्यतम् ।
दध्यक्षतघृतं चैव मोदकान् हविषस्तथा ॥ १७ ॥
लाजान् माल्यानि शुक्लानि पायसं कृसरं तथा ।
समिधः पूर्णकुम्भांश्च ददर्श रघुनन्दनः ॥ १८ ॥

रघुनन्दनने देखा तो वहाँ देव-कार्यके लिये बहुत-सी सामग्री संग्रह करके रखी हुई है । दही, अक्षत, घी, मोदक, हविष्य, धानका लावा, सफेद माला, खीर, खिचड़ी, समिधा और भरे हुए कलश—ये सब वहाँ दृष्टिगोचर हुए ॥ १७-१८ ॥

तां शुक्लक्षौमसंवीतां व्रतयोगेन कर्शिताम् ।
तर्पयन्तीं ददर्शाद्भिर्देवतां वरवर्णिनीम् ॥ १९ ॥

उत्तम कान्तिवाली माता कौसल्या सफेद रंगकी रेशमी साड़ी पहने हुए थीं । वे व्रतके अनुष्ठानसे दुर्बल हो गयी थीं और इष्टदेवताका तर्पण कर रही थीं । इस अवस्थामें श्रीरामने उन्हें देखा ॥ १९ ॥

सा चिरस्यात्मजं दृष्ट्वा मातृनन्दनमागतम् ।
अभिचक्राम संहृष्टा किशोरं वडवा यथा ॥ २० ॥

माताका आनन्द बढ़ानेवाले प्रिय पुत्रको बहुत देरके बाद सामने उपस्थित देख कौसल्यादेवी बड़े हर्षमें भरकर उसकी ओर चलीं, मानो कोई घोड़ी अपने बछेड़ेको देखकर बड़े हर्षसे उसके पास आयी हो ॥ २० ॥

स मातरमुपक्रान्तामुपसंगृह्य राघवः ।
परिष्वक्तश्च बाहुभ्यामवघ्रातश्च मूर्धनि ॥ २१ ॥

श्रीरघुनाथजीने निकट आयी हुई माताके चरणोंमें प्रणाम किया और माता कौसल्याने उन्हें दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया तथा बड़े प्यारसे उनका मस्तक सूँघा ॥ २१ ॥

तमुवाच दुराधर्षं राघवं सुतमात्मनः ।
कौसल्या पुत्रवात्सल्यादिदं प्रियहितं वचः ॥ २२ ॥

उस समय कौसल्यादेवीने अपने दुर्जय पुत्र श्रीरामचन्द्रजीसे पुत्रस्नेहवश यह प्रिय एवं हितकर बात कही— ॥ २२ ॥

वृद्धानां धर्मशीलानां राजर्षीणां महात्मनाम् ।
प्राप्नुह्यायुश्च कीर्तिं च धर्मं चाप्युचितं कुले ॥ २३ ॥

'बेटा ! तुम धर्मशील, वृद्ध एवं महात्मा राजर्षियोंके समान आयु, कीर्ति और कुलोचित धर्म प्राप्त करो ॥ २३ ॥

सत्यप्रतिज्ञं पितरं राजानं पश्य राघव ।
अद्यैव त्वां स धर्मात्मा यौवराज्येऽभिषेक्ष्यति ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! अब तुम जाकर अपने सत्यप्रतिज्ञ पिता राजाका दर्शन करो । वे धर्मात्मा नरेश आज ही तुम्हारा युवराजके पदपर अभिषेक करेंगे' ॥ २४ ॥

दत्तमासनमालभ्य भोजनेन निमन्त्रितः ।
मातरं राघवः किंचित् प्रसार्याञ्जलिमब्रवीत् ॥ २५ ॥

यह कहकर माताने उन्हें बैठनेके लिये आसन दिया और भोजन करनेको कहा । भोजनके लिये निमन्त्रित होकर श्रीरामने उस आसनका स्पर्शमात्र कर लिया । फिर वे अञ्जलि फैलाकर मातासे कुछ कहनेको उद्यत हुए ॥ २५ ॥

स स्वभावविनीतश्च गौरवाच्च तथानतः ।
प्रस्थितो दण्डकारण्यमाप्रष्टुमुपचक्रमे ॥ २६ ॥

वे स्वभावसे ही विनयशील थे तथा माताके गौरवसे भी उनके सामने नत-मस्तक हो गये थे । उन्हें दण्डकारण्यको प्रस्थान करना था; अतः वे उसके लिये आज्ञा लेनेका उपक्रम करने लगे ॥ २६ ॥

देवि नूनं न जानीषे महद् भयमुपस्थितम् ।
इदं तव च दुःखाय वैदेह्या लक्ष्मणस्य च ॥ २७ ॥

उन्होंने कहा—'देवि ! निश्चय ही तुम्हें मालूम नहीं है, तुम्हारे ऊपर महान् भय उपस्थित हो गया है । इस समय मैं जो बात कहने जा रहा हूँ, उसे सुनकर तुमको, सीताको और लक्ष्मणको भी दुःख होगा; तथापि कहूँगा ॥ २७ ॥

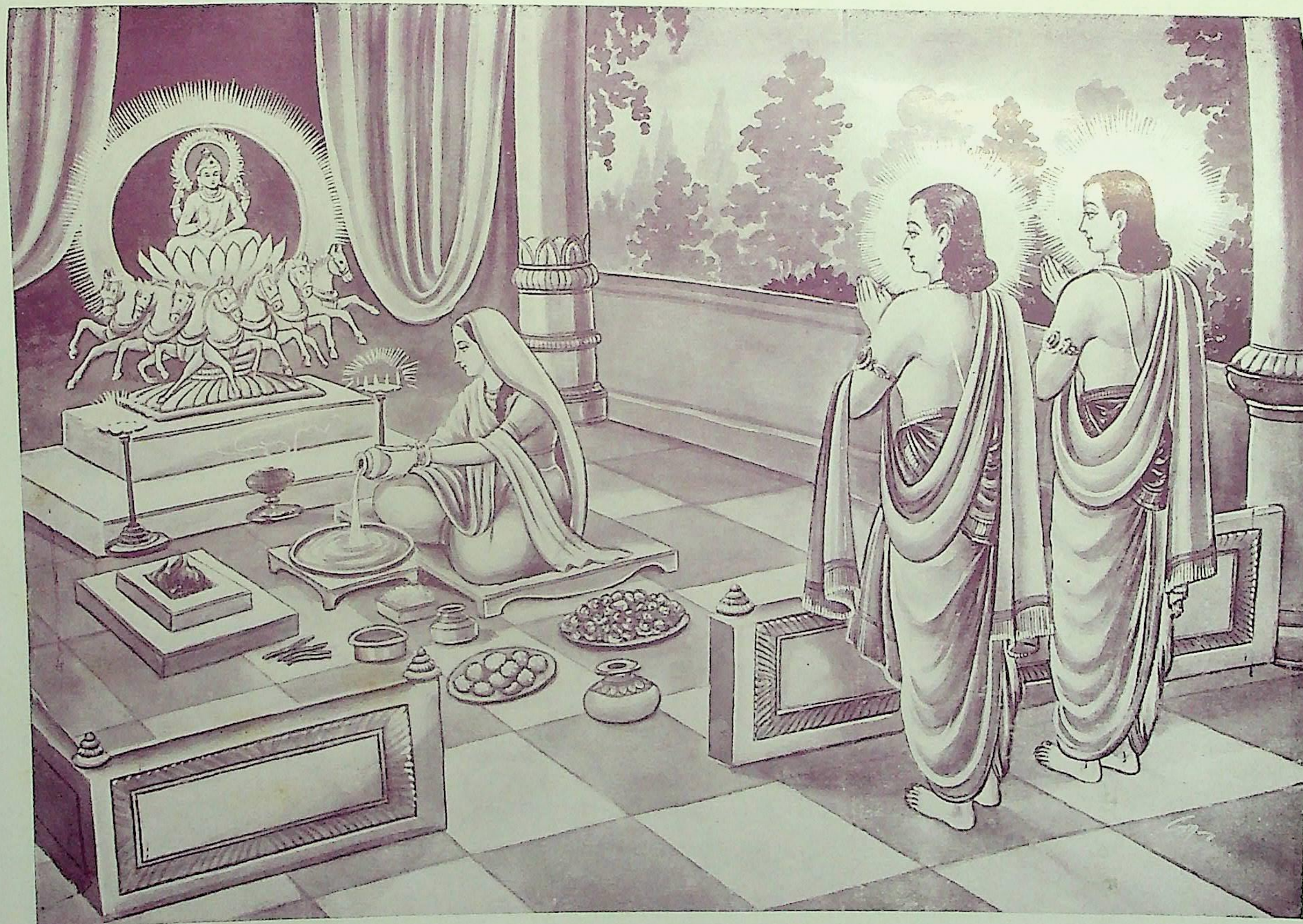
गमिष्ये दण्डकारण्यं किमनेनासनेन मे ।
विष्टरासनयोग्यो हि कालोऽयं मामुपस्थितः ॥ २८ ॥

'अब तो मैं दण्डकारण्यमें जाऊँगा, अतः ऐसे बहुमूल्य आसनकी मुझे क्या आवश्यकता है ? अब मेरे लिये यह कुशकी चटाईपर बैठनेका समय आया है ॥ २८ ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।
कन्दमूलफलैर्जीवन् हित्वा मुनिवदामिषम् ॥ २९ ॥

'मैं राजभोग्य वस्तुका त्याग करके मुनिकी भाँति कन्द, मूल और फलोंसे जीवन-निर्वाह करता हुआ चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें निवास करूँगा ॥ २९ ॥

भरताय महाराजो यौवराज्यं प्रयच्छति ।
मां पुनर्दण्डकारण्यं विवासयति तापसम् ॥ ३० ॥



पूजन करती हुई माता कौसल्यासे विदाई माँगते हुए राम

'महाराज युवराजका पद भरतको दे रहे हैं और मुझे तपस्वी बनाकर दण्डकारण्यमें भेज रहे हैं ॥ ३० ॥

स षट् चाष्टौ च वर्षाणि वत्स्यामि विजने वने ।
आसेवमानो वन्यानि फलमूलैश्च वर्तयन् ॥ ३१ ॥

'अतः चौदह वर्षोंतक निर्जन वनमें रहूँगा और जंगलमें सुलभ होनेवाले वल्कल आदिको धारण करके फल-मूलके आहारसे ही जीवन-निर्वाह करता रहूँगा' ॥ ३१ ॥

सा निकृत्तेव सालस्य यष्टिः परशुना वने ।
पपात सहसा देवी देवतेव दिवश्च्युता ॥ ३२ ॥

यह अप्रिय बात सुनकर वनमें फरसेसे काटी हुई शालवृक्षकी शाखाके समान कौसल्या देवी सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ीं, मानो स्वर्गसे कोई देवाङ्गना भूतलपर आ गिरी हो ॥ ३२ ॥

तामदुःखोचितां दृष्ट्वा पतितां कदलीमिव ।
रामस्तूत्थापयामास मातरं गतचेतसम् ॥ ३३ ॥

जिन्होंने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा था—जो दुःख भोगनेके योग्य थीं ही नहीं, उन्हीं माता कौसल्याको कटी हुई कदलीकी भाँति अचेत अवस्थामें भूमिपर पड़ी देख श्रीरामने हाथका सहारा देकर उठाया ॥ ३३ ॥

उपावृत्योत्थितां दीनां वडवामिव वाहिताम् ।
पांसुगुण्ठितसर्वाङ्गीं विममर्श च पाणिना ॥ ३४ ॥

जैसे कोई घोड़ी पहले बड़ा भारी बोझ ढो चुकी हो और थकावट दूर करनेके लिये धरतीपर लोट-पोटकर उठी हो, उसी तरह उठी हुई कौसल्याजीके समस्त अङ्गोंमें धूल लिपट गयी थी और वे अत्यन्त दीन दशाको पहुँच गयी थीं । उस अवस्थामें श्रीरामने अपने हाथसे उनके अङ्गोंकी धूल पोंछी ॥ ३४ ॥

सा राघवमुपासीनमसुखार्ता सुखोचिता ।
उवाच पुरुषव्याघ्रमुपशृण्वति लक्ष्मणे ॥ ३५ ॥

कौसल्याजीने जीवनमें पहले सदा सुख ही देखा था और उसीके योग्य थीं, परंतु उस समय वे दुःखसे कातर हो उठी थीं । उन्होंने लक्ष्मणके सुनते हुए अपने पास बैठे पुरुषसिंह श्रीरामसे इस प्रकार कहा—॥ ३५ ॥

यदि पुत्र न जायेथा मम शोकाय राघव ।
न स्म दुःखमतो भूयः पश्येयमहमप्रजाः ॥ ३६ ॥

'बेटा रघुनन्दन ! यदि तुम्हारा जन्म न हुआ होता तो मुझे इस एक ही बातका शोक रहता । आज जो मुझपर इतना भारी दुःख आ पड़ा है, इसे वन्ध्या होनेपर मुझे नहीं देखना पड़ता ॥ ३६ ॥

एक एव हि वन्ध्यायाः शोको भवति मानसः ।
अप्रजास्मीति संतापो न ह्यन्यः पुत्र विद्यते ॥ ३७ ॥

'बेटा ! वन्ध्याको एक मानसिक शोक होता है । उसके मनमें यह संताप बना रहता है कि मुझे कोई संतान नहीं है, इसके सिवा दूसरा कोई दुःख उसे नहीं होता ॥ ३७ ॥

न दृष्टपूर्वं कल्याणं सुखं वा पतिपौरुषे ।
अपि पुत्रे विपश्येयमिति रामास्थितं मया ॥ ३८ ॥

'बेटा राम ! पतिके प्रभुत्वकालमें एक ज्येष्ठ पत्नीको जो कल्याण या सुख प्राप्त होना चाहिये, वह मुझे पहले कभी नहीं देखनेको मिला । सोचती थी, पुत्रके राज्यमें मैं सब सुख देख लूँगी और इसी आशासे मैं अबतक जीती रही ॥ ३८ ॥

सा बहून्यमनोज्ञानि वाक्यानि हृदयच्छिदाम् ।
अहं श्रोष्ये सपत्नीनामवराणां परा सती ॥ ३९ ॥

'बड़ी रानी होकर भी मुझे अपनी बातोंसे हृदयको विदीर्ण कर देनेवाली छोटी सौतोंके बहुत-से अप्रिय वचन सुनने पड़ेंगे ॥ ३९ ॥

अतो दुःखतरं किं नु प्रमदानां भविष्यति ।
मम शोको विलापश्च यादृशोऽयमनन्तकः ॥ ४० ॥

'स्त्रियोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा; अतः मेरा शोक और विलाप जैसा है, उसका कभी अन्त नहीं है ॥ ४० ॥

त्वयि संनिहितेऽप्येवमहमासं निराकृता ।
किं पुनः प्रोषिते तात ध्रुवं मरणमेव हि ॥ ४१ ॥

'तात ! तुम्हारे निकट रहनेपर भी मैं इस प्रकार सौतोंसे तिरस्कृत रही हूँ, फिर तुम्हारे परदेश चले जानेपर मेरी क्या दशा होगी ? उस दशामें तो मेरा मरण ही निश्चित है ॥ ४१ ॥

अत्यन्तं निगृहीतास्मि भर्तुर्नित्यमसम्मता ।
परिवारेण कैकेय्याः समा वाप्यथवावरा ॥ ४२ ॥

'पतिकी ओरसे मुझे सदा अत्यन्त तिरस्कार अथवा कड़ी फटकार ही मिली है, कभी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त हुआ है । मैं कैकेयीकी दासियोंके बराबर अथवा उनसे भी गयी-बीती समझी जाती हूँ ॥ ४२ ॥

यो हि मां सेवते कश्चिदपि वाप्यनुवर्तते ।
कैकेय्याः पुत्रमन्वीक्ष्य स जनो नाभिभाषते ॥ ४३ ॥

'जो कोई मेरी सेवामें रहता या मेरा अनुसरण करता है, वह भी कैकेयीके बेटेको देखकर चुप हो जाता है, मुझसे बात नहीं करता है ॥ ४३ ॥

नित्यक्रोधतया तस्याः कथं नु खरवादि तत् ।
कैकेय्या वदनं द्रष्टुं पुत्र शक्ष्यामि दुर्गता ॥ ४४ ॥

'बेटा ! इस दुर्गतिमें पड़कर मैं सदा क्रोधी स्वभावके कारण कटुवचन बोलनेवाले उस कैकेयीके मुखको कैसे देख सकूँगी ॥ ४४ ॥

दश सप्त च वर्षाणि जातस्य तव राघव।
अतीतानि प्रकाङ्क्षन्त्या मया दुःखपरिक्षयम् ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन! तुम्हारे उपनयनरूप द्वितीय जन्म लिये सत्रह वर्ष बीत गये (अर्थात् तुम अब सत्ताईस वर्षके हो गये)। अबतक मैं यही आशा लगाये चली आ रही थी कि अब मेरा दुःख दूर हो जायगा ॥ ४५ ॥

तदक्षयं महद्दुःखं नोत्सहे सहितुं चिरात्।
विप्रकारं सपत्नीनामेवं जीर्णापि राघव ॥ ४६ ॥

'राघव! अब इस बुढ़ापेमें इस तरह सौतोंका तिरस्कार और उससे होनेवाले महान् अक्षय दुःखको मैं अधिक कालतक नहीं सह सकती ॥ ४६ ॥

अपश्यन्ती तव मुखं परिपूर्णशशिप्रभम्।
कृपणा वर्तयिष्यामि कथं कृपणजीविका ॥ ४७ ॥

'पूर्ण चन्द्रमाके समान तुम्हारे मनोहर मुखको देखे बिना मैं दुःखिनी दयनीय जीवनवृत्तिसे रहकर कैसे निर्वाह करूँगी ॥

उपवासैश्च योगैश्च बहुभिश्च परिश्रमैः।
दुःखसंवर्धितो मोघं त्वं हि दुर्गतया मया ॥ ४८ ॥

'बेटा! (यदि तुझे इस देशसे निकल ही जाना है तो) मुझ भाग्यहीनाने बारंबार उपवास, देवताओंका ध्यान तथा बहुत-से परिश्रमजनक उपाय करके व्यर्थ ही तुम्हारा इतने कष्टसे पालन-पोषण किया है ॥ ४८ ॥

स्थिरं नु हृदयं मन्ये ममेदं यन्न दीर्यते।
प्रावृषीव महानद्याः स्पृष्टं कूलं नवाम्भसा ॥ ४९ ॥

'मैं समझती हूँ कि निश्चय ही यह मेरा हृदय बड़ा कठोर है, जो तुम्हारे बिछोहकी बात सुनकर भी वर्षाकालके नूतन जलके प्रवाहसे टकराये हुए महानदीके कगारकी भाँति फट नहीं जाता है ॥ ४९ ॥

ममैव नूनं मरणं न विद्यते
न चावकाशोऽस्ति यमक्षये मम।
यदन्तकोऽद्यैव न मां जिहीर्षति
प्रसह्य सिंहो रुदतीं मृगीमिव ॥ ५० ॥

'निश्चय ही मेरे लिये कहीं मौत नहीं है, यमराजके घरमें भी मेरे लिये जगह नहीं है, तभी तो जैसे किसी रोती हुई मृगीको सिंह जबरदस्ती उठा ले जाता है, उसी प्रकार यमराज मुझे आज ही उठा ले जाना नहीं चाहता है ॥ ५० ॥

स्थिरं हि नूनं हृदयं ममायसं
न भिद्यते यद् भुवि नो विदीर्यते।
अनेन दुःखेन च देहमर्पितं
ध्रुवं ह्यकाले मरणं न विद्यते ॥ ५१ ॥

'अवश्य ही मेरा कठोर हृदय लोहेका बना हुआ है, जो पृथिवीपर पड़नेपर भी न तो फटता है और न टूक-टूक हो जाता है। इसी दुःखसे व्याप्त हुए इस शरीरके भी टुकड़े-टुकड़े नहीं हो जाते हैं। निश्चय ही, मृत्युकाल आये बिना किसीका मरण नहीं होता है ॥ ५१ ॥

इदं तु दुःखं यदनर्थकानि मे
व्रतानि दानानि च संयमाश्च हि।
तपश्च तप्तं यदपत्यकाम्यया
सुनिष्फलं बीजमिवोप्तमूषरे ॥ ५२ ॥

'सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि पुत्रके सुखके लिये मेरे द्वारा किये गये व्रत, दान और संयम सब व्यर्थ हो गये। मैंने संतानकी हित-कामनासे जो तप किया है, वह भी ऊसरमें बोये हुए बीजकी भाँति निष्फल हो गया ॥ ५२ ॥

यदि ह्यकाले मरणं यदृच्छया
लभेत कश्चिद् गुरुदुःखकर्शितः।
गताहमद्यैव परेतसंसदं
विना त्वया धेनुरिवात्मजेन वै ॥ ५३ ॥

'यदि कोई मनुष्य भारी दुःखसे पीड़ित हो असमयमें भी अपनी इच्छाके अनुसार मृत्यु पा सके तो मैं तुम्हारे बिना अपने बछड़ेसे बिछुड़ी हुई गायकी भाँति आज ही यमराजकी सभामें चली जाऊँ ॥ ५३ ॥

अथापि किं जीवितमद्य मे वृथा
त्वया विना चन्द्रनिभाननप्रभ।
अनुव्रजिष्यामि वनं त्वयैव गौः
सुदुर्बला वत्समिवाभिकाङ्क्षया ॥ ५४ ॥

'चन्द्रमाके समान मनोहर मुख-कान्तिवाले श्रीराम! यदि मेरी मृत्यु नहीं होती है तो तुम्हारे बिना यहाँ व्यर्थ कुत्सित जीवन क्यों बिताऊँ? बेटा! जैसे गौ दुर्बल होनेपर भी अपने बछड़ेके लोभसे उसके पीछे-पीछे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चली चलूँगी' ॥ ५४ ॥

भृशमसुखममर्षिता तदा बहु
विललाप समीक्ष्य राघवम्।
व्यसनमुपनिशाम्य सा महत्
सुतमिव बद्धमवेक्ष्य किंनरी ॥ ५५ ॥

आनेवाले भारी दुःखको सहनेमें असमर्थ हो महान् संकटका विचार करके सत्यके ध्यानमें बँधे हुए अपने पुत्र श्रीरघुनाथजीकी ओर देखकर माता कौसल्या उस समय बहुत विलाप करने लगीं, मानो कोई किन्नरी अपने पुत्रको बन्धनमें पड़ा हुआ देखकर बिलख रही हो ॥ ५५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे विंशः सर्गः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २० ॥

एकविंशः सर्गः

लक्ष्मणका रोष, उनका श्रीरामको बलपूर्वक राज्यपर अधिकार कर लेनेके लिये प्रेरित करना तथा श्रीरामका पिताकी आज्ञाके पालनको ही धर्म बताकर माता और लक्ष्मणको समझाना

तथा तु विलपन्तीं तां कौसल्यां राममातरम्।
उवाच लक्ष्मणो दीनस्तत्कालसदृशं वचः॥ १॥

इस प्रकार विलाप करती हुई श्रीराममाता कौसल्यासे अत्यन्त दुखी हुए लक्ष्मणने उस समयके योग्य बात कही—॥

न रोचते ममाप्येतदार्ये यद् राघवो वनम्।
त्यक्त्वा राज्यश्रियं गच्छेत् स्त्रिया वाक्यवशं गतः॥ २॥
विपरीतश्च वृद्धश्च विषयैश्च प्रधर्षितः।
नृपः किमिव न ब्रूयाच्चोद्यमानः समन्मथः॥ ३॥

'बड़ी माँ! मुझे भी यह अच्छा नहीं लगता कि श्रीराम राज्यलक्ष्मीका परित्याग करके वनमें जायँ। महाराज तो इस समय स्त्रीकी बातमें आ गये हैं, इसलिये उनकी प्रकृति विपरीत हो गयी है। एक तो वे बूढ़े हैं, दूसरे विषयोंने उन्हें वशमें कर लिया है; अतः कामदेवके वशीभूत हुए वे नरेश कैकेयी-जैसी स्त्रीकी प्रेरणासे क्या नहीं कह सकते हैं?॥ २-३॥

नास्यापराधं पश्यामि नापि दोषं तथाविधम्।
येन निर्वास्यते राष्ट्राद् वनवासाय राघवः॥ ४॥

'मैं श्रीरघुनाथजीका ऐसा कोई अपराध या दोष नहीं देखता, जिससे इन्हें राज्यसे निकाला जाय और वनमें रहनेके लिये विवश किया जाय॥ ४॥

न तं पश्याम्यहं लोके परोक्षमपि यो नरः।
स्वमित्रोऽपि निरस्तोऽपि योऽस्य दोषमुदाहरेत्॥ ५॥

'मैं संसारमें एक मनुष्यको भी ऐसा नहीं देखता, जो अत्यन्त शत्रु एवं तिरस्कृत होनेपर भी परोक्षमें भी इनका कोई दोष बता सके॥ ५॥

देवकल्पमृजुं दान्तं रिपूणामपि वत्सलम्।
अवेक्षमाणः को धर्मं त्यजेत् पुत्रमकारणात्॥ ६॥

'धर्मपर दृष्टि रखनेवाला कौन ऐसा राजा होगा, जो देवताके समान शुद्ध, सरल, जितेन्द्रिय और शत्रुओंपर भी स्नेह रखनेवाले (श्रीराम-जैसे) पुत्रका अकारण परित्याग करेगा?॥ ६॥

तदिदं वचनं राज्ञः पुनर्बाल्यमुपेयुषः।
पुत्रः को हृदये कुर्याद् राजवृत्तमनुस्मरन्॥ ७॥

'जो पुनः बालभाव (विवेकशून्यता) को प्राप्त हो गये हैं, ऐसे राजाके इस वचनको राजनीतिका ध्यान रखनेवाला कौन पुत्र अपने हृदयमें स्थान दे सकता है?॥ ७॥

यावदेव न जानाति कश्चिदर्थमिमं नरः।
तावदेव मया सार्धमात्मस्थं कुरु शासनम्॥ ८॥

'रघुनन्दन! जबतक कोई भी मनुष्य आपके वनवासकी बातको नहीं जानता है, तबतक ही, आप मेरी सहायतासे इस राज्यके शासनकी बागडोर अपने हाथमें ले लीजिये॥ ८॥

मया पार्श्वे सधनुषा तव गुप्तस्य राघव।
कः समर्थोऽधिकं कर्तुं कृतान्तस्येव तिष्ठतः॥ ९॥

'रघुवीर! जब मैं धनुष लिये आपके पास रहकर आपकी रक्षा करता रहूँ और आप कालके समान युद्धके लिये डट जायँ, उस समय आपसे अधिक पौरुष प्रकट करनेमें कौन समर्थ हो सकता है?॥ ९॥

निर्मनुष्यामिमां सर्वामयोध्यां मनुजर्षभ।
करिष्यामि शरैस्तीक्ष्णैर्यदि स्थास्यति विप्रिये॥ १०॥

'नरश्रेष्ठ! यदि नगरके लोग विरोधमें खड़े होंगे तो मैं अपने तीखे बाणोंसे सारी अयोध्याको मनुष्योंसे सूनी कर दूँगा॥ १०॥

भरतस्याथ पक्ष्यो वा यो वास्य हितमिच्छति।
सर्वांस्तांश्च वधिष्यामि मृदुर्हि परिभूयते॥ ११॥

'जो-जो भरतका पक्ष लेगा अथवा केवल जो उन्हींका हित चाहेगा, उन सबका मैं वध कर डालूँगा; क्योंकि जो कोमल या नम्र होता है, उसका सभी तिरस्कार करते हैं॥ ११॥

प्रोत्साहितोऽयं कैकेय्या संतुष्टो यदि नः पिता।
अमित्रभूतो निःसङ्गं वध्यतां बध्यतामपि॥ १२॥

'यदि कैकेयीके प्रोत्साहन देनेपर उसके ऊपर संतुष्ट हो पिताजी हमारे शत्रु बन रहे हैं तो हमें भी मोह-ममता छोड़कर इन्हें कैद कर लेना या मार डालना चाहिये॥ १२॥

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथं प्रतिपन्नस्य कार्यं भवति शासनम्॥ १३॥

'क्योंकि यदि गुरु भी घमंडमें आकर कर्तव्या-कर्तव्यका ज्ञान खो बैठे और कुमार्गपर चलने लगे तो उसे भी दण्ड देना आवश्यक हो जाता है॥ १३॥

बलमेष किमाश्रित्य हेतुं वा पुरुषोत्तम।
दातुमिच्छति कैकेय्यै उपस्थितमिदं तव॥ १४॥

'पुरुषोत्तम! राजा किस बलका सहारा लेकर अथवा किस कारणको सामने रखकर आपको न्यायतः प्राप्त हुआ यह राज्य अब कैकेयीको देना चाहते हैं?॥ १४॥

त्वया चैव मया चैव कृत्वा वैरमनुत्तमम्।
कास्य शक्तिः श्रियं दातुं भरतायारिशासन॥ १५॥

'शत्रुदमन श्रीराम ! आपके और मेरे साथ भारी वैर बाँधकर इनकी क्या शक्ति है कि यह राज्यलक्ष्मी ये भरतको दे दें ? ॥ १५ ॥

अनुरक्तोऽस्मि भावेन भ्रातरं देवि तत्त्वतः ।
सत्येन धनुषा चैव दत्तेनेष्टेन ते शपे ॥ १६ ॥

'देवि ! (बड़ी माँ !) मैं सत्य, धनुष, दान तथा यज्ञ आदिकी शपथ खाकर तुमसे सच्ची बात कहता हूँ कि मेरा अपने पूज्य भ्राता श्रीराममें हार्दिक अनुराग है ॥

दीप्तमग्निमरण्यं वा यदि रामः प्रवेक्ष्यति ।
प्रविष्टं तत्र मां देवि त्वं पूर्वमवधारय ॥ १७ ॥

'देवि ! आप विश्वास रक्खें, यदि श्रीराम जलती हुई आगमें या घोर वनमें प्रवेश करनेवाले होंगे तो मैं इनसे भी पहले उसमें प्रविष्ट हो जाऊँगा ॥ १७ ॥

हरामि वीर्याद् दुःखं ते तमः सूर्य इवोदितः ।
देवी पश्यतु मे वीर्यं राघवश्चैव पश्यतु ॥ १८ ॥

'इस समय आप, रघुनाथजी तथा अन्य सब लोग भी मेरे पराक्रमको देखें । जैसे सूर्य उदित होकर अन्धकारका नाश कर देता है, उसी प्रकार मैं भी अपनी शक्तिसे आपके सब दुःख दूर कर दूँगा ॥ १८ ॥

हनिष्ये पितरं वृद्धं कैकेय्यासक्तमानसम् ।
कृपणं च स्थितं बाल्ये वृद्धभावेन गर्हितम् ॥ १९ ॥

'जो कैकेयीमें आसक्तचित्त होकर दीन बन गये हैं, बालभाव (अविवेक) में स्थित हैं और अधिक बुढ़ापेके कारण निन्दित हो रहे हैं, उन वृद्ध पिताको मैं अवश्य मार डालूँगा' ॥ १९ ॥

एतत् तु वचनं श्रुत्वा लक्ष्मणस्य महात्मनः ।
उवाच रामं कौसल्या रुदती शोकलालसा ॥ २० ॥

महामनस्वी लक्ष्मणके ये ओजस्वी वचन सुनकर शोक-मग्न कौसल्या श्रीरामसे रोती हुई बोलीं—॥ २० ॥

भ्रातुस्ते वदतः पुत्र लक्ष्मणस्य श्रुतं त्वया ।
यदत्रानन्तरं तत्त्वं कुरुष्व यदि रोचते ॥ २१ ॥

'बेटा ! तुमने अपने भाई लक्ष्मणकी कही हुई सारी बातें सुन लीं, यदि जँचे तो अब इसके बाद तुम जो कुछ करना उचित समझो, उसे करो ॥ २१ ॥

न चाधर्म्यं वचः श्रुत्वा सपत्न्या मम भाषितम् ।
विहाय शोकसंतप्तां गन्तुमर्हसि मामितः ॥ २२ ॥

'मेरी सौतकी कही हुई अधर्मयुक्त बात सुनकर मुझ शोकसे संतप्त हुई माताको छोड़कर तुम्हें यहाँसे नहीं जाना चाहिये ॥ २२ ॥

धर्मज्ञ इति धर्मिष्ठ धर्मं चरितुमिच्छसि ।
शुश्रूष मामिहस्थस्त्वं चर धर्ममनुत्तमम् ॥ २३ ॥

'धर्मिष्ठ ! तुम धर्मको जाननेवाले हो, इसलिये यदि धर्मका पालन करना चाहो तो यहीं रहकर मेरी सेवा करो और इस प्रकार परम उत्तम धर्मका आचरण करो ॥

शुश्रूषुर्जननीं पुत्र स्वगृहे नियतो वसन् ।
परेण तपसा युक्तः काश्यपस्त्रिदिवं गतः ॥ २४ ॥

'वत्स ! अपने घरमें नियमपूर्वक रहकर माताकी सेवा करनेवाले काश्यप उत्तम तपस्यासे युक्त हो स्वर्गलोकमें चले गये थे ॥ २४ ॥

यथैव राजा पूज्यस्ते गौरवेण तथा ह्यहम् ।
त्वां साहं नानुजानामि न गन्तव्यमितो वनम् ॥ २५ ॥

'जैसे गौरवके कारण राजा तुम्हारे पूज्य हैं, उसी प्रकार मैं भी हूँ । मैं तुम्हें वन जानेकी आज्ञा नहीं देती, अतः तुम्हें यहाँसे वनको नहीं जाना चाहिये ॥ २५ ॥

त्वद्वियोगान्न मे कार्यं जीवितेन सुखेन च ।
त्वया सह मम श्रेयस्तृणानामपि भक्षणम् ॥ २६ ॥

'तुम्हारे साथ तिनके चबाकर रहना भी मेरे लिये श्रेयस्कर है, परंतु तुमसे विलग हो जानेपर न मुझे इस जीवनसे कोई प्रयोजन है और न सुखसे ॥ २६ ॥

यदि त्वं यास्यसि वनं त्यक्त्वा मां शोकलालसाम् ।
अहं प्रायमिहासिष्ये न च शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ २७ ॥

'यदि तुम मुझे शोकमें डूबी हुई छोड़कर वनको चले जाओगे तो मैं उपवास करके प्राण त्याग दूँगी, जीवित नहीं रह सकूँगी ॥ २७ ॥

ततस्त्वं प्राप्स्यसे पुत्र निरयं लोकविश्रुतम् ।
ब्रह्महत्यामिवाधर्मात् समुद्रः सरितां पतिः ॥ २८ ॥

'बेटा ! ऐसा होनेपर तुम संसारप्रसिद्ध वह नरकतुल्य कष्ट पाओगे, जो ब्रह्महत्याके समान है और जिसे सरिताओंके स्वामी समुद्रने अपने अधर्मके फलरूपसे प्राप्त किया था'* ॥

विलपन्तीं तथा दीनां कौसल्यां जननीं ततः ।
उवाच रामो धर्मात्मा वचनं धर्मसंहितम् ॥ २९ ॥

माता कौसल्याको इस प्रकार दीन होकर विलाप करती देख धर्मात्मा श्रीरामचन्द्रने यह धर्मयुक्त वचन कहा—॥ २९ ॥

नास्ति शक्तिः पितुर्वाक्यं समतिक्रमितुं मम ।
प्रसादये त्वां शिरसा गन्तुमिच्छाम्यहं वनम् ॥ ३० ॥

'माता ! मैं तुम्हारे चरणोंमें सिर झुकाकर तुम्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ । मुझमें पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन करनेकी शक्ति नहीं है, अतः मैं वनको ही जाना चाहता हूँ ॥ ३० ॥

* किसी कल्पमें समुद्रने अपनी माताको दुःख दिया था, उससे पिप्पलाद नामक ब्रह्मर्षिने उस अधर्मका दण्ड देनेके लिये उसके ऊपर एक कृत्याका प्रयोग किया । इससे समुद्रको नरकवास-तुल्य महान् दुःख भोगना पड़ा था ।

ऋषिणा च पितुर्वाक्यं कुर्वता वनचारिणा।
गौर्हता जानताधर्मं कण्डुना च विपश्चिता ॥ ३१ ॥

'वनवासी विद्वान् कण्डु मुनिने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये अधर्म समझते हुए भी गौका वध कर डाला था ॥ ३१ ॥

अस्माकं तु कुले पूर्वं सगरस्याज्ञया पितुः।
खनद्भिः सागरैर्भूमिमवाप्तः सुमहान् वधः ॥ ३२ ॥

'हमारे कुलमें भी पहले राजा सगरके पुत्र ऐसे हो गये हैं, जो पिताकी आज्ञासे पृथ्वी खोदते हुए बुरी तरहसे मारे गये ॥ ३२ ॥

जामदग्न्येन रामेण रेणुका जननी स्वयम्।
कृत्ता परशुनारण्ये पितुर्वचनकारणात् ॥ ३३ ॥

'जमदग्निके पुत्र परशुरामने पिताकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही वनमें फरसेसे अपनी माता रेणुकाका गला काट डाला था ॥ ३३ ॥

एतैरन्यैश्च बहुभिर्देवि देवसमैः कृतम्।
पितुर्वचनमक्लीबं करिष्यामि पितुर्हितम् ॥ ३४ ॥

'देवि ! इन्होंने तथा और भी बहुत-से देवतुल्य मनुष्योंने उत्साहके साथ पिताके आदेशका पालन किया है। अतः मैं भी कायरता छोड़कर पिताका हित-साधन करूँगा ॥ ३४ ॥

न खल्वेतन्मयैकेन क्रियते पितृशासनम्।
एतैरपि कृतं देवि ये मया परिकीर्तिताः ॥ ३५ ॥

'देवि ! केवल मैं ही इस प्रकार पिताके आदेशका पालन नहीं कर रहा हूँ। जिनकी मैंने अभी चर्चा की है, उन सबने भी पिताके आदेशका पालन किया है ॥ ३५ ॥

नाहं धर्ममपूर्वं ते प्रतिकूलं प्रवर्तये।
पूर्वैरयमभिप्रेतो गतो मार्गोऽनुगम्यते ॥ ३६ ॥

'मा ! मैं तुम्हारे प्रतिकूल किसी नवीन धर्मका प्रचार नहीं कर रहा हूँ। पूर्वकालके धर्मात्मा पुरुषोंको भी यह अभीष्ट था। मैं तो उनके चले हुए मार्गका ही अनुसरण करता हूँ ॥ ३६ ॥

तदेतत् तु मया कार्यं क्रियते भुवि नान्यथा।
पितुर्हि वचनं कुर्वन् न कश्चिन्नाम हीयते ॥ ३७ ॥

'इस भूमण्डलपर जो सबके लिये करने योग्य है, वही मैं भी करने जा रहा हूँ। इसके विपरीत कोई न करने योग्य काम नहीं कर रहा हूँ। पिताकी आज्ञाका पालन करनेवाला कोई भी पुरुष धर्मसे भ्रष्ट नहीं होता' ॥ ३७ ॥

तामेवमुक्त्वा जननीं लक्ष्मणं पुनरब्रवीत्।
वाक्यं वाक्यविदां श्रेष्ठः श्रेष्ठः सर्वधनुष्मताम् ॥ ३८ ॥

अपनी मातासे ऐसा कहकर वाक्यवेत्ताओंमें श्रेष्ठ समस्त धनुर्धरशिरोमणि श्रीरामने पुनः लक्ष्मणसे कहा— ॥

तव लक्ष्मण जानामि मयि स्नेहमनुत्तमम्।
विक्रमं चैव सत्त्वं च तेजश्च सुदुरासदम् ॥ ३९ ॥

'लक्ष्मण ! मेरे प्रति तुम्हारा जो परम उत्तम स्नेह है, उसे मैं जानता हूँ। तुम्हारे पराक्रम, धैर्य और दुर्धर्ष तेजका भी मुझे ज्ञान है ॥ ३९ ॥

मम मातुर्महद् दुःखमतुलं शुभलक्षण।
अभिप्रायं न विज्ञाय सत्यस्य च शमस्य च ॥ ४० ॥

'शुभलक्षण लक्ष्मण ! मेरी माताको जो अनुपम एवं महान् दुःख हो रहा है, वह सत्य और शमके विषयमें मेरे अभिप्रायको न समझनेके कारण है ॥ ४० ॥

धर्मो हि परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम् ॥ ४१ ॥

'संसारमें धर्म ही सबसे श्रेष्ठ है। धर्ममें ही सत्यकी प्रतिष्ठा है। पिताजीका यह वचन भी धर्मके आश्रित होनेके कारण परम उत्तम है ॥ ४१ ॥

संश्रुत्य च पितुर्वाक्यं मातुर्वा ब्राह्मणस्य वा।
न कर्तव्यं वृथा वीर धर्ममाश्रित्य तिष्ठता ॥ ४२ ॥

'वीर ! धर्मका आश्रय लेकर रहनेवाले पुरुषको पिता, माता अथवा ब्राह्मणके वचनोंका पालन करनेकी प्रतिज्ञा करके उसे मिथ्या नहीं करना चाहिये ॥ ४२ ॥

सोऽहं न शक्ष्यामि पुनर्नियोगमतिवर्तितुम्।
पितुर्हि वचनाद् वीर कैकेय्याहं प्रचोदितः ॥ ४३ ॥

'वीर ! अतः मैं पिताजीकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता; क्योंकि पिताजीके कहनेसे ही कैकेयीने मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दी है ॥ ४३ ॥

तदेतां विसृजानार्यां क्षत्रधर्माश्रितां मतिम्।
धर्ममाश्रय मा तैक्ष्ण्यं मद्बुद्धिरनुगम्यताम् ॥ ४४ ॥

'इसलिये केवल क्षात्रधर्मका अवलम्बन करनेवाली इस ओछी बुद्धिका त्याग करो, धर्मका आश्रय लो, कठोरता छोड़ो और मेरे विचारके अनुसार चलो' ॥ ४४ ॥

तमेवमुक्त्वा सौहार्दाद् भ्रातरं लक्ष्मणाग्रजः।
उवाच भूयः कौसल्यां प्राञ्जलिः शिरसा नतः ॥ ४५ ॥

अपने भाई लक्ष्मणसे सौहार्दवश ऐसी बात कहकर उनके बड़े भ्राता श्रीरामने पुनः कौसल्याके चरणोंमें मस्तक झुकाया और हाथ जोड़कर कहा— ॥ ४५ ॥

अनुमन्यस्व मां देवि गमिष्यन्तमितो वनम्।
शापितासि मम प्राणैः कुरु स्वस्त्ययनानि मे ॥ ४६ ॥

'देवि ! मैं यहाँसे वनको जाऊँगा। तुम मुझे आज्ञा दो और स्वस्तिवाचन कराओ। यह बात मैं अपने प्राणोंकी शपथ दिलाकर कहता हूँ ॥ ४६ ॥

तीर्णप्रतिज्ञश्च वनात् पुनरेष्याम्यहं पुरीम् ।
ययातिरिव राजर्षिः पुरा हित्वा पुनर्दिवम् ॥ ४७ ॥

'जैसे पूर्वकालमें राजर्षि ययाति स्वर्गलोकका त्याग करके पुनः भूतलपर उतर आये थे, उसी प्रकार मैं भी प्रतिज्ञा पूर्ण करके पुनः वनसे अयोध्यापुरीको लौट आऊँगा ॥ ४७ ॥

शोकः संधार्यतां मातर्हृदये साधु मा शुचः ।
वनवासादिहैष्यामि पुनः कृत्वा पितुर्वचः ॥ ४८ ॥

'मा ! शोकको अपने हृदयमें ही अच्छी तरह दबाये रक्खो । शोक न करो । पिताकी आज्ञाका पालन करके मैं फिर वनवाससे यहाँ लौट आऊँगा ॥ ४८ ॥

त्वया मया च वैदेह्या लक्ष्मणेन सुमित्रया ।
पितुर्नियोगे स्थातव्यमेष धर्मः सनातनः ॥ ४९ ॥

'तुमको, मुझको, सीताको, लक्ष्मणको और माता सुमित्राको भी पिताजीकी आज्ञामें ही रहना चाहिये । यही सनातन धर्म है ॥ ४९ ॥

अम्ब सम्भृत्य सम्भारान् दुःखं हृदि निगृह्य च ।
वनवासकृता बुद्धिर्मम धर्म्यानुवर्त्यताम् ॥ ५० ॥

'मा ! यह अभिषेककी सामग्री ले जाकर रख दो । अपने मनका दुःख मनमें ही दबा लो और वनवासके सम्बन्धमें जो मेरा धर्मानुकूल विचार है, उसका अनुसरण करो—मुझे जानेकी आज्ञा दो' ॥ ५० ॥

एतद् वचस्तस्य निशम्य माता
सुधर्म्यमव्यग्रमविक्लवं च ।
मृतेव संज्ञां प्रतिलभ्य देवी
समीक्ष्य रामं पुनरित्युवाच ॥ ५१ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह धर्मानुकूल तथा व्यग्रता और आकुलतासे रहित बात सुनकर जैसे मरे हुए मनुष्यमें प्राण आ जाय, उसी प्रकार देवी कौसल्या मूर्च्छा त्यागकर होशमें आ गयीं तथा अपने पुत्र श्रीरामकी ओर देखकर इस प्रकार कहने लगीं—॥ ५१ ॥

यथैव ते पुत्र पिता तथाहं
गुरुः स्वधर्मेण सुहृत्तया च ।
न त्वानुजानामि न मां विहाय
सुदुःखितामर्हसि पुत्र गन्तुम् ॥ ५२ ॥

'बेटा ! धर्म और सौहार्दके नाते जैसे पिता तुम्हारे लिये आदरणीय गुरुजन हैं, वैसी ही मैं भी हूँ ! मैं तुम्हें वनमें जानेकी आज्ञा नहीं देती । वत्स ! मुझ दुखियाको छोड़कर तुम्हें कहीं नहीं जाना चाहिये ॥ ५२ ॥

किं जीवितेनेह विना त्वया मे
लोकेन वा किं स्वधयामृतेन ।
श्रेयो मुहूर्तं तव संनिधानं
ममैव कृत्स्नादपि जीवलोकात् ॥ ५३ ॥

'तुम्हारे बिना मुझे यहाँ इस जीवनसे क्या लाभ है ? इन स्वजनोंसे, देवता तथा पितरोंकी पूजासे और अमृतसे भी क्या लेना है ? तुम दो घड़ी भी मेरे पास रहो तो वही मेरे लिये सम्पूर्ण संसारके राज्यसे भी बढ़कर सुख देनेवाला है' ॥

नरैरिवोल्काभिरपोह्यमानो
महागजो ध्वान्तमभिप्रविष्टः ।
भूयः प्रजज्वाल विलापमेवं
निशम्य रामः करुणं जनन्याः ॥ ५४ ॥

जैसे कोई विशाल गजराज किसी अन्धकूपमें पड़ जाय और लोग उसे जलते लुआठोंसे मार-मारकर पीड़ित करने लगें, उस दशामें वह क्रोधसे जल उठे; उसी प्रकार श्रीराम भी माताका बारंबार करुण-विलाप सुनकर (इसे स्वधर्म-पालनमें बाधा मानकर) आवेशमें भर गये (वनमें जानेका ही दृढ़ निश्चय कर लिया) ॥ ५४ ॥

स मातरं चैव विसंज्ञकल्पा-
मार्तं च सौमित्रिमभिप्रतप्तम् ।
धर्मे स्थितो धर्म्यमुवाच वाक्यं
यथा स एवार्हति तत्र वक्तुम् ॥ ५५ ॥

उन्होंने धर्ममें ही दृढ़तापूर्वक स्थित रहकर अचेत-सी हो रही मातासे और आर्त एवं संतप्त हुए सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे भी ऐसी धर्मानुकूल बात कही, जैसी उस अवसरपर वे ही कह सकते थे ॥ ५५ ॥

अहं हि ते लक्ष्मण नित्यमेव
जानामि भक्तिं च पराक्रमं च ।
मम त्वभिप्रायमसंनिरीक्ष्य
मात्रा सहाभ्यर्दसि मा सुदुःखम् ॥ ५६ ॥

'लक्ष्मण ! मैं जानता हूँ, तुम सदा ही मुझमें भक्ति रखते हो और तुम्हारा पराक्रम कितना महान् है, यह भी मुझसे छिपा नहीं है; तथापि तुम मेरे अभिप्रायकी ओर ध्यान न देकर माताजीके साथ स्वयं भी मुझे पीड़ा दे रहे हो । इस तरह मुझे अत्यन्त दुःखमें न डालो ॥ ५६ ॥

धर्मार्थकामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये तत्र सर्वे स्युरसंशयं मे
भार्येव वश्याभिमता सपुत्रा ॥ ५७ ॥

'इस जीवजगत्में पूर्वकृत धर्मके फलकी प्राप्तिके अवसरोंपर जो धर्म, अर्थ और काम तीनों देखे गये हैं, वे सब-के-सब जहाँ धर्म है, वहाँ अवश्य प्राप्त होते हैं—इसमें संशय नहीं है; ठीक उसी तरह जैसे भार्या धर्म, अर्थ और काम तीनोंकी साधन होती है । वह पतिके वशीभूत या अनुकूल रहकर अतिथि-सत्कार आदि धर्मके पालनमें सहायक होती है । प्रेयसी

रूपसे कामका साधन बनती है और पुत्रवती होकर उत्तम लोककी प्राप्तिरूप अर्थकी साधिका होती है ॥ ५७ ॥

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसंनिविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता॥५८॥

'जिस कर्ममें धर्म आदि सब पुरुषार्थोंका समावेश न हो, उसको नहीं करना चाहिये। जिससे धर्मकी सिद्धि होती हो, उसीका आरम्भ करना चाहिये। जो केवल अर्थपरायण होता है, वह लोकमें सबके द्वेषका पात्र बन जाता है तथा धर्मविरुद्ध काममें अत्यन्त आसक्त होना प्रशंसा नहीं, निन्दाकी बात है॥

गुरुश्च राजा च पिता च वृद्धः
क्रोधात् प्रहर्षादथवापि कामात्।
यद् व्यादिशेत् कार्यमवेक्ष्य धर्मं
कस्तं न कुर्यादनृशंसवृत्तिः ॥ ५९ ॥

'महाराज हमलोगोंके गुरु, राजा और पिता होनेके साथ ही बड़े-बूढ़े माननीय पुरुष हैं। वे क्रोधसे, हर्षसे अथवा कामसे प्रेरित होकर भी यदि किसी कार्यके लिये आज्ञा दें तो हमें धर्म समझकर उसका पालन करना चाहिये। जिसके आचरणोंमें क्रूरता नहीं है, ऐसा कौन पुरुष पिताकी आज्ञाके पालनरूप धर्मका आचरण नहीं करेगा ॥ ५९ ॥

न तेन शक्नोमि पितुः प्रतिज्ञा-
मिमां न कर्तुं सकलां यथावत्।
स ह्यावयोस्तात गुरुर्नियोगे
देव्याश्च भर्ता स गतिश्च धर्मः ॥ ६० ॥

'इसलिये मैं पिताकी इस सम्पूर्ण प्रतिज्ञाका यथावत् पालन करनेसे मुँह नहीं मोड़ सकता। तात लक्ष्मण! वे हम दोनों-को आज्ञा देनेमें समर्थ गुरु हैं और माताजीके तो वे ही पति, गति तथा धर्म हैं ॥ ६० ॥

तस्मिन् पुनर्जीवति धर्मराजे
विशेषतः स्वे पथि वर्तमाने।
देवी मया सार्धमितोऽभिगच्छेत्
कथंस्विदन्या विधवेव नारी ॥ ६१ ॥

'वे धर्मके प्रवर्तक महाराज अभी जीवित हैं और विशेषतः अपने धर्ममय मार्गपर स्थित हैं, ऐसी दशामें माताजी, जैसे दूसरी कोई विधवा स्त्री बेटेके साथ रहती है, उस प्रकार मेरे साथ यहाँसे वनमें कैसे चल सकती हैं? ॥ ६१ ॥

सा मानुमन्यस्व वनं व्रजन्तं
कुरुष्व नः स्वस्त्ययनानि देवि।
यथा समाप्ते पुनरावजेयं
यथा हि सत्येन पुनर्ययातिः ॥ ६२ ॥

'अतः देवि! तुम मुझे वनमें जानेकी आज्ञा दो और हमारे मङ्गलके लिये स्वस्तिवाचन कराओ, जिससे वनवासकी अवधि समाप्त होनेपर मैं फिर तुम्हारी सेवामें आ जाऊँ। जैसे राजा ययाति सत्यके प्रभावसे फिर स्वर्गमें लौट आये थे॥

यशो ह्यहं केवलराज्यकारणा-
न्न पृष्ठतः कर्तुमलं महोदयम्।
अदीर्घकालेन तु देवि जीविते
वृणेऽवरामद्य महीमधर्मतः ॥ ६३ ॥

'केवल धर्महीन राज्यके लिये मैं महान् फलदायक धर्म-पालनरूप सुयशको पीछे नहीं ढकेल सकता। मा! जीवन अधिक कालतक रहनेवाला नहीं है; इसके लिये मैं आज अधर्मपूर्वक इस तुच्छ पृथ्वीका राज्य लेना नहीं चाहता' ॥

प्रसादयन्नरवृषभः स मातरं
पराक्रमाज्जिगमिषुरेव दण्डकान्।
अथानुजं भृशमनुशास्य दर्शनं
चकार तां हृदि जननीं प्रदक्षिणम्॥ ६४ ॥

इस प्रकार नरश्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने धैर्यपूर्वक दण्डकारण्य-में जानेकी इच्छासे माताको प्रसन्न करनेका प्रयत्न किया तथा अपने छोटे भाई लक्ष्मणको भी अपने विचारके अनुसार भलीभाँति धर्मका रहस्य समझाकर मन-ही-मन माताकी परिक्रमा करनेका संकल्प किया ॥ ६४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकविंशः सर्गः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इक्कीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २१ ॥

द्वाविंशः सर्गः

श्रीरामका लक्ष्मणको समझाते हुए अपने वनवासमें दैवको ही कारण बताना और अभिषेककी सामग्रीको हटा लेनेका आदेश देना

अथ तं व्यथया दीनं सविशेषममर्षितम्।
सरोषमिव नागेन्द्रं रोषविस्फारितेक्षणम् ॥ १ ॥
आसाद्य रामः सौमित्रिं सुहृदं भ्रातरं प्रियम्।
उवाचेदं स धैर्येण धारयन् सत्त्वमात्मवान् ॥ २ ॥

(श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण) सुमित्राकुमार लक्ष्मण मानसिक व्यथासे बहुत दुखी थे।

उनके मनमें विशेष अमर्ष भरा हुआ था। वे रोषसे भरे हुए गजराजकी भाँति क्रोधसे आँखें फाड़-फाड़कर देख रहे थे। अपने मनको वशमें रखनेवाले श्रीराम धैर्यपूर्वक चित्तको निर्विकाररूपसे काबूमें रखते हुए अपने हितैषी सुहृद् प्रिय भाई लक्ष्मणके पास जाकर इस प्रकार बोले—॥ १-२ ॥

निगृह्य रोषं शोकं च धैर्यमाश्रित्य केवलम्।
अवमानं निरस्यैनं गृहीत्वा हर्षमुत्तमम्॥ ३॥
उपक्लृप्तं यदेतन्मे अभिषेकार्थमुत्तमम्।
सर्वं निवर्तय क्षिप्रं कुरु कार्यं निरव्ययम्॥ ४॥

'लक्ष्मण! केवल धैर्यका आश्रय लेकर अपने मनके क्रोध और शोकको दूर करो, चित्तसे अपमानकी भावना निकाल दो और हृदयमें भलीभाँति हर्ष भरकर मेरे अभिषेकके लिये यह जो उत्तम सामग्री एकत्र की गयी है, इसे शीघ्र हटा दो और ऐसा कार्य करो, जिससे मेरे वनगमनमें बाधा उपस्थित न हो॥ ३-४॥

सौमित्रे योऽभिषेकार्थे मम सम्भारसम्भ्रमः।
अभिषेकनिवृत्त्यर्थे सोऽस्तु सम्भारसम्भ्रमः॥ ५॥

'सुमित्रानन्दन! अबतक अभिषेकके लिये सामग्री जुटानेमें जो तुम्हारा उत्साह था, वह इसे रोकने और मेरे वन जानेकी तैयारी करनेमें होना चाहिये॥ ५॥

यस्या मदभिषेकार्थे मानसं परितप्यते।
माता नः सा यथा न स्यात् सविशङ्का तथा कुरु॥ ६॥

'मेरे अभिषेकके कारण जिसके चित्तमें संताप हो रहा है, उस हमारी माता कैकेयीको जिससे किसी तरहकी शङ्का न रह जाय, वही काम करो॥ ६॥

तस्याः शङ्कामयं दुःखं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
मनसि प्रतिसंजातं सौमित्रेऽहमुपेक्षितुम्॥ ७॥

'लक्ष्मण! उसके मनमें संदेहके कारण दुःख उत्पन्न हो, इस बातको मैं दो घड़ीके लिये भी नहीं सह सकता और न इसकी उपेक्षा ही कर सकता हूँ॥ ७॥

न बुद्धिपूर्वं नाबुद्धं स्मरामीह कदाचन।
मातृणां वा पितुर्वाहं कृतमल्पं च विप्रियम्॥ ८॥

'मैंने यहाँ कभी जान-बूझकर या अनजानमें माताओंका अथवा पिताजीका कोई छोटा-सा भी अपराध किया हो, ऐसा याद नहीं आता॥ ८॥

सत्यः सत्याभिसंधश्च नित्यं सत्यपराक्रमः।
परलोकभयाद् भीतो निर्भयोऽस्तु पिता मम॥ ९॥

'पिताजी सदा सत्यवादी और सत्यपराक्रमी रहे हैं। वे परलोकके भयसे सदा डरते रहते हैं; इसलिये मुझे वही काम करना चाहिये, जिससे मेरे पिताजीका पारलौकिक भय दूर हो जाय॥ ९॥

तस्यापि हि भवेदस्मिन् कर्मण्यप्रतिसंहृते।
सत्यं नेति मनस्तापस्तस्य तापस्तपेच्च माम्॥ १०॥

'यदि इस अभिषेकसम्बन्धी कार्यको रोक नहीं दिया गया तो पिताजीको भी मन-ही-मन यह सोचकर संताप होगा कि मेरी बात सच्ची नहीं हुई और उनका वह मनस्ताप मुझे सदा संतप्त करता रहेगा॥ १०॥

अभिषेकविधानं तु तस्मात् संहृत्य लक्ष्मण।
अन्वगेवाहमिच्छामि वनं गन्तुमितः पुरः॥ ११॥

'लक्ष्मण! इन्हीं सब कारणोंसे मैं अपने अभिषेकका कार्य रोककर शीघ्र ही इस नगरसे वनको चला जाना चाहता हूँ॥

मम प्रव्राजनादद्य कृतकृत्या नृपात्मजा।
सुतं भरतमव्यग्रमभिषेचयतां ततः॥ १२॥

'आज मेरे चले जानेसे कृतकृत्य हुई राजकुमारी कैकेयी अपने पुत्र भरतका निर्भय एवं निश्चिन्त होकर अभिषेक करावे॥ १२॥

मयि चीराजिनधरे जटामण्डलधारिणि।
गतेऽरण्यं च कैकेय्या भविष्यति मनःसुखम्॥ १३॥

'मैं वल्कल और मृगचर्म धारण करके सिरपर जटाजूट बाँधे जब वनको चला जाऊँगा, तभी कैकेयीके मनको सुख प्राप्त होगा॥ १३॥

बुद्धिः प्रणीता येनेयं मनश्च सुसमाहितम्।
तं नु नार्हामि संक्लेष्टुं प्रव्रजिष्यामि मा चिरम्॥ १४॥

'जिस विधाताने कैकेयीको ऐसी बुद्धि प्रदान की है तथा जिसकी प्रेरणासे उसका मन मुझे वन भेजनेमें अत्यन्त दृढ़ हो गया है, उसे विफलमनोरथ करके कष्ट देना मेरे लिये उचित नहीं है॥ १४॥

कृतान्त एव सौमित्रे द्रष्टव्यो मत्प्रवासने।
राज्यस्य च वितीर्णस्य पुनरेव निवर्तने॥ १५॥

'सुमित्राकुमार! मेरे इस प्रवासमें तथा पिताद्वारा दिये हुए राज्यके फिर हाथसे निकल जानेमें दैवको ही कारण समझना चाहिये॥ १५॥

कैकेय्याः प्रतिपत्तिर्हि कथं स्यान्मम वेदने।
यदि तस्या न भावोऽयं कृतान्तविहितो भवेत्॥ १६॥

'मेरी समझसे कैकेयीका यह विपरीत मनोभाव दैवका ही विधान है। यदि ऐसा न होता तो वह मुझे वनमें भेजकर पीड़ा देनेका विचार क्यों करती॥ १६॥

जानासि हि यथा सौम्य न मातृषु ममान्तरम्।
भूतपूर्वं विशेषो वा तस्या मयि सुतेऽपि वा॥ १७॥

'सौम्य! तुम तो जानते ही हो कि मेरे मनमें पहले भी कभी माताओंके प्रति भेदभाव नहीं हुआ और कैकेयी भी पहले मुझमें या अपने पुत्रमें कोई अन्तर नहीं समझती थी॥

सोऽभिषेकनिवृत्त्यर्थैः प्रवासार्थैश्च दुर्वचैः।
उग्रैर्वाक्यैरहं तस्या नान्यद् दैवात् समर्थये॥ १८॥

'मेरे अभिषेकको रोकने और मुझे वनमें भेजनेके लिये उसने राजाको प्रेरित करनेके निमित्त जिन भयंकर और कटुवचनोंका प्रयोग किया है, उन्हें साधारण मनुष्योंके लिये भी मुँहसे निकालना कठिन है। उसकी ऐसी चेष्टामें मैं दैवके सिवा दूसरे किसी कारणका समर्थन नहीं करता॥ १८॥

कथं प्रकृतिसम्पन्ना राजपुत्री तथागुणा।
ब्रूयात् सा प्राकृतेव स्त्री मत्पीड्यं भर्तृसंनिधौ॥ १९॥

'यदि ऐसी बात न होती तो वैसे उत्तम स्वभाव और श्रेष्ठ गुणोंसे युक्त राजकुमारी कैकेयी एक साधारण स्त्रीकी भाँति अपने पतिके समीप मुझे पीड़ा देनेवाली बात कैसे कहती—मुझे कष्ट देनेके लिये रामको वनमें भेजनेका प्रस्ताव कैसे उपस्थित करती॥ १९॥

यदचिन्त्यं तु तद् दैवं भूतेष्वपि न हन्यते।
व्यक्तं मयि च तस्यां च पतितो हि विपर्ययः॥ २०॥

'जिसके विषयमें कभी कुछ सोचा न गया हो, वही दैवका विधान है। प्राणियोंमें अथवा उनके अधिष्ठाता देवताओंमें भी कोई ऐसा नहीं है, जो उस दैवके विधानको मेट सके; अतः निश्चय ही उसीकी प्रेरणासे मुझमें और कैकेयीमें यह भारी उलट-फेर हुआ है (मेरे हाथमें आया हुआ राज्य चला गया और कैकेयीकी बुद्धि बदल गयी)॥ २०॥

कश्च दैवेन सौमित्रे योद्धुमुत्सहते पुमान्।
यस्य नु ग्रहणं किंचित् कर्मणोऽन्यन्न दृश्यते॥ २१॥

'सुमित्रानन्दन! कर्मोंके सुख-दुःखादिरूप फल प्राप्त होनेपर ही जिसका ज्ञान होता है, कर्मफलसे अन्यत्र कहीं भी जिसका पता नहीं चलता, उस दैवके साथ कौन पुरुष युद्ध कर सकता है?॥ २१॥

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किंचित् तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २२॥

'सुख-दुःख, भय-क्रोध (क्षोभ), लाभ-हानि, उत्पत्ति और विनाश तथा इस प्रकारके और भी जितने परिणाम प्राप्त होते हैं, जिनका कोई कारण समझमें नहीं आता, वे सब दैवके ही कर्म हैं॥ २२॥

ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः॥२३॥

'उग्र तपस्वी ऋषि भी दैवसे प्रेरित होकर अपने तीव्र नियमोंको छोड़ बैठते और काम-क्रोधके द्वारा विवश हो मर्यादासे भ्रष्ट हो जाते हैं॥ २३॥

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत्॥ २४॥

'जो बात बिना सोचे-विचारे अकस्मात् सिरपर आ पड़ती है और प्रयत्नोंद्वारा आरम्भ किये हुए कार्यको रोककर एक नया ही काण्ड उपस्थित कर देती है, अवश्य वह दैवका ही विधान है॥ २४॥

एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते॥ २५॥

'इस तात्त्विक बुद्धिके द्वारा स्वयं ही मनको स्थिर कर लेनेके कारण मुझे अपने अभिषेकमें विघ्न पड़ जानेपर भी दुःख या संताप नहीं हो रहा है॥ २५॥

तस्मादपरितापः संस्त्वमप्यनुविधाय माम्।
प्रतिसंहारय क्षिप्रमाभिषेचनिकीं क्रियाम्॥ २६॥

'इसी प्रकार तुम भी मेरे विचारका अनुसरण करके संतापशून्य हो राज्याभिषेकके इस आयोजनको शीघ्र बंद करा दो॥ २६॥

एभिरेव घटैः सर्वैरभिषेचनसम्भृतैः।
मम लक्ष्मण तापस्ये व्रतस्नानं भविष्यति॥ २७॥

'लक्ष्मण! राज्याभिषेकके लिये सँजोकर रखे गये इन्हीं सब कलशोंद्वारा मेरा तापस-व्रतके संकल्पके लिये आवश्यक स्नान होगा॥ २७॥

अथवा किं ममैतेन राज्यद्रव्यमयेन तु।
उद्धृतं मे स्वयं तोयं व्रतादेशं करिष्यति॥ २८॥

'अथवा राज्याभिषेकसम्बन्धी मङ्गल द्रव्यमय इस कलशजलकी मुझे क्या आवश्यकता है? स्वयं मेरे द्वारा अपने हाथसे निकाला हुआ जल ही मेरे व्रतादेशका साधक होगा॥

मा च लक्ष्मण संतापं कार्षीर्लक्ष्म्या विपर्यये।
राज्यं वा वनवासो वा वनवासो महोदयः॥ २९॥

'लक्ष्मण! लक्ष्मीके इस उलट-फेरके विषयमें तुम कोई चिन्ता न करो। मेरे लिये राज्य अथवा वनवास दोनों समान हैं; बल्कि विशेष विचार करनेपर वनवास ही महान् अभ्युदयकारी प्रतीत होता है॥ २९॥

न लक्ष्मणास्मिन् मम राज्यविघ्ने
माता यवीयस्यभिशङ्कितव्या।
दैवाभिपन्ना न पिता कथंचि-
ज्जानासि दैवं हि तथाप्रभावम्॥ ३०॥

'लक्ष्मण! मेरे राज्याभिषेकमें जो विघ्न आया है, इसमें मेरी सबसे छोटी माता कारण है, ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि वह दैवके अधीन थी। इसी प्रकार पिताजी भी किसी तरह इसमें कारण नहीं हैं। तुम तो दैव और उसके अद्भुत प्रभावको जानते ही हो, वही कारण है'॥ ३०॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वाविंशः सर्गः॥ २२॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ २२॥

त्रयोविंशः सर्गः

लक्ष्मणकी ओजभरी बातें, उनके द्वारा दैवका खण्डन और पुरुषार्थका प्रतिपादन तथा उनका श्रीरामके अभिषेकके निमित्त विरोधियोंसे लोहा लेनेके लिये उद्यत होना

इति ब्रुवति रामे तु लक्ष्मणोऽवाक्शिरा इव ।
ध्यात्वा मध्यं जगामाशु सहसा दैन्यहर्षयोः ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजी जब इस प्रकार कह रहे थे, उस समय लक्ष्मण सिर झुकाये कुछ सोचते रहे; फिर सहसा शीघ्रतापूर्वक वे दुःख और हर्षके बीचकी स्थितिमें आ गये (श्रीरामके राज्याभिषेकमें विघ्न पड़नेके कारण उन्हें दुःख हुआ और उनकी धर्ममें दृढ़ता देखकर प्रसन्नता हुई) ॥ १ ॥

तदा तु बद्ध्वा भ्रुकुटीं भ्रुवोर्मध्ये नरर्षभः ।
निशश्वास महासर्पो बिलस्थ इव रोषितः ॥ २ ॥

नरश्रेष्ठ लक्ष्मणने उस समय ललाटमें भौंहोंको चढ़ाकर लंबी साँस खींचना आरम्भ किया, मानो बिलमें बैठा हुआ महान् सर्प रोषमें भरकर फुंकार मार रहा हो ॥ २ ॥

तस्य दुष्प्रतिवीक्ष्यं तद् भ्रुकुटीसहितं तदा ।
बभौ क्रुद्धस्य सिंहस्य मुखस्य सदृशं मुखम् ॥ ३ ॥

तनी हुई भौंहोंके साथ उस समय उनका मुख कुपित हुए सिंहके मुखके समान जान पड़ता था, उसकी ओर देखना कठिन हो रहा था ॥ ३ ॥

अग्रहस्तं विधुन्वंस्तु हस्ती हस्तमिवात्मनः ।
तिर्यगूर्ध्वं शरीरे च पातयित्वा शिरोधराम् ॥ ४ ॥
अग्राक्ष्णा वीक्षमाणस्तु तिर्यग्भ्रातरमब्रवीत् ।

जैसे हाथी अपनी सूँड हिलाया करता है, उसी प्रकार वे अपने दाहिने हाथको हिलाते और गर्दनको शरीरमें ऊपर-नीचे और अगल-बगल सब ओर घुमाते हुए नेत्रोंके अग्रभागसे टेढ़ी नजरोंद्वारा अपने भाई श्रीरामको देखकर उनसे बोले—॥ ४½ ॥

अस्थाने सम्भ्रमो यस्य जातो वै सुमहानयम् ॥ ५ ॥
धर्मदोषप्रसङ्गेन लोकस्यानतिशङ्कया ।
कथं ह्येतदसम्भ्रान्तस्त्वद्विधो वक्तुमर्हति ॥ ६ ॥
यथा ह्येवमशौण्डीरं शौण्डीरः क्षत्रियर्षभः ।
किं नाम कृपणं दैवमशक्तमभिशंससि ॥ ७ ॥

'भैया ! आप समझते हैं कि यदि पिताकी इस आज्ञाका पालन करनेके लिये मैं वनको न जाऊँ तो धर्मके विरोधका प्रसङ्ग उपस्थित होता है, इसके सिवा लोगोंके मनमें यह बड़ी भारी शङ्का उठ खड़ी होगी कि जो पिताकी आज्ञाका उल्लङ्घन करता है, वह यदि राजा ही हो जाय तो हमारा धर्मपूर्वक पालन कैसे करेगा ? साथ ही आप यह भी सोचते हैं कि यदि मैं पिताकी इस आज्ञाका पालन नहीं करूँ तो दूसरे लोग भी नहीं करेंगे । इस प्रकार धर्मकी अवहेलना होनेसे जगत्के विनाशका भय उपस्थित होगा । इन सब दोषों और शङ्काओंका निराकरण करनेके लिये आपके मनमें वनगमनके प्रति जो यह बड़ा भारी सम्भ्रम (उतावलापन) आ गया है, यह सर्वथा अनुचित एवं भ्रममूलक ही है; क्योंकि आप असमर्थ 'दैव' नामक तुच्छ वस्तुको प्रबल बता रहे हैं । दैवका निराकरण करनेमें समर्थ आप-जैसा क्षत्रियशिरोमणि वीर यदि भ्रममें नहीं पड़ गया होता तो ऐसी बात कैसे कह सकता था ? अतः असमर्थ पुरुषोंद्वारा ही अपनाये जाने योग्य और पौरुषके निकट कुछ भी करनेमें असमर्थ 'दैव' की आप साधारण मनुष्यके समान इतनी स्तुति या प्रशंसा क्यों कर रहे हैं ? ॥ ५—७ ॥

पापयोस्ते कथं नाम तयोः शङ्का न विद्यते ।
सन्ति धर्मोपधासक्ता धर्मात्मन् किं न बुध्यसे ॥ ८ ॥

'धर्मात्मन् ! आपको उन दोनों पापियोंपर संदेह क्यों नहीं होता ? संसारमें कितने ही ऐसे पापासक्त मनुष्य हैं, जो दूसरोंको ठगनेके लिये धर्मका ढोंग बनाये रहते हैं, क्या आप उन्हें नहीं जानते हैं ? ॥ ८ ॥

तयोः सुचरितं स्वार्थं शाठ्यात् परिजिहीर्षतोः ।
यदि नैवं व्यवसितं स्याद्धि प्रागेव राघव ।
तयोः प्रागेव दत्तश्च स्याद् वरः प्रकृतश्च सः ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन ! वे दोनों अपना स्वार्थ सिद्ध करनेके लिये शठतावश धर्मके बहाने आप-जैसे सच्चरित्र पुरुषका परित्याग करना चाहते हैं । यदि उनका ऐसा विचार न होता तो जो कार्य आज हुआ है, वह पहले ही हो गया होता । यदि वरदानवाली बात सच्ची होती तो आपके अभिषेकका कार्य प्रारम्भ होनेसे पहले ही इस तरहका वर दे दिया गया होता ॥ ९ ॥

लोकविद्विष्टमारब्धं त्वदन्यस्याभिषेचनम् ।
नोत्सहे सहितुं वीर तत्र मे क्षन्तुमर्हसि ॥ १० ॥

(गुणवान् ज्येष्ठ पुत्रके रहते हुए छोटेका अभिषेक करना) यह लोकविरुद्ध कार्य है, जिसका आज आरम्भ किया गया है । आपके सिवा दूसरे किसीका राज्याभिषेक हो, यह मुझसे सहन नहीं होनेका । इसके लिये आप मुझे क्षमा करेंगे ॥ १० ॥

येनैवमागता द्वैधं तव बुद्धिर्महामते ।
सोऽपि धर्मो मम द्वेष्यो यत्प्रसङ्गाद् विमुह्यसि ॥ ११ ॥

'महामते ! पिताके जिस वचनको मानकर आप मोहमें

पड़े हुए हैं और जिसके कारण आपकी बुद्धिमें दुविधा उत्पन्न हो गयी है, मैं उसे धर्म माननेका पक्षपाती नहीं हूँ; ऐसे धर्मका तो मैं घोर विरोध करता हूँ ॥ ११ ॥

कथं त्वं कर्मणा शक्तः कैकेयीवशवर्तिनः ।
करिष्यसि पितुर्वाक्यमधर्मिष्ठं विगर्हितम् ॥ १२ ॥

'आप अपने पराक्रमसे सब कुछ करनेमें समर्थ होकर भी कैकेयीके वशमें रहनेवाले पिताके अधर्मपूर्ण एवं निन्दित वचनका पालन कैसे करेंगे ? ॥ १२ ॥

यदयं किल्बिषाद् भेदः कृतोऽप्येवं न गृह्यते ।
जायते तत्र मे दुःखं धर्मसङ्गश्च गर्हितः ॥ १३ ॥

'वरदानकी झूठी कल्पनाका पाप करके आपके अभिषेकमें रोड़ा अटकाया गया है, फिर भी आप इस रूपमें नहीं ग्रहण करते हैं । इसके लिये मेरे मनमें बड़ा दुःख होता है । ऐसे कपटपूर्ण धर्मके प्रति होनेवाली आसक्ति निन्दित है ॥१३ ॥

तवायं धर्मसंयोगो लोकस्यास्य विगर्हितः ।
मनसापि कथं कामं कुर्यात् त्वां कामवृत्तयोः ।
तयोस्त्वहितयोर्नित्यं शत्र्वोः पित्रभिधानयोः ॥ १४ ॥

'ऐसे पाखण्डपूर्ण धर्मके पालनमें जो आपकी प्रवृत्ति हो रही है, वह यहाँके जनसमुदायकी दृष्टिमें निन्दित है। आपके सिवा दूसरा कोई पुरुष सदा पुत्रका अहित करनेवाले, पिता-माता नामधारी उन कामाचारी शत्रुओंके मनोरथको मनसे भी कैसे पूर्ण कर सकता है (उसकी पूर्तिका विचार भी मनमें कैसे ला सकता है ?) ॥ १४ ॥

यद्यपि प्रतिपत्तिस्ते दैवी चापि तयोर्मतम् ।
तथाप्युपेक्षणीयं ते न मे तदपि रोचते ॥ १५ ॥

'माता-पिताके इस विचारको कि—'आपका राज्याभिषेक न हो' जो आप दैवकी प्रेरणाका फल मानते हैं, यह भी मुझे अच्छा नहीं लगता । यद्यपि वह आपका मत है, तथापि आपको उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥ १५ ॥

विक्लवो वीर्यहीनो यः स दैवमनुवर्तते ।
वीराः सम्भावितात्मानो न दैवं पर्युपासते ॥ १६ ॥

'जो कायर है, जिसमें पराक्रमका नाम नहीं है, वही दैवका भरोसा करता है । सारा संसार जिन्हें आदरकी दृष्टिसे देखता है, वे शक्तिशाली वीर पुरुष दैवकी उपासना नहीं करते हैं ॥ १६ ॥

दैवं पुरुषकारेण यः समर्थः प्रबाधितुम् ।
न दैवेन विपन्नार्थः पुरुषः सोऽवसीदति ॥ १७ ॥

'जो अपने पुरुषार्थसे दैवको दबानेमें समर्थ है, वह पुरुष दैवके द्वारा अपने कार्यमें बाधा पड़नेपर खेद नहीं करता—शिथिल होकर नहीं बैठता ॥ १७ ॥

द्रक्ष्यन्ति त्वद्य दैवस्य पौरुषं पुरुषस्य च ।
दैवमानुषयोरद्य व्यक्ता व्यक्तिर्भविष्यति ॥ १८ ॥

'आज संसारके लोग देखेंगे कि दैवकी शक्ति बड़ी है या पुरुषका पुरुषार्थ । आज दैव और मनुष्यमें कौन बलवान् है और कौन दुर्बल—इसका स्पष्ट निर्णय हो जायगा ॥ १८ ॥

अद्य मे पौरुषहतं दैवं द्रक्ष्यन्ति वै जनाः ।
यैर्दैवादाहतं तेऽद्य दृष्टं राज्याभिषेचनम् ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंने दैवके बलसे आज आपके राज्याभिषेकको नष्ट हुआ देखा है, वे ही आज मेरे पुरुषार्थसे अवश्य ही दैवका भी विनाश देख लेंगे ॥ १९ ॥

अत्यङ्कुशमिवोद्दामं गजं मदजलोद्धतम् ।
प्रधावितमहं दैवं पौरुषेण निवर्तये ॥ २० ॥

'जो अङ्कुशकी परवा नहीं करता और रस्से या साँकलको भी तोड़ देता है, मदकी धारा बहानेवाले उस मत्त गजराजकी भाँति वेगपूर्वक दौड़नेवाले दैवको भी आज मैं अपने पुरुषार्थसे पीछे लौटा दूँगा ॥ २० ॥

लोकपालाः समस्तास्ते नाद्य रामाभिषेचनम् ।
न च कृत्स्नास्त्रयो लोका विहन्युः किं पुनः पिता ॥ २१ ॥

'समस्त लोकपाल और तीनों लोकोंके सम्पूर्ण प्राणी आज श्रीरामके राज्याभिषेकको नहीं रोक सकते, फिर केवल पिताजीकी तो बात ही क्या है ? ॥ २१ ॥

यैर्विवासस्तवारण्ये मिथो राजन् समर्थितः ।
अरण्ये ते विवत्स्यन्ति चतुर्दश समास्तथा ॥ २२ ॥

'राजन् ! जिन लोगोंने आपसमें आपके वनवासका समर्थन किया है, वे स्वयं चौदह वर्षोंतक वनमें जाकर छिपे रहेंगे ॥ २२ ॥

अहं तदाशां धक्ष्यामि पितुस्तस्याश्च या तव ।
अभिषेकविघातेन पुत्रराज्याय वर्तते ॥ २३ ॥

'मैं पिताकी और जो आपके अभिषेकमें विघ्न डालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके प्रयत्नमें लगी हुई है, उस कैकेयीकी भी उस आशाको जलाकर भस्म कर डालूँगा ॥ २३ ॥

मद्बलेन विरुद्धाय न स्याद् दैवबलं तथा ।
प्रभविष्यति दुःखाय यथोग्रं पौरुषं मम ॥ २४ ॥

'जो मेरे बलके विरोधमें खड़ा होगा, उसे मेरा भयंकर पुरुषार्थ जैसा दुःख देनेमें समर्थ होगा, वैसा दैवबल उसे सुख नहीं पहुँचा सकेगा ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वं वर्षसहस्रान्ते प्रजापाल्यमनन्तरम् ।
आर्यपुत्राः करिष्यन्ति वनवासं गते त्वयि ॥ २५ ॥

'सहस्रों वर्ष बीतनेके पश्चात् जब आप अवस्थाक्रमसे वनमें निवास करनेके लिये जायँगे, उस समय आपके बाद आपके पुत्र प्रजापालनरूप कार्य करेंगे (अर्थात् उस समय भी दूसरोंको इस राज्यमें दखल देनेका अवसर नहीं प्राप्त होगा) ॥ २५ ॥

पूर्वराजर्षिवृत्त्या हि वनवासोऽभिधीयते।
प्रजा निक्षिप्य पुत्रेषु पुत्रवत् परिपालने ॥ २६ ॥

'पुरातन राजर्षियोंकी आचारपरम्पराके अनुसार प्रजाका पुत्रवत् पालन करनेके निमित्त प्रजावर्गको पुत्रोंके हाथमें सौंपकर वृद्ध राजाका वनमें निवास करना उचित बताया जाता है ॥ २६ ॥

स चेद् राजन्यनेकाग्रे राज्यविभ्रमशङ्कया।
नैवमिच्छसि धर्मात्मन् राज्यं राम त्वमात्मनि ॥ २७ ॥

'धर्मात्मा श्रीराम! हमारे महाराज वानप्रस्थधर्मके पालनमें चित्तको एकाग्र नहीं कर रहे हैं, इसीलिये यदि आप यह समझते हों कि उनकी आज्ञाके विरुद्ध राज्य ग्रहण कर लेनेपर समस्त जनता विद्रोही हो जायगी; अतः राज्य अपने हाथमें नहीं रह सकेगा और इसी शङ्कासे यदि आप अपने ऊपर राज्यका भार नहीं लेना चाहते हैं अथवा वनमें चले जाना चाहते हैं तो इस शङ्काको छोड़ दीजिये ॥ २७ ॥

प्रतिजाने च ते वीर मा भूवं वीरलोकभाक्।
राज्यं च तव रक्षेयमहं वेलेव सागरम् ॥ २८ ॥

'वीर! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि जैसे तटभूमि समुद्रको रोके रहती है, उसी प्रकार मैं आपकी और आपके राज्यकी रक्षा करूँगा। यदि ऐसा न करूँ तो वीरलोकका भागी न होऊँ ॥ २८ ॥

मङ्गलैरभिषिञ्चस्व तत्र त्वं व्यापृतो भव।
अहमेको महीपालानलं वारयितुं बलात् ॥ २९ ॥

'इसलिये आप मङ्गलमयी अभिषेक-सामग्रीसे अपना अभिषेक होने दीजिये। इस अभिषेकके कार्यमें आप तत्पर हो जाइये। मैं अकेला ही बलपूर्वक समस्त विरोधी भूपालोंको रोक रखनेमें समर्थ हूँ ॥ २९ ॥

न शोभार्थाविमौ बाहू न धनुर्भूषणाय मे।
नासिराबन्धनार्थाय न शराः स्तम्भहेतवः ॥ ३० ॥

'ये मेरी दोनों भुजाएँ केवल शोभाके लिये नहीं हैं। मेरे इस धनुषका आभूषण नहीं बनेगा। यह तलवार केवल कमरमें बाँधे रखनेके लिये नहीं है तथा इन बाणोंके खम्भे नहीं बनेंगे ॥ ३० ॥

अमित्रमथनार्थाय सर्वमेतच्चतुष्टयम्।
न चाहं कामयेऽत्यर्थं यः स्याच्छत्रुर्मतो मम ॥ ३१ ॥

'ये सब चारों वस्तुएँ शत्रुओंका दमन करनेके लिये ही हैं। जिसे मैं अपना शत्रु समझता हूँ, उसे कदापि जीवित रहने देना नहीं चाहता ॥ ३१ ॥

असिना तीक्ष्णधारेण विद्युच्चलितवर्चसा।
प्रगृहीतेन वै शत्रुं वज्रिणं वा न कल्पये ॥ ३२ ॥

'जिस समय मैं इस तीखी धारवाली तलवारको हाथमें लेता हूँ, यह बिजलीकी तरह चञ्चल प्रभासे चमक उठती है। इसके द्वारा अपने किसी भी शत्रुको, वह वज्रधारी इन्द्र ही क्यों न हो, मैं कुछ नहीं समझता ॥ ३२ ॥

खड्गनिष्पेषनिष्पिष्टैर्गहना दुश्चरा च मे।
हस्त्यश्वरथिहस्तोरुशिरोभिर्भविता मही ॥ ३३ ॥

'आज मेरे खड्गके प्रहारसे पीस डाले गये हाथी, घोड़े और रथियोंके हाथ, जाँघ और मस्तकोंद्वारा पटी हुई यह पृथ्वी ऐसी गहन हो जायगी कि इसपर चलना-फिरना कठिन हो जायगा ॥ ३३ ॥

खड्गधाराहता मेऽद्य दीप्यमाना इवाग्नयः।
पतिष्यन्ति द्विषो भूमौ मेघा इव सविद्युतः ॥ ३४ ॥

'मेरी तलवारकी धारसे कटकर रक्तसे लथपथ हुए शत्रु जलती हुई आगके समान जान पड़ेंगे और बिजलीसहित मेघोंके समान आज पृथ्वीपर गिरेंगे ॥ ३४ ॥

बद्धगोधाङ्गुलित्राणे प्रगृहीतशरासने।
कथं पुरुषमानी स्यात् पुरुषाणां मयि स्थिते ॥ ३५ ॥

'अपने हाथोंमें गोहके चर्मसे बने हुए दस्तानेको बाँधकर जब हाथमें धनुष ले मैं युद्धके लिये खड़ा हो जाऊँगा, उस समय पुरुषोंमेंसे कोई भी मेरे सामने कैसे अपने पौरुषपर अभिमान कर सकेगा? ॥ ३५ ॥

बहुभिश्चैकमत्यस्यन्नेकेन च बहूञ्जनान्।
विनियोक्ष्याम्यहं बाणान्नृवाजिगजमर्मसु ॥ ३६ ॥

'मैं बहुत-से बाणोंद्वारा एकको और एक ही बाणसे बहुत-से योद्धाओंको धराशायी करता हुआ मनुष्यों, घोड़ों और हाथियोंके मर्मस्थानोंपर बाण मारूँगा ॥ ३६ ॥

अद्य मेऽस्त्रप्रभावस्य प्रभावः प्रभविष्यति।
राज्ञश्चाप्रभुतां कर्तुं प्रभुत्वं च तव प्रभो ॥ ३७ ॥

'प्रभो! आज राजा दशरथकी प्रभुताको मिटाने और आपके प्रभुत्वकी स्थापना करनेके लिये अस्त्रबलसे सम्पन्न मुझ लक्ष्मणका प्रभाव प्रकट होगा ॥ ३७ ॥

अद्य चन्दनसारस्य केयूरामोक्षणस्य च।
वसूनां च विमोक्षस्य सुहृदां पालनस्य च ॥ ३८ ॥
अनुरूपाविमौ बाहू राम कर्म करिष्यतः।
अभिषेचनविघ्नस्य कर्तॄणां ते निवारणे ॥ ३९ ॥

'श्रीराम! आज मेरी ये दोनों भुजाएँ, जो चन्दनका लेप लगाने, बाजूबंद पहनने, धनका दान करने और सुहृदोंके पालनमें संलग्न रहनेके योग्य हैं, आपके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेवालोंको रोकनेके लिये अपने अनुरूप पराक्रम प्रकट करेंगी ॥ ३८-३९ ॥

ब्रवीहि कोऽद्यैव मया वियुज्यतां
तवासुहृत् प्राणयशःसुहृज्जनैः।
यथा तवेयं वसुधा वशा भवेत्
तथैव मां शाधि तवास्मि किंकरः ॥ ४० ॥

'प्रभो ! बतलाइये, मैं आपके किस शत्रुको अभी प्राण, यश और सुहृज्जनोंसे सदाके लिये बिलग कर दूँ। जिस उपायसे भी यह पृथ्वी आपके अधिकारमें आ जाय, उसके लिये मुझे आज्ञा दीजिये, मैं आपका दास हूँ' ॥४०॥

विमृज्य बाष्पं परिसान्त्व्य चासकृत्
स लक्ष्मणं राघववंशवर्धनः।
उवाच पित्रोर्वचने व्यवस्थितं
निबोध मामेष हि सौम्य सत्पथः॥ ४१ ॥

रघुवंशकी वृद्धि करनेवाले श्रीरामने लक्ष्मणकी ये बातें सुनकर उनके आँसू पोंछे और उन्हें बारंबार सान्त्वना देते हुए कहा—'सौम्य ! मुझे तो तुम माता-पिताकी आज्ञाके पालनमें ही दृढ़तापूर्वक स्थित समझो। यही सत्पुरुषोंका मार्ग है' ॥ ४१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयोविंशः सर्गः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तेईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २३ ॥

चतुर्विंशः सर्गः

विलाप करती हुई कौसल्याका श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये आग्रह करना तथा पतिकी सेवा ही नारीका धर्म है, यह बताकर श्रीरामका उन्हें रोकना और वन जानेके लिये उनकी अनुमति प्राप्त करना

तं समीक्ष्य व्यवसितं पितुर्निर्देशपालने।
कौसल्या बाष्पसंरुद्धा वचो धर्मिष्ठमब्रवीत् ॥ १ ॥

कौसल्याने जब देखा कि श्रीरामने पिताकी आज्ञाके पालनका ही दृढ़ निश्चय कर लिया है, तब वे आँसुओंसे रुँधी हुई गद्गद वाणीमें धर्मात्मा श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं—॥ १ ॥

अदृष्टदुःखो धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः।
मयि जातो दशरथात् कथमुञ्छेन वर्तयेत् ॥ २ ॥

'हाय ! जिसने जीवनमें कभी दुःख नहीं देखा है, जो समस्त प्राणियोंसे सदा प्रिय वचन बोलता है, जिसका जन्म महाराज दशरथसे मेरे द्वारा हुआ है, वह मेरा धर्मात्मा पुत्र उञ्छवृत्तिसे—खेतमें गिरे हुए अनाजके एक-एक दानेको बीनकर कैसे जीवन-निर्वाह कर सकेगा ? ॥ २ ॥

यस्य भृत्याश्च दासाश्च मृष्टान्यन्नानि भुञ्जते।
कथं स भोक्ष्यते रामो वने मूलफलान्ययम्॥ ३ ॥

'जिनके भृत्य और दास भी शुद्ध, स्वादिष्ट अन्न खाते हैं, वे ही श्रीराम वनमें फल-मूलका आहार कैसे करेंगे ? ॥ ३॥

क एतच्छ्रद्दधेच्छ्रुत्वा कस्य वा न भवेद् भयम्।
गुणवान् दयितो राज्ञः काकुत्स्थो यद् विवास्यते ॥४॥

'जो सद्गुणसम्पन्न और महाराज दशरथके प्रिय हैं, उन्हीं ककुत्स्थ-कुल-भूषण श्रीरामको जो वनवास दिया जा रहा है, इसे सुनकर कौन इसपर विश्वास करेगा ? अथवा ऐसी बात सुनकर किसको भय नहीं होगा ? ॥ ४ ॥

नूनं तु बलवाँल्लोके कृतान्तः सर्वमादिशन्।
लोके रामाभिरामस्त्वं वनं यत्र गमिष्यसि ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! निश्चय ही इस जगत्में दैव सबसे बड़ा बलवान् है। उसकी आज्ञा सबके ऊपर चलती है—वही सबको सुख-दुःखसे संयुक्त करता है; क्योंकि उसीके प्रभावमें आकर तुम्हारे-जैसा लोकप्रिय मनुष्य भी वनमें जानेको उद्यत है ॥ ५ ॥

अयं तु मामात्मभवस्तवादर्शनमारुतः।
विलापदुःखसमिधो रुदिताश्रुहुताहुतिः ॥ ६ ॥
चिन्ताबाष्पमहाधूमस्तवागमनचिन्तजः।
कर्शयित्वाधिकं पुत्र निःश्वासायाससम्भवः ॥ ७ ॥
त्वया विहीनामिह मां शोकाग्निरतुलो महान्।
प्रधक्ष्यति यथा कक्ष्यं चित्रभानुर्हिमात्यये ॥ ८ ॥

'परंतु बेटा ! तुमसे बिछुड़ जानेपर यहाँ मुझे शोककी अनुपम एवं बहुत बढ़ी हुई आग उसी तरह जलाकर भस्म कर डालेगी, जैसे ग्रीष्मऋतुमें दावानल सूखी लकड़ियों और घास-फूसको जला डालता है। शोककी यह आग मेरे अपने ही मनमें प्रकट हुई है। तुम्हें न देख पानेकी सम्भावना ही वायु बनकर इस अग्निको उद्दीप्त कर रही है। विलापजनित दुःख ही इसमें ईंधनका काम कर रहे हैं। रोनेसे जो अश्रुपात होते हैं, वे ही मानो इसमें दी हुई घीकी आहुति हैं। चिन्ताके कारण जो गरम-गरम उच्छ्वास उठ रहा है, वही इसका महान् धूम है। तुम दूर देशमें जाकर फिर किस तरह आओगे—इस प्रकारकी चिंता ही इस शोकाग्निको जन्म दे रही है। साँस लेनेका जो प्रयत्न है, उसीसे इस आगकी प्रतिक्षण वृद्धि हो रही है। तुम्हीं इसे बुझानेके लिये जल हो। तुम्हारे बिना यह आग मुझे अधिक सुखाकर जला डालेगी ॥ ६–८ ॥

कथं हि धेनुः स्वं वत्सं गच्छन्तमनुगच्छति।
अहं त्वानुगमिष्यामि यत्र वत्स गमिष्यसि ॥ ९ ॥

'वत्स ! धेनु आगे जाते हुए अपने बछड़ेके पीछे-पीछे

कैसे चली जाती है, उसी प्रकार मैं भी तुम जहाँ भी जाओगे, तुम्हारे पीछे-पीछे चली चलूँगी' ॥ ९ ॥

यथा निगदितं मात्रा तद् वाक्यं पुरुषर्षभः।
श्रुत्वा रामोऽब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम्॥ १०॥

माता कौसल्याने जैसे जो कुछ कहा, उस वचनको सुनकर पुरुषोत्तम श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें डूबी हुई अपनी मासे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

कैकेय्या वञ्चितो राजा मयि चारण्यमाश्रिते।
भवत्या च परित्यक्तो न नूनं वर्तयिष्यति॥ ११॥

'मा ! कैकेयीने राजाके साथ धोखा किया है। इधर मैं वनको चला जा रहा हूँ। इस दशामें यदि तुम भी उनका परित्याग कर दोगी तो निश्चय ही वे जीवित नहीं रह सकेंगे॥ ११ ॥

भर्तुः किल परित्यागो नृशंसः केवलं स्त्रियाः।
स भवत्या न कर्तव्यो मनसापि विगर्हितः॥ १२॥

'पतिका परित्याग नारीके लिये बड़ा ही क्रूरतापूर्ण कर्म है। सत्पुरुषोंने इसकी बड़ी निन्दा की है; अतः तुम्हें तो ऐसी बात कभी मनमें भी नहीं लानी चाहिये॥ १२ ॥

यावज्जीवति काकुत्स्थः पिता मे जगतीपतिः।
शुश्रूषा क्रियतां तावत् स हि धर्मः सनातनः॥ १३॥

'मेरे पिता ककुत्स्थकुल-भूषण महाराज दशरथ जबतक जीवित हैं, तबतक तुम उन्हींकी सेवा करो। पतिकी सेवा ही स्त्रीके लिये सनातन धर्म है' ॥ १३ ॥

एवमुक्ता तु रामेण कौसल्या शुभदर्शना।
तथेत्युवाच सुप्रीता राममक्लिष्टकारिणम्॥ १४॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर शुभ कर्मोंपर दृष्टि रखनेवाली देवी कौसल्याने अत्यन्त प्रसन्न होकर अनायास ही महान् कर्म करनेवाले श्रीरामसे कहा—'अच्छा बेटा ! ऐसा ही करूँगी' ॥ १४ ॥

एवमुक्तस्तु वचनं रामो धर्मभृतां वरः।
भूयस्तामब्रवीद् वाक्यं मातरं भृशदुःखिताम्॥ १५॥

माके इस प्रकार स्वीकृतिसूचक बात कहनेपर धर्मात्माओं-में श्रेष्ठ श्रीरामने अत्यन्त दुःखमें पड़ी हुई अपनी मातासे पुनः इस प्रकार कहा—॥ १५ ॥

मया चैव भवत्या च कर्तव्यं वचनं पितुः।
राजा भर्ता गुरुः श्रेष्ठः सर्वेषामीश्वरः प्रभुः॥ १६॥

'मा ! पिताजीकी आज्ञाका पालन करना मेरा और तुम्हारा—दोनोंका कर्तव्य है; क्योंकि राजा हम सब लोगोंके स्वामी, श्रेष्ठ गुरु, ईश्वर एवं प्रभु हैं॥ १६ ॥

इमानि तु महारण्ये विहृत्य नव पञ्च च।
वर्षाणि परमप्रीत्या स्थास्यामि वचने तव॥ १७॥

'इन चौदह वर्षोंतक मैं विशाल वनमें घूम-फिरकर लौट आऊँगा और बड़े प्रेमसे तुम्हारी आज्ञाका पालन करता रहूँगा' ॥ १७ ॥

एवमुक्ता प्रियं पुत्रं बाष्पपूर्णानना तदा।
उवाच परमार्ता तु कौसल्या सुतवत्सला॥ १८॥

उनके ऐसा कहनेपर पुत्रवत्सला कौसल्याके मुखपर पुनः आँसुओंकी धारा बह चली। वे उस समय अत्यन्त आर्त होकर अपने प्रिय पुत्रसे बोलीं—॥ १८ ॥

आसां राम सपत्नीनां वस्तुं मध्ये न मे क्षमम्।
नय मामपि काकुत्स्थ वनं वन्यां मृगीमिव॥ १९॥
यदि ते गमने बुद्धिः कृता पितुरपेक्षया।

'बेटा राम ! अब मुझसे इन सौतोंके बीचमें नहीं रहा जायगा। काकुत्स्थ ! यदि पिताकी आज्ञाका पालन करनेकी इच्छासे तुमने वनमें जानेका ही निश्चय किया है तो मुझे भी वनवासिनी हरिणीकी भाँति वनमें ही ले चलो' ॥ १९½ ॥

तां तथा रुदतीं रामो रुदन् वचनमब्रवीत्॥ २०॥
जीवन्त्या हि स्त्रिया भर्ता दैवतं प्रभुरेव च।
भवत्या मम चैवाद्य राजा प्रभवति प्रभुः॥ २१॥

यह कहकर माता कौसल्या रोने लगीं। उन्हें उस तरह रोती देख श्रीराम भी रो पड़े और उन्हें सान्त्वना देते हुए बोले—'मा ! स्त्रीके जीते-जी उसका पति ही उसके लिये देवता और ईश्वरके समान है। महाराज तुम्हारे और मेरे दोनोंके प्रभु हैं॥ २०-२१ ॥

न ह्यनाथा वयं राज्ञा लोकनाथेन धीमता।
भरतश्चापि धर्मात्मा सर्वभूतप्रियंवदः॥ २२॥
भवतीमनुवर्तेत स हि धर्मरतः सदा।

'जबतक बुद्धिमान् जगदीश्वर महाराज दशरथ जीवित हैं, तबतक हमें अपनेको अनाथ नहीं समझना चाहिये। भरत भी बड़े धर्मात्मा हैं। वे समस्त प्राणियोंके प्रति प्रिय वचन बोलनेवाले और सदा ही धर्ममें तत्पर रहनेवाले हैं; अतः वे तुम्हारा अनुसरण—तुम्हारी सेवा करेंगे॥ २२½ ॥

यथा मयि तु निष्क्रान्ते पुत्रशोकेन पार्थिवः॥ २३॥
श्रमं नावाप्नुयात् किंचिदप्रमत्ता तथा कुरु।

'मेरे चले जानेपर जिस तरह भी महाराजको पुत्रशोकके कारण कोई विशेष कष्ट न हो, तुम सावधानीके साथ वैसा ही प्रयत्न करना॥ २३½ ॥

दारुणश्चाप्ययं शोको यथैनं न विनाशयेत्॥ २४॥
राज्ञो वृद्धस्य सततं हितं चर समाहिता।

'कहीं ऐसा न हो कि यह दारुण शोक इनकी जीवनलीला ही समाप्त कर डाले। जैसे भी सम्भव हो, तुम सदा सावधान रहकर बूढ़े महाराजके हित-साधनमें लगी रहना॥ २४½ ॥

व्रतोपवासनिरता या नारी परमोत्तमा ॥ २५ ॥
भर्तारं नानुवर्तेत सा च पापगतिर्भवेत् ।

'उत्कृष्ट गुण और जाति आदिकी दृष्टिसे परम उत्तम तथा व्रत-उपवासमें तत्पर होकर भी जो नारी पतिकी सेवा नहीं करती है, उसे पापियोंको मिलनेवाली गति (नरक आदि) की प्राप्ति होती है ॥ २५½ ॥

भर्तुः शुश्रूषया नारी लभते स्वर्गमुत्तमम् ॥ २६ ॥
अपि या निर्नमस्कारा निवृत्ता देवपूजनात् ।

'जो अन्यान्य देवताओंकी वन्दना और पूजासे दूर रहती है, वह नारी भी केवल पतिकी सेवामात्रसे उत्तम स्वर्गलोकको प्राप्त कर लेती है ॥ २६½ ॥

शुश्रूषामेव कुर्वीत भर्तुः प्रियहिते रता ॥ २७ ॥
एष धर्मः स्त्रिया नित्यो वेदे लोके श्रुतः स्मृतः ।

'अतः नारीको चाहिये कि वह पतिके प्रिय एवं हित-साधनमें तत्पर रहकर सदा उसकी सेवा ही करे, यही स्त्रीका वेद और लोकमें प्रसिद्ध नित्य (सनातन) धर्म है। इसीका श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी वर्णन है ॥ २७½ ॥

अग्निकार्येषु च सदा सुमनोभिश्च देवताः ॥ २८ ॥
पूज्यास्ते मत्कृते देवि ब्राह्मणाश्चैव सत्कृताः ।

'देवि ! तुम्हें मेरी मङ्गल-कामनासे सदा अग्निहोत्रके अवसरोंपर पुष्पोंसे देवताओंका तथा सत्कारपूर्वक ब्राह्मणोंका भी पूजन करते रहना चाहिये ॥ २८½ ॥

एवं कालं प्रतीक्षस्व ममागमनकाङ्क्षिणी ॥ २९ ॥
नियता नियताहारा भर्तृशुश्रूषणे रता ।

'इस प्रकार तुम नियमित आहार करके नियमोंका पालन करती हुई स्वामीकी सेवामें लगी रहो और मेरे आगमनकी इच्छा रखकर समयकी प्रतीक्षा करो ॥ २९½ ॥

प्राप्स्यसे परमं कामं मयि पर्यागते सति ॥ ३० ॥
यदि धर्मभृतां श्रेष्ठो धारयिष्यति जीवितम् ।

'यदि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ महाराज जीवित रहेंगे तो मेरे लौट आनेपर तुम्हारी भी शुभ कामना पूर्ण होगी' ॥ ३०½ ॥

एवमुक्ता तु रामेण बाष्पपर्याकुलेक्षणा ॥ ३१ ॥
कौसल्या पुत्रशोकार्ता रामं वचनमब्रवीत् ।

श्रीरामके ऐसा कहनेपर कौसल्याके नेत्रोंमें आँसू छलक आये । वे पुत्रशोकसे पीड़ित होकर श्रीरामचन्द्रजीसे बोलीं—॥ ३१½ ॥

गमने सुकृतां बुद्धिं न ते शक्नोमि पुत्रक ॥ ३२ ॥
विनिवर्तयितुं वीर नूनं कालो दुरत्ययः ।

'बेटा ! मैं तुम्हारे वनमें जानेके निश्चित विचारको नहीं पलट सकती । वीर ! निश्चय ही कालकी आज्ञाका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है ॥ ३२½ ॥

गच्छ पुत्र त्वमेकाग्रो भद्रं तेऽस्तु सदा विभो ॥ ३३ ॥
पुनस्त्वयि निवृत्ते तु भविष्यामि गतक्लमा ।

'सामर्थ्यशाली पुत्र ! अब तुम निश्चिन्त होकर वनको जाओ, तुम्हारा सदा ही कल्याण हो। जब फिर तुम वनसे लौट आओगे, उस समय मेरे सारे क्लेश—सब संताप दूर हो जायँगे ॥ ३३½ ॥

प्रत्यागते महाभागे कृतार्थे चरितव्रते ।
पितुरानृण्यतां प्राप्ते स्वपिष्ये परमं सुखम् ॥ ३४ ॥

'बेटा ! जब तुम वनवासका महान् व्रत पूर्ण करके कृतार्थ एवं महान् सौभाग्यशाली होकर लौट आओगे और ऐसा करके पिताके ऋणसे उऋण हो जाओगे, तभी मैं उत्तम सुखकी नींद सो सकूँगी ॥ ३४ ॥

कृतान्तस्य गतिः पुत्र दुर्विभाव्या सदा भुवि ।
यस्त्वां संचोदयति मे वच आविध्य राघव ॥ ३५ ॥

'बेटा रघुनन्दन ! इस भूतलपर दैवकी गतिको समझना बहुत ही कठिन है, जो मेरी बात काटकर तुम्हें वन जानेके लिये प्रेरित कर रहा है ॥ ३५ ॥

गच्छेदानीं महाबाहो क्षेमेण पुनरागतः ।
नन्दयिष्यसि मां पुत्र साम्ना श्लक्ष्णेन चारुणा ॥ ३६ ॥

'बेटा ! महाबाहो ! इस समय जाओ, फिर कुशलपूर्वक लौटकर सान्त्वनाभरे मधुर एवं मनोहर वचनोंसे मुझे आनन्दित करना ॥ ३६ ॥

अपीदानीं स कालः स्याद् वनात् प्रत्यागतं पुनः ।
यत् त्वां पुत्रक पश्येयं जटावल्कलधारिणम् ॥ ३७ ॥

'वत्स ! क्या वह समय अभी आ सकता है, जब कि जटा-वल्कल धारण किये वनसे लौटकर आये हुए तुमको फिर देख सकूँगी' ॥ ३७ ॥

तथा हि रामं वनवासनिश्चितं
ददर्श देवी परमेण चेतसा ।
उवाच रामं शुभलक्षणं वचो
बभूव च स्वस्त्ययनाभिकाङ्क्षिणी ॥ ३८ ॥

देवी कौसल्याने जब देखा कि इस प्रकार श्रीराम वनवासका दृढ़ निश्चय कर चुके हैं, तब वे परम आदरयुक्त हृदयसे उनको शुभसूचक आशीर्वाद देने और उनके लिये स्वस्तिवाचन करानेकी इच्छा करने लगीं ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुर्विंशः सर्गः ॥ २४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौबीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २४ ॥

पञ्चविंशः सर्गः

कौसल्याका श्रीरामकी वनयात्राके लिये मङ्गलकामनापूर्वक स्वस्तिवाचन करना और श्रीरामका उन्हें प्रणाम करके सीताके भवनकी ओर जाना

सा विनीय तमायासमुपस्पृश्य जलं शुचि।
चकार माता रामस्य मङ्गलानि मनस्विनी॥ १॥

तदनन्तर उस क्लेशजनक शोकको मनसे निकालकर श्रीरामकी मनस्विनी माता कौसल्याने पवित्र जलसे आचमन किया, फिर वे यात्राकालिक मङ्गलकृत्योंका अनुष्ठान करने लगीं॥ १॥

न शक्यसे वारयितुं गच्छेदानीं रघूत्तम।
शीघ्रं च विनिवर्तस्व वर्तस्व च सतां क्रमे॥ २॥

(इसके बाद वे आशीर्वाद देती हुई बोलीं—) 'रघुकुल-भूषण! अब मैं तुम्हें रोक नहीं सकती, इस समय जाओ, सत्पुरुषोंके मार्गपर स्थिर रहो और शीघ्र ही वनसे लौट आओ॥ २॥

यं पालयसि धर्मं त्वं प्रीत्या च नियमेन च।
स वै राघवशार्दूल धर्मस्त्वामभिरक्षतु॥ ३॥

'रघुकुलसिंह! तुम नियमपूर्वक प्रसन्नताके साथ जिस धर्मका पालन करते हो, वही सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करे॥ ३॥

येभ्यः प्रणमसे पुत्र देवेष्वायतनेषु च।
ते च त्वामभिरक्षन्तु वने सह महर्षिभिः॥ ४॥

'बेटा! देवस्थानों और मन्दिरोंमें जाकर तुम जिनको प्रणाम करते हो, वे सब देवता महर्षियोंके साथ वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ४॥

यानि दत्तानि तेऽस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
तानि त्वामभिरक्षन्तु गुणैः समुदितं सदा॥ ५॥

'तुम सद्गुणोंसे प्रकाशित हो, बुद्धिमान् विश्वामित्रजीने तुम्हें जो-जो अस्त्र दिये हैं, वे सब-के-सब सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ५॥

पितृशुश्रूषया पुत्र मातृशुश्रूषया तथा।
सत्येन च महाबाहो चिरं जीवाभिरक्षितः॥ ६॥

'महाबाहु पुत्र! तुम पिताकी शुश्रूषा, माताकी सेवा तथा सत्यके पालनसे सुरक्षित होकर चिरंजीवी बने रहो॥६॥

समित्कुशपवित्राणि वेद्यश्चायतनानि च।
स्थण्डिलानि च विप्राणां शैला वृक्षाः क्षुपा ह्रदाः।
पतङ्गाः पन्नगाः सिंहास्त्वां रक्षन्तु नरोत्तम॥ ७॥

'नरश्रेष्ठ! समिधा, कुशा, पवित्री, वेदियाँ, मन्दिर, ब्राह्मणोंके देवपूजनसम्बन्धी स्थान, पर्वत, वृक्ष, क्षुप (छोटी शाखावाले वृक्ष), जलाशय, पक्षी, सर्प और सिंह वनमें तुम्हारी रक्षा करें॥ ७॥

स्वस्ति साध्याश्च विश्वे च मरुतश्च महर्षिभिः।
स्वस्ति धाता विधाता च स्वस्ति पूषा भगोऽर्यमा॥

'साध्य, विश्वेदेव तथा महर्षियोंसहित मरुद्गण तुम्हारा कल्याण करें; धाता और विधाता तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों; पूषा, भग और अर्यमा तुम्हारा कल्याण करें॥ ८॥

लोकपालाश्च ते सर्वे वासवप्रमुखास्तथा।
ऋतवः षट् च ते सर्वे मासाः संवत्सराः क्षपाः॥९॥
दिनानि च मुहूर्ताश्च स्वस्ति कुर्वन्तु ते सदा।
श्रुतिः स्मृतिश्च धर्मश्च पातु त्वां पुत्र सर्वतः॥ १०॥

'वे इन्द्र आदि समस्त लोकपाल, छहों ऋतुएँ, सभी मास, संवत्सर, रात्रि, दिन और मुहूर्त सदा तुम्हारा मङ्गल करें। बेटा! श्रुति, स्मृति और धर्म भी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ९-१०॥

स्कन्दश्च भगवान् देवः सोमश्च सबृहस्पतिः।
सप्तर्षयो नारदश्च ते त्वां रक्षन्तु सर्वतः॥ ११॥

'भगवान् स्कन्ददेव, सोम, बृहस्पति, सप्तर्षिगण और नारद—ये सभी सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ ११॥

ते चापि सर्वतः सिद्धा दिशश्च सदिगीश्वराः।
स्तुता मया वने तस्मिन् पान्तु त्वां पुत्र नित्यशः॥१२॥

'बेटा! वे प्रसिद्ध सिद्धगण, दिशाएँ और दिक्पाल मेरी की हुई स्तुतिसे संतुष्ट हो उस वनमें सदा सब ओरसे तुम्हारी रक्षा करें॥ १२॥

शैलाः सर्वे समुद्राश्च राजा वरुण एव च।
द्यौरन्तरिक्षं पृथिवी वायुश्च सचराचरः॥ १३॥
नक्षत्राणि च सर्वाणि ग्रहाश्च सह दैवतैः।
अहोरात्रे तथा संध्ये पान्तु त्वां वनमाश्रितम्॥ १४॥

'समस्त पर्वत, समुद्र, राजा वरुण, द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथिवी, वायु, चराचर प्राणी, समस्त नक्षत्र, देवताओंसहित ग्रह, दिन और रात तथा दोनों संध्याएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर सदा तुम्हारी रक्षा करें॥ १३-१४॥

ऋतवश्चापि षट् चान्ये मासाः संवत्सरास्तथा।
कलाश्च काष्ठाश्च तथा तव शर्म दिशन्तु ते॥ १५॥

'छः ऋतुएँ, अन्यान्य मास, संवत्सर, कला और काष्ठा—ये सब तुम्हें कल्याण प्रदान करें॥ १५॥

महावनेऽपि चरतो मुनिवेषस्य धीमतः।
तथा देवाश्च दैत्याश्च भवन्तु सुखदाः सदा॥ १६॥

'मुनिका वेष धारण करके उस विशाल वनमें विचरते

हुए तुझ बुद्धिमान् पुत्रके लिये समस्त देवता और दैत्य सदा सुखदायक हों ॥ १६ ॥

राक्षसानां पिशाचानां रौद्राणां क्रूरकर्मणाम् ।
क्रव्यादानां च सर्वेषां मा भूत् पुत्रक ते भयम् ॥ १७ ॥

'बेटा ! तुम्हें भयंकर राक्षसों, क्रूरकर्मा पिशाचों तथा समस्त मांसभक्षी जन्तुओंसे कभी भय न हो ॥ १७ ॥

प्लवगा वृश्चिका दंशा मशकाश्चैव कानने ।
सरीसृपाश्च कीटाश्च मा भूवन् गहने तव ॥ १८ ॥

'वनमें जो मेढक या वानर, बिच्छू, डाँस, मच्छर, पर्वतीय सर्प और कीड़े होते हैं, वे उस गहन वनमें तुम्हारे लिये हिंसक न हों ॥ १८ ॥

महाद्विपाश्च सिंहाश्च व्याघ्रा ऋक्षाश्च दंष्ट्रिणः ।
महिषाः शृङ्गिणो रौद्रा न ते द्रुह्यन्तु पुत्रक ॥ १९ ॥

'पुत्र ! बड़े-बड़े हाथी, सिंह, व्याघ्र, रीछ, दाढ़वाले अन्य जीव तथा विशाल सींगवाले भयंकर भैंसे वनमें तुमसे द्रोह न करें ॥ १९ ॥

नृमांसभोजना रौद्रा ये चान्ये सर्वजातयः ।
मा च त्वां हिंसिषुः पुत्र मया सम्पूजितास्त्विह ॥ २० ॥

'वत्स ! इनके सिवा जो सभी जातियोंमें नरमांसभक्षी भयंकर प्राणी हैं, वे मेरे द्वारा यहाँ पूजित होकर वनमें तुम्हारी हिंसा न करें ॥ २० ॥

आगमास्ते शिवाः सन्तु सिध्यन्तु च पराक्रमाः ।
सर्वसम्पत्तयो राम स्वस्तिमान् गच्छ पुत्रक ॥ २१ ॥

'बेटा राम ! सभी मार्ग तुम्हारे लिये मङ्गलकारी हों। तुम्हारे पराक्रम सफल हों तथा तुम्हें सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती रहें। तुम सकुशल यात्रा करो ॥ २१ ॥

स्वस्ति तेऽस्त्वान्तरिक्षेभ्यः पार्थिवेभ्यः पुनः पुनः ।
सर्वेभ्यश्चैव देवेभ्यो ये च ते परिपन्थिनः ॥ २२ ॥

'तुम्हें आकाशचारी प्राणियोंसे, भूतलके जीव-जन्तुओंसे, समस्त देवताओंसे तथा जो तुम्हारे शत्रु हैं, उनसे भी सदा कल्याण प्राप्त होता रहे ॥ २२ ॥

शुक्रः सोमश्च सूर्यश्च धनदोऽथ यमस्तथा ।
पान्तु त्वामर्चिता राम दण्डकारण्यवासिनम् ॥ २३ ॥

'श्रीराम ! शुक्र, सोम, सूर्य, कुबेर तथा यम—ये मुझसे पूजित हो दण्डकारण्यमें निवास करते समय सदा तुम्हारी रक्षा करें ॥ २३ ॥

अग्निर्वायुस्तथा धूमो मन्त्राश्चर्षिमुखच्युताः ।
उपस्पर्शनकाले तु पान्तु त्वां रघुनन्दन ॥ २४ ॥

'रघुनन्दन ! स्नान और आचमनके समय अग्नि, वायु, धूम तथा ऋषियोंके मुखसे निकले हुए मन्त्र तुम्हारी रक्षा करें॥

सर्वलोकप्रभुर्ब्रह्मा भूतकर्तृ तथर्षयः ।
ये च शेषाः सुरास्ते तु रक्षन्तु वनवासिनम् ॥ २५ ॥

'समस्त लोकोंके स्वामी ब्रह्मा, जगत्‌के कारणभूत परब्रह्म, ऋषिगण तथा उनके अतिरिक्त जो देवता हैं, वे सब-के-सब वनवासके समय तुम्हारी रक्षा करें' ॥ २५ ॥

इति माल्यैः सुरगणान् गन्धैश्चापि यशस्विनी ।
स्तुतिभिश्चानुरूपाभिरानर्चायतलोचना ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर विशाललोचना यशस्विनी रानी कौसल्याने पुष्पमाला और गन्ध आदि उपचारोंसे तथा अनुरूप स्तुतियों-द्वारा देवताओंका पूजन किया ॥ २६ ॥

ज्वलनं समुपादाय ब्राह्मणेन महात्मना ।
हावयामास विधिना राममङ्गलकारणात् ॥ २७ ॥

उन्होंने श्रीरामकी मङ्गल-कामनासे अग्निको लाकर एक महात्मा ब्राह्मणके द्वारा उसमें विधिपूर्वक होम करवाया ॥

घृतं श्वेतानि माल्यानि समिधश्चैव सर्षपान् ।
उपसम्पादयामास कौसल्या परमाङ्गना ॥ २८ ॥

श्रेष्ठ नारी महारानी कौसल्याने घी, श्वेत पुष्प और माला, समिधा तथा सरसों आदि वस्तुएँ ब्राह्मणके समीप रखवा दीं ॥ २८ ॥

उपाध्यायः स विधिना हुत्वा शान्तिमनामयम् ।
हुतहव्यावशेषेण बाह्यं बलिमकल्पयत् ॥ २९ ॥

पुरोहितजीने समस्त उपद्रवोंकी शान्ति और आरोग्यके उद्देश्यसे विधिपूर्वक अग्निमें होम करके हवनसे बचे हुए हविष्यके द्वारा होमकी वेदीसे बाहर दसों दिशाओंमें इन्द्र आदि लोकपालोंके लिये बलि अर्पित की ॥ २९ ॥

मधुदध्यक्षतघृतैः स्वस्तिवाच्यं द्विजांस्ततः ।
वाचयामास रामस्य वने स्वस्त्ययनक्रियाम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर स्वस्तिवाचनके उद्देश्यसे ब्राह्मणोंको मधु, दही, अक्षत और घृत अर्पित करके 'वनमें श्रीरामका सदा मङ्गल हो' इस कामनासे कौसल्याजीने उन सबसे स्वस्त्ययन-सम्बन्धी मन्त्रोंका पाठ करवाया ॥ ३० ॥

ततस्तस्मै द्विजेन्द्राय राममाता यशस्विनी ।
दक्षिणां प्रददौ काम्यां राघवं चेदमब्रवीत् ॥ ३१ ॥

इसके बाद यशस्विनी श्रीराममाताने उन विप्रवर पुरोहित-जीको उनकी इच्छाके अनुसार दक्षिणा दी और श्रीरघुनाथजी-से इस प्रकार कहा—॥ ३१ ॥

यन्मङ्गलं सहस्राक्षे सर्वदेवनमस्कृते ।
वृत्रनाशे समभवत् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३२ ॥

'वृत्रासुरका नाश करनेके निमित्त सर्वदेववन्दित सहस्र-नेत्रधारी इन्द्रको जो मङ्गलमय आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी हो ॥ ३२ ॥

यन्मङ्गलं सुपर्णस्य विनताकल्पयत् पुरा ।
अमृतं प्रार्थयानस्य तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३३ ॥

'पूर्वकालमें विनतादेवीने अमृत लानेकी इच्छावाले अपने पुत्र गरुड़के लिये जो मङ्गलकृत्य किया था, वही मङ्गल तुम्हें भी प्राप्त हो ॥ ३३ ॥

अमृतोत्पादने दैत्यान् घ्नतो वज्रधरस्य यत् ।
अदितिर्मङ्गलं प्रादात् तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३४ ॥

'अमृतकी उत्पत्तिके समय दैत्योंका संहार करनेवाले वज्रधारी इन्द्रके लिये माता अदितिने जो मङ्गलमय आशीर्वाद दिया था, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी सुलभ हो ॥ ३४ ॥

त्रिविक्रमान् प्रक्रमतो विष्णोरतुलतेजसः ।
यदासीन्मङ्गलं राम तत् ते भवतु मङ्गलम् ॥ ३५ ॥

'श्रीराम ! तीन पगोंको बढ़ाते हुए अनुपम तेजस्वी भगवान् विष्णुके लिये जो मङ्गलाशंसा की गयी थी, वही मङ्गल तुम्हारे लिये भी प्राप्त हो ॥ ३५ ॥

ऋषयः सागरा द्वीपा वेदा लोका दिशश्च ते ।
मङ्गलानि महाबाहो दिशन्तु शुभमङ्गलम् ॥ ३६ ॥

'महाबाहो ! ऋषि, समुद्र, द्वीप, वेद, समस्त लोक और दिशाएँ तुम्हें मङ्गल प्रदान करें। तुम्हारा सदा शुभ मङ्गल हो' ॥

इति पुत्रस्य शेषाश्च कृत्वा शिरसि भामिनी ।
गन्धैश्चापि समालभ्य राममायतलोचना ॥ ३७ ॥
औषधीं च सुसिद्धार्थां विशल्यकरणीं शुभाम् ।
चकार रक्षां कौसल्या मन्त्रैरभिजजाप च ॥ ३८ ॥

इस प्रकार आशीर्वाद देकर विशाललोचना भामिनी कौसल्याने पुत्रके मस्तकपर अक्षत रखकर चन्दन और रोली लगायी तथा सब मनोरथोंको सिद्ध करनेवाली विशल्यकरणी नामक शुभ ओषधि लेकर रक्षाके उद्देश्यसे मन्त्र पढ़ते हुए उसको श्रीरामके हाथमें बाँध दिया; फिर उसमें उत्कर्ष लानेके लिये मन्त्रका जप भी किया ॥ ३७-३८ ॥

उवाचापि प्रहृष्टेव सा दुःखवशवर्तिनी ।
वाङ्मात्रेण न भावेन वाचा संसज्जमानया ॥ ३९ ॥

तदनन्तर दुःखके अधीन हुई कौसल्याने ऊपरसे प्रसन्न-सी होकर मन्त्रोंका स्पष्ट उच्चारण भी किया। उस समय वे वाणीमात्रसे ही मन्त्रोच्चारण कर सकीं, हृदयसे नहीं (क्योंकि हृदय श्रीरामके वियोगकी सम्भावनासे व्यथित था, इसीलिये) वे खेदसे गद्गद, लड़खड़ाती हुई वाणीसे मन्त्र बोल रही थीं॥

आनम्य मूर्ध्नि चाघ्राय परिष्वज्य यशस्विनी ।
अवदत् पुत्रमिष्टार्थो गच्छ राम यथासुखम् ॥ ४० ॥
अरोगं सर्वसिद्धार्थमयोध्यां पुनरागतम् ।
पश्यामि त्वां सुखं वत्स संधितं राजवर्त्मसु ॥ ४१ ॥

इसके बाद उनके मस्तकको कुछ झुकाकर यशस्विनी माताने सूँघा और बेटेको हृदयसे लगाकर कहा—'वत्स राम ! तुम सफलमनोरथ होकर सुखपूर्वक वनको जाओ। जब पूर्णकाम होकर रोगरहित सकुशल अयोध्यामें लौटोगे, उस समय तुम्हें राजमार्गपर स्थित देखकर सुखी होऊँगी ॥ ४०-४१ ॥

प्रणष्टदुःखसंकल्पा हर्षविद्योतितानना ।
द्रक्ष्यामि त्वां वनात् प्राप्तं पूर्णचन्द्रमिवोदितम् ॥ ४२ ॥

'उस समय मेरे दुःखपूर्ण संकल्प मिट जायँगे, मुखपर हर्षजनित उल्लास छा जायगा और मैं वनसे आये हुए तुमको पूर्णिमाकी रातमें उदित हुए पूर्ण चन्द्रमाकी भाँति देखूँगी॥

भद्रासनगतं राम वनवासादिहागतम् ।
द्रक्ष्यामि च पुनस्त्वां तु तीर्णवन्तं पितुर्वचः ॥ ४३ ॥

'श्रीराम ! वनवाससे यहाँ आकर पिताकी प्रतिज्ञाको पूर्ण करके जब तुम राजसिंहासनपर बैठोगे, उस समय मैं पुनः प्रसन्नतापूर्वक तुम्हारा दर्शन करूँगी॥ ४३ ॥

मङ्गलैरुपसम्पन्नो वनवासादिहागतः ।
वध्वाश्च मम नित्यं त्वं कामान् संवर्ध याहि भोः ॥ ४४॥

'अब जाओ और वनवाससे यहाँ लौटकर राजोचित मङ्गलमय वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो तुम सदा मेरी बहू सीताकी समस्त कामनाएँ पूर्ण करते रहो ॥ ४४ ॥

मयार्चिता देवगणाः शिवाद्यो
महर्षयो भूतगणाः सुरोरगाः ।
अभिप्रयातस्य वनं चिराय ते
हितानि काङ्क्षन्तु दिशश्च राघव ॥४५॥

'रघुनन्दन ! मैंने सदा जिनका पूजन और सम्मान किया है, वे शिव आदि देवता, महर्षि, भूतगण, देवोपम नाग और सम्पूर्ण दिशाएँ—ये सब-के-सब वनमें जानेपर चिरकालतक तुम्हारे हितसाधनकी कामना करते रहें' ॥ ४५ ॥

अतीव चाश्रुप्रतिपूर्णलोचना
समाप्य च स्वस्त्ययनं यथाविधि ।
प्रदक्षिणं चापि चकार राघवं
पुनः पुनश्चापि निरीक्ष्य सस्वजे ॥ ४६ ॥

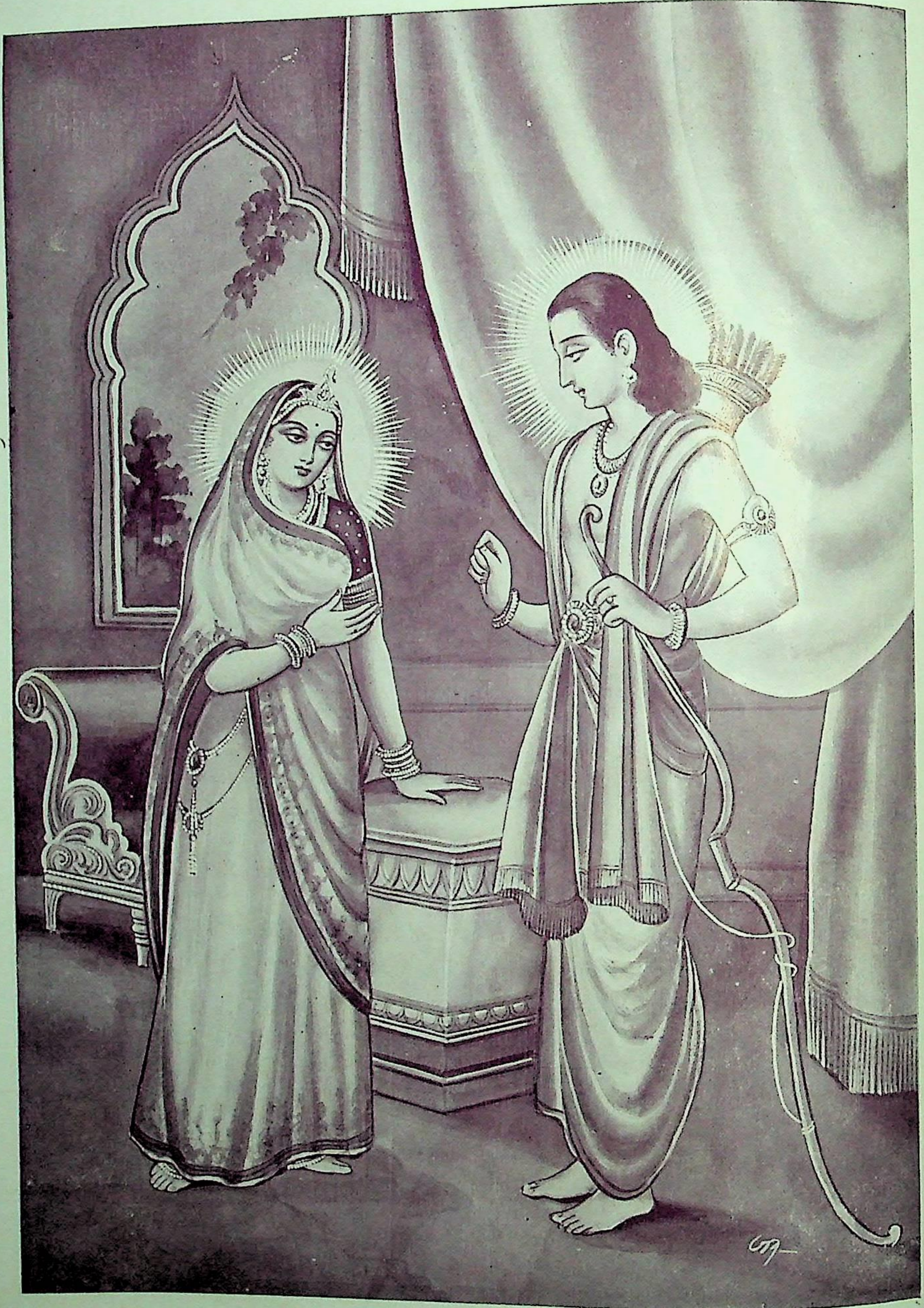
इस प्रकार माताने नेत्रोंमें अत्यन्त आँसू भरकर विधिपूर्वक वह स्वस्तिवाचन कर्म पूर्ण किया। फिर श्रीरामकी परिक्रमा की और बारंबार उनकी ओर देखकर उन्हें छातीसे लगाया ॥ ४६ ॥

तया हि देव्या च कृतप्रदक्षिणो
निपीड्य मातुश्चरणौ पुनः पुनः ।
जगाम सीतानिलयं महायशाः
स राघवः प्रज्वलितस्तया श्रिया ॥४७॥

देवी कौसल्याने जब श्रीरामकी प्रदक्षिणा कर ली, तब महायशस्वी रघुनाथजी बारंबार माताके चरणोंको दबाकर प्रणाम करके माताकी मङ्गलकामनाजनित उत्कृष्ट शोभासे सम्पन्न हो सीताजीके महलकी ओर चल दिये ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चविंशः सर्गः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पचीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २५ ॥



वनगमनके समय श्रीजानकीसे भेंट

षड्विंशः सर्गः

श्रीरामको उदास देखकर सीताका उनसे इसका कारण पूछना और श्रीरामका पिताकी आज्ञासे वनमें जानेका निश्चय बताते हुए सीताको घरमें रहनेके लिये समझाना

अभिवाद्य तु कौसल्यां रामः सम्प्रस्थितो वनम्।
कृतस्वस्त्ययनो मात्रा धर्मिष्ठे वर्त्मनि स्थितः ॥ १ ॥

धर्मिष्ठ मार्गपर स्थित हुए श्रीराम माताद्वारा स्वस्तिवाचन-कर्म सम्पन्न हो जानेपर कौसल्याको प्रणाम करके वहाँसे वनके लिये प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

विराजयन् राजसुतो राजमार्गं नरैर्वृतम्।
हृदयान्याममन्थेव जनस्य गुणवत्तया ॥ २ ॥

उस समय मनुष्योंकी भीड़से भरे हुए राजमार्गको प्रकाशित करते हुए राजकुमार श्रीराम अपने सद्गुणोंके कारण लोगोंके मनको मथने-से लगे (ऐसे गुणवान् श्रीरामको वनवास दिया जा रहा है, यह सोचकर वहाँके लोगोंका जी कचोटने लगा) ॥ २ ॥

वैदेही चापि तत् सर्वं न शुश्राव तपस्विनी।
तदेव हृदि तस्याश्च यौवराज्याभिषेचनम् ॥ ३ ॥

तपस्विनी विदेहनन्दिनी सीताने अभीतक वह सारा हाल नहीं सुना था। उनके हृदयमें यही बात समायी हुई थी कि मेरे पतिका युवराजपदपर अभिषेक हो रहा होगा ॥३॥

देवकार्यं स्म सा कृत्वा कृतज्ञा हृष्टचेतना।
अभिज्ञा राजधर्माणां राजपुत्री प्रतीक्षति ॥ ४ ॥

विदेहराजकुमारी सीता सामयिक कर्तव्यों तथा राजधर्मोंको जानती थीं, अतः देवताओंकी पूजा करके प्रसन्नचित्तसे श्रीरामके आगमनकी प्रतीक्षा कर रही थीं ॥ ४ ॥

प्रविवेशाथ रामस्तु स्ववेश्म सुविभूषितम्।
प्रहृष्टजनसम्पूर्णं ह्रिया किंचिदवाङ्मुखः ॥ ५ ॥

इतनेमें ही श्रीरामने अपने भलीभाँति सजे-सजाये अन्तःपुरमें, जो प्रसन्न मनुष्योंसे भरा हुआ था, प्रवेश किया। उस समय लज्जासे उनका मुख कुछ नीचा हो रहा था ॥ ५ ॥

अथ सीता समुत्पत्य वेपमाना च तं पतिम्।
अपश्यच्छोकसंतप्तं चिन्ताव्याकुलितेन्द्रियम् ॥ ६ ॥

सीता उन्हें देखते ही आसनसे उठकर खड़ी हो गयीं। उनकी अवस्था देखकर काँपने लगीं और चिन्तासे व्याकुल इन्द्रियोंवाले अपने उन शोकसंतप्त पतिको निहारने लगीं ॥ ६ ॥

तां दृष्ट्वा स हि धर्मात्मा न शशाक मनोगतम्।
तं शोकं राघवः सोढुं ततो विवृततां गतः ॥ ७ ॥

धर्मात्मा श्रीराम सीताको देखकर अपने मानसिक शोकका वेग सहन न कर सके, अतः उनका वह शोक प्रकट हो गया ॥ ७ ॥

विवर्णवदनं दृष्ट्वा तं प्रस्विन्नममर्षणम्।
आह दुःखाभिसंतप्ता किमिदानीमिदं प्रभो ॥ ८ ॥

उनका मुख उदास हो गया था। उनके अङ्गोंसे पसीना निकल रहा था। वे अपने शोकको दबाये रखनेमें असमर्थ हो गये थे। उन्हें इस अवस्थामें देखकर सीता दुःखसे संतप्त हो उठीं और बोलीं—'प्रभो! इस समय यह आपकी कैसी दशा है?॥ ८ ॥

अद्य बार्हस्पतः श्रीमान् युक्तः पुष्येण राघव।
प्रोच्यते ब्राह्मणैः प्राज्ञैः केन त्वमसि दुर्मनाः ॥ ९ ॥

'रघुनन्दन! आज बृहस्पति देवता-सम्बन्धी मङ्गलमय पुष्यनक्षत्र है, जो अभिषेकके योग्य है। उसी पुष्यनक्षत्रके योगमें विद्वान् ब्राह्मणोंने आपका अभिषेक बताया है। ऐसे समयमें जब कि आपको प्रसन्न होना चाहिये था, आपका मन इतना उदास क्यों है?॥ ९ ॥

न ते शतशलाकेन जलफेननिभेन च।
आवृतं वदनं वल्गु च्छत्रेणाभिविराजते ॥ १० ॥

'मैं देखती हूँ, इस समय आपका मनोहर मुख जलके फेनके समान उज्ज्वल तथा सौ तीलियोंवाले श्वेत छत्रसे आच्छादित नहीं है, अतएव अधिक शोभा नहीं पा रहा है ॥ १० ॥

व्यजनाभ्यां च मुख्याभ्यां शतपत्रनिभेक्षणम्।
चन्द्रहंसप्रकाशाभ्यां वीज्यते न तवाननम् ॥ ११ ॥

'कमल-जैसे सुन्दर नेत्र धारण करनेवाले आपके इस मुखपर चन्द्रमा और हंसके समान श्वेत वर्णवाले दो श्रेष्ठ चँवरोंद्वारा हवा नहीं की जा रही है ॥ ११ ॥

वाग्मिनो वन्दिनश्चापि प्रहृष्टास्त्वां नरर्षभ।
स्तुवन्तो नाद्य दृश्यन्ते मङ्गलैः सूतमागधाः ॥ १२ ॥

'नरश्रेष्ठ! प्रवचनकुशल वन्दी, सूत और मागधजन आज अत्यन्त प्रसन्न हो अपने माङ्गलिक वचनोंद्वारा आपकी स्तुति करते नहीं दिखायी देते हैं ॥ १२ ॥

न ते क्षौद्रं च दधि च ब्राह्मणा वेदपारगाः।
मूर्ध्नि मूर्धाभिषिक्तस्य ददति स्म विधानतः ॥ १३ ॥

'वेदोंके पारङ्गत विद्वान् ब्राह्मणोंने आज मूर्धाभिषिक्त हुए आपके मस्तकपर तीर्थोदकमिश्रित मधु और दधिका विधिपूर्वक अभिषेक नहीं किया ॥ १३ ॥

न त्वां प्रकृतयः सर्वाः श्रेणीमुख्याश्च भूषिताः।
अनुव्रजितुमिच्छन्ति पौरजानपदास्तथा ॥ १४ ॥

'मन्त्री-सेनापति आदि सारी प्रकृतियाँ, वस्त्राभूषणोंसे विभूषित मुख्य-मुख्य सेठ-साहूकार तथा नगर और जनपदके लोग आज आपके पीछे-पीछे चलनेकी इच्छा नहीं कर रहे हैं ? (इसका क्या कारण है ?) ॥ १४ ॥

चतुर्भिर्वेगसम्पन्नैर्हयैः काञ्चनभूषणैः।
मुख्यः पुष्परथो युक्तः किं न गच्छति तेऽग्रतः ॥ १५ ॥

'सुनहरे साज-बाजसे सजे हुए चार वेगशाली घोड़ोंसे जुता हुआ श्रेष्ठ पुष्परथ (पुष्पभूषित केवल भ्रमणोपयोगी रथ) आज आपके आगे-आगे क्यों नहीं चल रहा है ? ॥ १५ ॥

न हस्ती चाग्रतः श्रीमान् सर्वलक्षणपूजितः।
प्रयाणे लक्ष्यते वीर कृष्णमेघगिरिप्रभः ॥ १६ ॥

'वीर ! आपकी यात्राके समय समस्त शुभ लक्षणोंसे प्रशंसित तथा काले मेघवाले पर्वतके समान विशालकाय तेजस्वी गजराज आज आपके आगे क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १६ ॥

न च काञ्चनचित्रं ते पश्यामि प्रियदर्शन।
भद्रासनं पुरस्कृत्य यान्तं वीर पुरःसरम् ॥ १७ ॥

'प्रियदर्शन वीर ! आज आपके सुवर्णजटित भद्रासनको सादर हाथमें लेकर अग्रगामी सेवक आगे जाता क्यों नहीं दिखायी देता है ? ॥ १७ ॥

अभिषेको यदा सज्जः किमिदानीमिदं तव।
अपूर्वो मुखवर्णश्च न प्रहर्षश्च लक्ष्यते ॥ १८ ॥

'जब अभिषेककी सारी तैयारी हो चुकी है, ऐसे समयमें आपकी यह क्या दशा हो रही है ? आपके मुखकी कान्ति उड़ गयी है। ऐसा पहले कभी नहीं हुआ था। आपके चेहरेपर प्रसन्नताका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता है। इसका क्या कारण है ?' ॥ १८ ॥

इतीव विलपन्तीं तां प्रोवाच रघुनन्दनः।
सीते तत्रभवांस्तातः प्रव्राजयति मां वनम् ॥ १९ ॥

इस प्रकार विलाप करती हुई सीतासे रघुनन्दन श्रीरामने कहा—'सीते ! आज पूज्य पिताजी मुझे वनमें भेज रहे हैं ॥ १९ ॥

कुले महति सम्भूते धर्मज्ञे धर्मचारिणि।
शृणु जानकि येनेदं क्रमेणाद्यागतं मम ॥ २० ॥

'महान् कुलमें उत्पन्न, धर्मको जाननेवाली तथा धर्मपरायणे जनकनन्दिनि ! जिस कारण यह वनवास आज मुझे प्राप्त हुआ है, वह क्रमशः बताता हूँ, सुनो ॥ २० ॥

राज्ञा सत्यप्रतिज्ञेन पित्रा दशरथेन वै।
कैकेय्यै मम मात्रे तु पुरा दत्तौ महावरौ ॥ २१ ॥

'मेरे सत्यप्रतिज्ञ पिता महाराज दशरथने माता कैकेयीको पहले कभी दो महान् वर दिये थे ॥ २१ ॥

तयाद्य मम सज्जेऽस्मिन्नभिषेके नृपोद्यते।
प्रचोदितः स समयो धर्मेण प्रतिनिर्जितः ॥ २२ ॥

'इधर जब महाराजके उद्योगसे मेरे राज्याभिषेककी तैयारी होने लगी, तब कैकेयीने उस वरदानकी प्रतिज्ञाको याद दिलाया और महाराजको धर्मतः अपने काबूमें कर लिया ॥

चतुर्दश हि वर्षाणि वस्तव्यं दण्डके मया।
पित्रा मे भरतश्चापि यौवराज्ये नियोजितः ॥ २३ ॥

'इससे विवश होकर पिताजीने भरतको तो युवराजके पदपर नियुक्त किया और मेरे लिये दूसरा वर स्वीकार किया, जिसके अनुसार मुझे चौदह वर्षोंतक दण्डकारण्यमें निवास करना होगा ॥ २३ ॥

सोऽहं त्वामागतो द्रष्टुं प्रस्थितो विजनं वनम्।
भरतस्य समीपे ते नाहं कथ्यः कदाचन ॥ २४ ॥
ऋद्धियुक्ता हि पुरुषा न सहन्ते परस्तवम्।
तस्मान्न ते गुणाः कथ्या भरतस्याग्रतो मम ॥ २५ ॥

'इस समय मैं निर्जन वनमें जानेके लिये प्रस्थान कर चुका हूँ और तुमसे मिलनेके लिये यहाँ आया हूँ। तुम भरतके समीप कभी मेरी प्रशंसा न करना; क्योंकि समृद्धिशाली पुरुष दूसरेकी स्तुति नहीं सहन कर पाते हैं। इसीलिये कहता हूँ कि तुम भरतके सामने मेरे गुणोंकी प्रशंसा न करना ॥ २४-२५ ॥

अहं ते नानुवक्तव्यो विशेषेण कदाचन।
अनुकूलतया शक्यं समीपे तस्य वर्तितुम् ॥ २६ ॥

'विशेषतः तुम्हें भरतके समक्ष अपनी सखियोंके साथ भी बारंबार मेरी चर्चा नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उनके मनके अनुकूल बर्ताव करके ही तुम उनके निकट रह सकती हो ॥ २६ ॥

तस्मै दत्तं नृपतिना यौवराज्यं सनातनम्।
स प्रसाद्यस्त्वया सीते नृपतिश्च विशेषतः ॥ २७ ॥

'सीते ! राजाने उन्हें सदाके लिये युवराजपद दे दिया है, इसलिये तुम्हें विशेष प्रयत्नपूर्वक उन्हें प्रसन्न रखना चाहिये; क्योंकि अब वे ही राजा होंगे ॥ २७ ॥

अहं चापि प्रतिज्ञां तां गुरोः समनुपालयन्।
वनमद्यैव यास्यामि स्थिरीभव मनस्विनि ॥ २८ ॥

'मैं भी पिताजीकी उस प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये आज ही वनको चला जाऊँगा। मनस्विनि ! तुम धैर्य धारण करके रहना ॥ २८ ॥

याते च मयि कल्याणि वनं मुनिनिषेवितम्।
व्रतोपवासपरया भवितव्यं त्वयानघे ॥ २९ ॥

'कल्याणि ! निष्पाप सीते ! मेरे मुनिजनसेवित वनको चले जानेपर तुम्हें प्रायः व्रत और उपवासमें संलग्न रहना चाहिये ॥ २९ ॥

कल्यमुत्थाय देवानां कृत्वा पूजां यथाविधि ।
वन्दितव्यो दशरथः पिता मम जनेश्वरः ॥ ३० ॥

'प्रतिदिन सवेरे उठकर देवताओंकी विधिपूर्वक पूजा करके तुम्हें मेरे पिता महाराज दशरथकी वन्दना करनी चाहिये ॥ ३० ॥

माता च मम कौसल्या वृद्धा संतापकर्शिता ।
धर्ममेवाग्रतः कृत्वा त्वत्तः सम्मानमर्हति ॥ ३१ ॥

'मेरी माता कौसल्याको भी प्रणाम करना चाहिये । एक तो वे बूढ़ी हुईं, दूसरे दुःख और संतापने उन्हें दुर्बल कर दिया है; अतः धर्मको ही सामने रखकर तुमसे वे विशेष सम्मान पानेके योग्य हैं ॥ ३१ ॥

वन्दितव्याश्च ते नित्यं याः शेषा मम मातरः ।
स्नेहप्रणयसम्भोगैः समा हि मम मातरः ॥ ३२ ॥

'जो मेरी शेष माताएँ हैं, उनके चरणोंमें भी तुम्हें प्रतिदिन प्रणाम करना चाहिये; क्योंकि स्नेह, उत्कृष्ट प्रेम और पालन-पोषणकी दृष्टिसे सभी माताएँ मेरे लिये समान हैं ॥ ३२ ॥

भ्रातृपुत्रसमौ चापि द्रष्टव्यौ च विशेषतः ।
त्वया भरतशत्रुघ्नौ प्राणैः प्रियतरौ मम ॥ ३३ ॥

'भरत और शत्रुघ्न मुझे प्राणोंसे भी बढ़कर प्रिय हैं, अतः तुम्हें उन दोनोंको विशेषतः अपने भाई और पुत्रके समान देखना और मानना चाहिये ॥ ३३ ॥

विप्रियं च न कर्तव्यं भरतस्य कदाचन ।
स हि राजा च वैदेहि देशस्य च कुलस्य च ॥ ३४ ॥

'विदेहनन्दिनि ! तुम्हें भरतकी इच्छाके विरुद्ध कोई काम नहीं करना चाहिये; क्योंकि इस समय वे मेरे देश और कुलके राजा हैं ॥ ३४ ॥

आराधिता हि शीलेन प्रयत्नैश्चोपसेविताः ।
राजानः सम्प्रसीदन्ति प्रकुप्यन्ति विपर्यये ॥ ३५ ॥

'अनुकूल आचरणके द्वारा आराधना और प्रयत्नपूर्वक सेवा करनेपर राजा लोग प्रसन्न होते हैं तथा विपरीत बर्ताव करनेपर वे कुपित हो जाते हैं ॥ ३५ ॥

औरस्यानपि पुत्रान् हि त्यजन्त्यहितकारिणः ।
समर्थान् सम्प्रगृह्णन्ति जनानपि नराधिपाः ॥ ३६ ॥

'जो अहित करनेवाले हैं, वे अपने औरस पुत्र ही क्यों न हों, राजा उन्हें त्याग देते हैं और आत्मीय न होनेपर भी जो सामर्थ्यवान् होते हैं, उन्हें वे अपना बना लेते हैं ॥ ३६ ॥

सा त्वं वसेह कल्याणि राज्ञः समनुवर्तिनी ।
भरतस्य रता धर्मे सत्यव्रतपरायणा ॥ ३७ ॥

'अतः कल्याणि ! तुम राजा भरतके अनुकूल बर्ताव करती हुई धर्म एवं सत्यव्रतमें तत्पर रहकर यहाँ निवास करो ॥

अहं गमिष्यामि महावनं प्रिये
त्वया हि वस्तव्यमिहैव भामिनि।
यथा व्यलीकं कुरुषे न कस्यचित्-
तथा त्वया कार्यमिदं वचो मम॥ ३८ ॥

'प्रिये ! अब मैं उस विशाल वनमें चला जाऊँगा। भामिनि ! तुम्हें यहीं निवास करना होगा। तुम्हारे बर्तावसे किसी-को कष्ट न हो, इसका ध्यान रखते हुए तुम्हें यहाँ मेरी इस आज्ञाका पालन करते रहना चाहिये' ॥ ३८ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे षड्विंशः सर्गः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें छब्बीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशः सर्गः

सीताकी श्रीरामसे अपनेको भी साथ ले चलनेके लिये प्रार्थना

एवमुक्ता तु वैदेही प्रियार्हा प्रियवादिनी ।
प्रणयादेव संक्रुद्धा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर प्रियवादिनी विदेहकुमारी सीताजी, जो सब प्रकारसे अपने स्वामीका प्यार पाने योग्य थीं, प्रेमसे ही कुछ कुपित होकर पतिसे इस प्रकार बोलीं—॥ १ ॥

किमिदं भाषसे राम वाक्यं लघुतया ध्रुवम् ।
त्वया यदपहास्यं मे श्रुत्वा नरवरोत्तम ॥ २ ॥

'नरश्रेष्ठ श्रीराम ! आप मुझे ओछी समझकर यह क्या कह रहे हैं ? आपकी ये बातें सुनकर मुझे बहुत हँसी आती है ॥ २ ॥

वीराणां राजपुत्राणां शस्त्रास्त्रविदुषां नृप ।
अनर्हमयशस्यं च न श्रोतव्यं त्वयेरितम् ॥ ३ ॥

'नरेश्वर ! आपने जो कुछ कहा है, वह अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञाता वीर राजकुमारोंके योग्य नहीं है। वह अपयशका टीका लगानेवाला होनेके कारण सुनने योग्य भी नहीं है ॥ ३ ॥

आर्यपुत्र पिता माता भ्राता पुत्रस्तथा स्नुषा ।

स्वानि पुण्यानि भुञ्जानाः स्वं स्वं भाग्यमुपासते॥ ४ ॥

'आर्यपुत्र ! पिता, माता, भाई, पुत्र और पुत्रवधू—ये सब पुण्यादि कर्मोंका फल भोगते हुए अपने-अपने भाग्य (शुभाशुभ कर्म) के अनुसार जीवन-निर्वाह करते हैं ॥ ४ ॥

भर्तुर्भाग्यं तु नार्येका प्राप्नोति पुरुषर्षभ।
अतश्चैवाहमादिष्टा वने वस्तव्यमित्यपि ॥ ५ ॥

'पुरुषप्रवर ! केवल पत्नी ही अपने पतिके भाग्यका अनुसरण करती है, अतः आपके साथ ही मुझे भी वनमें रहनेकी आज्ञा मिल गयी है ॥ ५ ॥

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥ ६ ॥

'नारियोंके लिये इस लोक और परलोकमें एकमात्र पति ही सदा आश्रय देनेवाला है। पिता, पुत्र, माता, सखियाँ तथा अपना यह शरीर भी उसका सच्चा सहायक नहीं है ॥ ६ ॥

यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव।
अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकान् ॥ ७ ॥

'रघुनन्दन ! यदि आप आज ही दुर्गम वनकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं तो मैं रास्तेके कुश और काँटोंको कुचलती हुई आपके आगे-आगे चलूँगी ॥ ७ ॥

ईर्ष्यां रोषं बहिष्कृत्य भुक्तशेषमिवोदकम्।
नय मां वीर विस्रब्धः पापं मयि न विद्यते ॥ ८ ॥

'अतः वीर ! आप ईर्ष्या[1] और रोषको[2] दूर करके पीनेसे[3] बचे हुए जलकी भाँति मुझे निःशङ्क होकर साथ ले चलिये। मुझमें ऐसा कोई पाप—अपराध नहीं है, जिसके कारण आप मुझे यहाँ त्याग दें ॥ ८ ॥

प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥ ९ ॥

'ऊँचे-ऊँचे महलोंमें रहना, विमानोंपर चढ़कर घूमना अथवा अणिमा आदि सिद्धियोंके द्वारा आकाशमें विचरना—इन सबकी अपेक्षा स्त्रीके लिये सभी अवस्थाओंमें पतिके चरणोंकी छायामें रहना विशेष महत्त्व रखता है ॥ ९ ॥

अनुशिष्टास्मि मात्रा च पित्रा च विविधाश्रयम्।
नास्मि सम्प्रति वक्तव्या वर्तितव्यं यथा मया ॥ १० ॥

'मुझे किसके साथ कैसा बर्ताव करना चाहिये, इस विषयमें मेरी माता और पिताने मुझे अनेक प्रकारसे शिक्षा दी है। इस समय इसके विषयमें मुझे कोई उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ १० ॥

अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम्।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥ ११ ॥

'अतः नाना प्रकारके वन्य पशुओंसे व्याप्त तथा सिंहों और व्याघ्रोंसे सेवित उस निर्जन एवं दुर्गम वनमें मैं अवश्य चलूँगी ॥ ११ ॥

सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥ १२ ॥

'मैं तो जैसे अपने पिताके घरमें रहती थी, उसी प्रकार उस वनमें भी सुखपूर्वक निवास करूँगी। वहाँ तीनों लोकोंके ऐश्वर्यको भी कुछ न समझती हुई मैं सदा पतिव्रत धर्मका चिन्तन करती हुई आपकी सेवामें लगी रहूँगी ॥ १२ ॥

शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी।
सह रंस्ये त्वया वीर वनेषु मधुगन्धिषु ॥ १३ ॥

'वीर ! नियमपूर्वक रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करूँगी और सदा आपकी सेवामें तत्पर रहकर आपहीके साथ मीठी-मीठी सुगन्धसे भरे हुए वनोंमें विचरूँगी ॥ १३ ॥

त्वं हि कर्तुं वने शक्तो राम सम्परिपालनम्।
अन्यस्यापि जनस्येह किं पुनर्मम मानद ॥ १४ ॥

'दूसरोंको मान देनेवाले श्रीराम ! आप तो वनमें रहकर दूसरे लोगोंकी भी रक्षा कर सकते हैं, फिर मेरी रक्षा करना आपके लिये कौन बड़ी बात है ? ॥ १४ ॥

साहं त्वया गमिष्यामि वनमद्य न संशयः।
नाहं शक्या महाभाग निवर्तयितुमुद्यता ॥ १५ ॥

'महाभाग ! अतः मैं आपके साथ आज अवश्य वनमें चलूँगी। इसमें संशय नहीं है। मैं हर तरह चलनेको तैयार हूँ। मुझे किसी तरह भी रोका नहीं जा सकता ॥ १५ ॥

फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सदा ॥ १६ ॥

'वहाँ चलकर मैं आपको कोई कष्ट नहीं दूँगी, सदा आपके साथ रहूँगी और प्रतिदिन फल-मूल खाकर ही निर्वाह करूँगी। मेरे इस कथनमें किसी प्रकारके संदेहके लिये स्थान नहीं है ॥ १६ ॥

अग्रतस्ते गमिष्यामि भोक्ष्ये भुक्तवति त्वयि।
इच्छामि परतः शैलान् पल्वलानि सरांसि च ॥ १७ ॥
द्रष्टुं सर्वत्र निर्भीता त्वया नाथेन धीमता।

'आपके आगे-आगे चलूँगी और आपके भोजन कर लेनेपर जो कुछ बचेगा, उसे ही खाकर रहूँगी। प्रभो ! मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं आप बुद्धिमान् प्राणनाथके साथ निर्भय हो वनमें सर्वत्र घूमकर पर्वतों, छोटे-छोटे तालाबों और सरोवरोंको देखूँ ॥ १७½ ॥

१. स्त्री होकर यह वनमें जानेका साहस कैसे करती है ? इस विचारसे ईर्ष्या होती है। २. यह मेरी बात नहीं मान रही है, यह सोचकर रोष प्रकट होता है। इन दोनोंका त्याग अपेक्षित है। ३. जैसे किसी जलहीन बीहड़ पथमें लोग अपने पीनेसे बचे हुए पानीको साथ ले चलते हैं, उसी प्रकार मुझे भी आप साथ ले चलें—यह सीताका अनुरोध है।

हंसकारण्डवाकीर्णाः पद्मिनीः साधुपुष्पिताः ॥ १८ ॥
इच्छेयं सुखिनी द्रष्टुं त्वया वीरेण संगता ।

'आप मेरे वीर स्वामी हैं। मैं आपके साथ रहकर सुखपूर्वक उन सुन्दर सरोवरोंकी शोभा देखना चाहती हूँ, जो श्रेष्ठ कमलपुष्पोंसे सुशोभित हैं तथा जिनमें हंस और कारण्डव आदि पक्षी भरे रहते हैं ॥ १८½ ॥

अभिषेकं करिष्यामि तासु नित्यमनुव्रता ॥ १९ ॥
सह त्वया विशालाक्ष रंस्ये परमनन्दिनी ।

'विशाल नेत्रोंवाले आर्यपुत्र ! आपके चरणोंमें अनुरक्त रहकर मैं प्रतिदिन उन सरोवरोंमें स्नान करूँगी और आपके साथ वहाँ सब ओर विचरूँगी, इससे मुझे परम आनन्दका अनुभव होगा ॥ १९½ ॥

एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ॥ २० ॥
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः ।

'इस तरह सैकड़ों या हजारों वर्षोंतक भी यदि आपके साथ रहनेका सौभाग्य मिले तो मुझे कभी कष्टका अनुभव नहीं होगा। यदि आप साथ न हों तो मुझे स्वर्गलोककी प्राप्ति भी अभीष्ट नहीं है ॥ २०½ ॥

स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव ।
त्वया विना नरव्याघ्र नाहं तदपि रोचये ॥ २१ ॥

'पुरुषसिंह रघुनन्दन ! आपके बिना यदि मुझे स्वर्गलोकका निवास भी मिल रहा हो तो वह मेरे लिये रुचिकर नहीं हो सकता—मैं उसे लेना नहीं चाहूँगी ॥ २१ ॥

अहं गमिष्यामि वनं सुदुर्गमं
मृगायुतं वानरवारणैश्च ।
वने निवत्स्यामि यथा पितुर्गृहे
तवैव पादावुपगृह्य सम्मता ॥ २२ ॥

'प्राणनाथ ! अतः उस अत्यन्त दुर्गम वनमें, जहाँ सहस्रों मृग, वानर और हाथी निवास करते हैं, मैं अवश्य चलूँगी और आपके ही चरणोंकी सेवामें रहकर आपके अनुकूल चलती हुई उस वनमें उसी तरह सुखसे रहूँगी, जैसे पिताके घरमें रहा करती थी ॥ २२ ॥

अनन्यभावामनुरक्तचेतसं
त्वया वियुक्तां मरणाय निश्चिताम् ।
नयस्व मां साधु कुरुष्व याचनां
नातो मया ते गुरुता भविष्यति ॥ २३ ॥

'मेरे हृदयका सम्पूर्ण प्रेम एकमात्र आपको ही अर्पित है, आपके सिवा और कहीं मेरा मन नहीं जाता, यदि आपसे वियोग हुआ तो निश्चय ही मेरी मृत्यु हो जायगी। इसलिये आप मेरी याचना सफल करें, मुझे साथ ले चलें, यही अच्छा होगा; मेरे रहनेसे आपपर कोई भार नहीं पड़ेगा' ॥ २३ ॥

तथा ब्रुवाणामपि धर्मवत्सलां
न च स्म सीतां नृवरो निनीषति ।
उवाच चैनां बहु संनिवर्तने
वने निवासस्य च दुःखितां प्रति ॥ २४ ॥

धर्ममें अनुरक्त रहनेवाली सीताके इस प्रकार प्रार्थना करनेपर भी नरश्रेष्ठ श्रीरामको उन्हें साथ ले जानेकी इच्छा नहीं हुई। वे उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये वहाँके कष्टोंका अनेक प्रकारसे विस्तारपूर्वक वर्णन करने लगे ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे सप्तविंशः सर्गः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें सत्ताईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशः सर्गः

श्रीरामका वनवासके कष्टका वर्णन करते हुए सीताको वहाँ चलनेसे मना करना

स एवं ब्रुवतीं सीतां धर्मज्ञां धर्मवत्सलः ।
न नेतुं कुरुते बुद्धिं वने दुःखानि चिन्तयन् ॥ १ ॥

धर्मको जाननेवाली सीताके इस प्रकार कहनेपर भी धर्मवत्सल श्रीरामने वनमें होनेवाले दुःखोंको सोचकर उन्हें साथ ले जानेका विचार नहीं किया ॥ १ ॥

सान्त्वयित्वा ततस्तां तु बाष्पदूषितलोचनाम् ।
निवर्तनार्थे धर्मात्मा वाक्यमेतदुवाच ह ॥ २ ॥

सीताके नेत्रोंमें आँसू भरे हुए थे। धर्मात्मा श्रीराम उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये सान्त्वना देते हुए इस प्रकार बोले—॥ २ ॥

सीते महाकुलीनासि धर्मे च निरता सदा ।
इहाचरस्व धर्मं त्वं यथा मे मनसः सुखम् ॥ ३ ॥

'सीते ! तुम अत्यन्त उत्तम कुलमें उत्पन्न हुई हो और सदा धर्मके आचरणमें ही लगी रहती हो; अतः यहीं रहकर धर्मका पालन करो, जिससे मेरे मनको संतोष हो ॥ ३ ॥

सीते यथा त्वां वक्ष्यामि तथा कार्यं त्वयाबले ।
वने दोषा हि बहवो वसतस्तान् निबोध मे ॥ ४ ॥

'सीते ! मैं तुमसे जैसा कहूँ, वैसा ही करना तुम्हारा कर्तव्य है। तुम अबला हो, वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से दोष प्राप्त होते हैं; उन्हें बता रहा हूँ, मुझसे सुनो ॥

सीते विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते॥ ५॥

'सीते! वनवासके लिये चलनेका यह विचार छोड़ दो, वनको अनेक प्रकारके दोषोंसे व्याप्त और दुर्गम बताया जाता है॥ ५॥

हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम्॥ ६॥

'तुम्हारे हितकी भावनासे ही मैं ये सब बातें कह रहा हूँ। जहाँतक मेरी जानकारी है, वनमें सदा सुख नहीं मिलता। वहाँ तो सदा दुःख ही मिला करता है॥ ६॥

गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम्।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम्॥ ७॥

'पर्वतोंसे गिरनेवाले झरनोंके शब्दको सुनकर उन पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहनेवाले सिंह दहाड़ने लगते हैं। उनकी वह गर्जना सुननेमें बड़ी दुःखदायिनी प्रतीत होती है, इसलिये वन दुःखमय ही है॥ ७॥

क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः।
दृष्ट्वा समभिवर्तन्ते सीते दुःखमतो वनम्॥ ८॥

'सीते! सूने वनमें निर्भय होकर क्रीड़ा करनेवाले मतवाले जंगली पशु मनुष्यको देखते ही उसपर चारों ओरसे टूट पड़ते हैं; अतः वन दुःखसे भरा हुआ है॥ ८॥

सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम्॥ ९॥

'वनमें जो नदियाँ होती हैं, उनके भीतर ग्राह निवास करते हैं, उनमें कीचड़ अधिक होनेके कारण उन्हें पार करना अत्यन्त कठिन होता है। इसके सिवा वनमें मतवाले हाथी सदा घूमते रहते हैं। इन सब कारणोंसे वन बहुत ही दुःखदायक होता है॥ ९॥

लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम्॥ १०॥

'वनके मार्ग लताओं और काँटोंसे भरे रहते हैं। वहाँ जंगली मुर्गे बोला करते हैं, उन मार्गोंपर चलनेमें बड़ा कष्ट होता है तथा वहाँ आस-पास जल नहीं मिलता, इससे वनमें दुःख-ही-दुःख है॥ १०॥

सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयंभग्नासु भूतले।
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम्॥ ११॥

'दिनभरके परिश्रमसे थके-माँदे मनुष्यको रातमें जमीनके ऊपर अपने-आप गिरे हुए सूखे पत्तोंके बिछौनेपर सोना पड़ता है, अतः वन दुःखसे भरा हुआ है॥ ११॥

अहोरात्रं च संतोषः कर्तव्यो नियतात्मना।
फलैर्वृक्षावपतितैः सीते दुःखमतो वनम्॥ १२॥

'सीते! वहाँ मनको वशमें रखकर वृक्षोंसे स्वतः गिरे हुए फलोंके आहारपर ही दिन-रात संतोष करना पड़ता है, अतः वन दुःख देनेवाला ही है॥ १२॥

उपवासश्च कर्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि।
जटाभारश्च कर्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम्॥ १३॥

'मिथिलेशकुमारी! अपनी शक्तिके अनुसार उपवास करना, सिरपर जटाका भार ढोना और वल्कल वस्त्र धारण करना—यही वहाँकी जीवनशैली है॥ १३॥

देवतानां पितॄणां च कर्तव्यं विधिपूर्वकम्।
प्राप्तानामतिथीनां च नित्यशः प्रतिपूजनम्॥ १४॥

'देवताओंका, पितरोंका तथा आये हुए अतिथियोंका प्रतिदिन शास्त्रोक्तविधिके अनुसार पूजन करना—यह वनवासीका प्रधान कर्तव्य है॥ १४॥

कार्यस्त्रिरभिषेकश्च काले काले च नित्यशः।
चरतां नियमेनैव तस्माद् दुःखतरं वनम्॥ १५॥

'वनवासीको प्रतिदिन नियमपूर्वक तीनों समय स्नान करना होता है। इसलिये वन बहुत ही कष्ट देनेवाला है॥ १५॥

उपहारश्च कर्तव्यः कुसुमैः स्वयमाहृतैः।
आर्षेण विधिना वेद्यां सीते दुःखमतो वनम्॥ १६॥

'सीते! वहाँ स्वयं चुनकर लाये हुए फूलोंद्वारा वेदोक्तविधिसे वेदीपर देवताओंकी पूजा करनी पड़ती है। इसलिये वनको कष्टप्रद कहा गया है॥ १६॥

यथालब्धेन कर्तव्यः संतोषस्तेन मैथिलि।
यताहारैर्वनचरैः सीते दुःखमतो वनम्॥ १७॥

'मिथिलेशकुमारी जानकी! वनवासियोंको जब जैसा आहार मिल जाय उसीपर संतोष करना पड़ता है; अतः वन दुःखरूप ही है॥ १७॥

अतीव वातस्तिमिरं बुभुक्षा चाति नित्यशः।
भयानि च महान्त्यत्र ततो दुःखतरं वनम्॥ १८॥

'वनमें प्रचण्ड आँधी, घोर अन्धकार, प्रतिदिन भूखका कष्ट तथा और भी बड़े-बड़े भय प्राप्त होते हैं, अतः वन अत्यन्त कष्टप्रद है॥ १८॥

सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि।
चरन्ति पथि ते दर्पात् ततो दुःखतरं वनम्॥ १९॥

'भामिनि! वहाँ बहुत-से पहाड़ी सर्प, जो अनेक प्रकारके रूपवाले होते हैं, दर्पवश बीच रास्तेमें विचरते रहते हैं; अतः वन अत्यन्त कष्टदायक है॥ १९॥

नदीनीलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम्॥ २०॥

'जो नदियोंमें निवास करते और नदियोंके समान ही

कुटिल गतिसे चलते हैं, ऐसे बहुसंख्यक सर्प वनमें रास्तेको घेरकर पड़े रहते हैं; इसलिये वन बहुत ही कष्टदायक है ॥ २० ॥

पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले सर्वं दुःखमतो वनम् ॥ २१ ॥

'अबले ! पतंगे, बिच्छू, कीड़े, डाँस और मच्छर वहाँ सदा कष्ट पहुँचाते रहते हैं; अतः सारा वन दुःखरूप ही है ॥

द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि ।
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम् ॥ २२ ॥

'भामिनि ! वनमें काँटेदार वृक्ष, कुश और कास होते हैं, जिनकी शाखाओंके अग्रभाग सब ओर फैले हुए होते हैं; इसलिये वन विशेष कष्टदायक होता है ॥ २२ ॥

कायक्लेशाश्च बहवो भयानि विविधानि च ।
अरण्यवासे वसतो दुःखमेव सदा वनम् ॥ २३ ॥

'वनमें निवास करनेवाले मनुष्यको बहुत-से शारीरिक क्लेशों और नाना प्रकारके भयोंका सामना करना पड़ता है, अतः वन सदा दुःखरूप ही होता है ॥ २३ ॥

क्रोधलोभौ विमोक्तव्यौ कर्तव्या तपसे मतिः ।
न भेतव्यं च भेतव्ये दुःखं नित्यमतो वनम् ॥ २४ ॥

'वहाँ क्रोध और लोभको त्याग देना होता है, तपस्यामें मन लगाना पड़ता है और जहाँ भयका स्थान है, वहाँ भी भयभीत न होनेकी आवश्यकता होती है; अतः वनमें सदा दुःख-ही-दुःख है ॥ २४ ॥

तदलं ते वनं गत्वा क्षेमं नहि वनं तव ।
विमृशन्निव पश्यामि बहुदोषकरं वनम् ॥ २५ ॥

'इसलिये तुम्हारा वनमें जाना ठीक नहीं है। वहाँ जाकर तुम सकुशल नहीं रह सकती। मैं बहुत सोच विचारकर देखता और समझता हूँ—कि वनमें रहना अनेक दोषोंका उत्पादक बहुत ही कष्टदायक है ॥ २५ ॥

वनं तु नेतुं न कृता मतिर्यदा
बभूव रामेण तदा महात्मना ।
न तस्य सीता वचनं चकार तं
ततोऽब्रवीद् राममिदं सुदुःखिता ॥ २६ ॥

जब महात्मा श्रीरामने उस समय सीताको वनमें ले जानेका विचार नहीं किया, तब सीताने भी उनकी उस बातको नहीं माना। वे अत्यन्त दुखी होकर श्रीरामसे इस प्रकार बोलीं ॥ २६ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डेऽष्टाविंशः सर्गः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें अट्ठाईसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २८ ॥

एकोनत्रिंशः सर्गः

सीताका श्रीरामके समक्ष उनके साथ अपने वनगमनका औचित्य बताना

एतत् तु वचनं श्रुत्वा सीता रामस्य दुःखिता ।
प्रसक्ताश्रुमुखी मन्दमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामचन्द्रजीकी यह बात सुनकर सीताको बड़ा दुःख हुआ, उनके मुखपर आँसुओंकी धारा बह चली और वे धीरे-धीरे इस प्रकार कहने लगीं—॥ १ ॥

ये त्वया कीर्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता ॥ २ ॥

'प्राणनाथ ! आपने वनमें रहनेके जो-जो दोष बताये हैं, वे सब आपका स्नेह पाकर मेरे लिये गुणरूप हो जायँगे। इस बातको आप अच्छी तरह समझ लें ॥ २ ॥

मृगाः सिंहा गजाश्चैव शार्दूलाः शरभास्तथा ।
चमराः सृमराश्चैव ये चान्ये वनचारिणः ॥ ३ ॥
अदृष्टपूर्वरूपत्वात् सर्वे ते तव राघव ।
रूपं दृष्ट्वापसर्पेयुस्तव सर्वे हि बिभ्यति ॥ ४ ॥

'रघुनन्दन ! मृग, सिंह, हाथी, शेर, शरभ, चमरी गाय, नीलगाय तथा जो अन्य जंगली जीव हैं, वे सब-के-सब आपका रूप देखकर भाग जायँगे; क्योंकि ऐसा प्रभावशाली स्वरूप उन्होंने पहले कभी नहीं देखा होगा। आपसे तो सभी डरते हैं; फिर वे पशु क्यों नहीं डरेंगे ? ॥ ३-४ ॥

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम त्यक्तव्यमिह जीवितम् ॥ ५ ॥

'श्रीराम ! मुझे गुरुजनोंकी आज्ञासे निश्चय ही आपके साथ चलना है; क्योंकि आपका वियोग हो जानेपर मैं यहाँ अपने जीवनका परित्याग कर दूँगी ॥ ५ ॥

नहि मां त्वत्समीपस्थामपि शक्तोऽपि राघव ।
सुराणामीश्वरः शक्तः प्रधर्षयितुमोजसा ॥ ६ ॥

'रघुनाथजी ! आपके समीप रहनेपर देवताओंके राजा इन्द्र भी बलपूर्वक मेरा तिरस्कार नहीं कर सकते ॥ ६ ॥

पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।
काममेवंविधं राम त्वया मम निदर्शितम् ॥ ७ ॥

'श्रीराम ! पतिव्रता स्त्री अपने पतिसे वियोग होनेपर जीवित नहीं रह सकेगी; ऐसी बात आपने भी मुझे भलीभाँति दर्शायी है ॥ ७ ॥

अथापि च महाप्राज्ञ ब्राह्मणानां मया श्रुतम् ।
पुरा पितृगृहे सत्यं वस्तव्यं किल मे वने ॥ ८ ॥

'महाप्राज्ञ ! यद्यपि वनमें दोष और दुःख ही भरे हैं, तथापि अपने पिताके घरपर रहते समय मैं ब्राह्मणोंके मुखसे पहले यह बात सुन चुकी हूँ कि 'मुझे अवश्य ही वनमें रहना पड़ेगा' यह बात मेरे जीवनमें सत्य होकर रहेगी ॥ ८ ॥

लक्षणिभ्यो द्विजातिभ्यः श्रुत्वाहं वचनं गृहे ।
वनवासकृतोत्साहा नित्यमेव महाबल ॥ ९ ॥

'महाबली वीर ! हस्तरेखा देखकर भविष्यकी बातें जान लेनेवाले ब्राह्मणोंके मुखसे अपने घरपर ऐसी बात सुनकर मैं सदा ही वनवासके लिये उत्साहित रहती हूँ ॥ ९ ॥

आदेशो वनवासस्य प्राप्तव्यः स मया किल ।
सा त्वया सह तत्राहं यास्यामि प्रिय नान्यथा ॥ १० ॥

'प्रियतम ! ब्राह्मणसे ज्ञात हुआ वनमें रहनेका आदेश एक-न-एक दिन मुझे पूरा करना ही पड़ेगा, यह किसी तरह पलट नहीं सकता । अतः मैं अपने स्वामी आपके साथ वनमें अवश्य चलूँगी ॥ १० ॥

कृतादेशा भविष्यामि गमिष्यामि त्वया सह ।
कालश्चायं समुत्पन्नः सत्यवान् भवतु द्विजः ॥ ११ ॥

'ऐसा होनेसे मैं उस भाग्यके विधानको भोग लूँगी । उसके लिये यह समय आ गया है, अतः आपके साथ मुझे चलना ही है; इससे उस ब्राह्मणकी बात भी सच्ची हो जायगी ॥ ११ ॥

वनवासे हि जानामि दुःखानि बहुधा किल ।
प्राप्यन्ते नियतं वीर पुरुषैरकृतात्मभिः ॥ १२ ॥

'वीर ! मैं जानती हूँ कि वनवासमें अवश्य ही बहुत-से दुःख प्राप्त होते हैं; परंतु वे उन्हींको दुःख जान पड़ते हैं, जिनकी इन्द्रियाँ और मन अपने वशमें नहीं हैं ॥ १२ ॥

कन्यया च पितुर्गेहे वनवासः श्रुतो मया ।
भिक्षिण्याः शमवृत्ताया मम मातुरिहाग्रतः ॥ १३ ॥

'पिताके घरपर कुमारी अवस्थामें एक शान्तिपरायणा भिक्षुकीके मुखसे भी मैंने अपने वनवासकी बात सुनी थी । उसने मेरी माताके सामने ही ऐसी बात कही थी ॥ १३ ॥

प्रसादितश्च वै पूर्वं त्वं मे बहुतिथं प्रभो ।
गमनं वनवासस्य काङ्क्षितं हि सह त्वया ॥ १४ ॥

'प्रभो ! यहाँ आनेपर भी मैंने पहले ही कई बार आपसे कुछ कालतक वनमें रहनेके लिये प्रार्थना की थी और आपको राजी भी कर लिया था । इससे आप निश्चितरूपसे जान लें कि आपके साथ वनको चलना मुझे पहलेसे ही अभीष्ट है॥

कृतक्षणाहं भद्रं ते गमनं प्रति राघव ।
वनवासस्य शूरस्य मम चर्या हि रोचते ॥ १५ ॥

'रघुनन्दन ! आपका भला हो । मैं वहाँ चलनेके लिये पहलेसे ही आपकी अनुमति प्राप्त कर चुकी हूँ । अपने शूरवीर वनवासी पतिकी सेवा करना मेरे लिये अधिक रुचिकर है॥

शुद्धात्मन् प्रेमभावाद्धि भविष्यामि विकल्मषा ।
भर्तारमनुगच्छन्ती भर्ता हि परदैवतम् ॥ १६ ॥

'शुद्धात्मन् ! आप मेरे स्वामी हैं; आपके पीछे प्रेमभावसे वनमें आनेपर मेरे पाप दूर हो जायँगे; क्योंकि स्वामी ही स्त्रीके लिये सबसे बड़ा देवता है ॥ १६ ॥

प्रेत्यभावे हि कल्याणः संगमो मे सदा त्वया ।
श्रुतिर्हि श्रूयते पुण्या ब्राह्मणानां यशस्विनाम्॥ १७ ॥

'आपके अनुगमनसे परलोकमें भी मेरा कल्याण होगा और सदा आपके साथ मेरा संयोग बना रहेगा । इस विषयमें यशस्वी ब्राह्मणोंके मुखसे एक पवित्र श्रुति सुनी जाती है (जो इस प्रकार है–) ॥ १७ ॥

इहलोके च पितृभिर्या स्त्री यस्य महाबल ।
अद्भिर्दत्ता स्वधर्मेण प्रेत्यभावेऽपि तस्य सा ॥ १८ ॥

'महाबली वीर ! इस लोकमें पिता आदिके द्वारा जो कन्या जिस पुरुषको अपने धर्मके अनुसार जलसे संकल्प करके दे दी जाती है, वह मरनेके बाद परलोकमें भी उसीकी स्त्री होती है ॥ १८ ॥

एवमस्मात् स्वकां नारीं सुवृत्तां हि पतिव्रताम् ।
नाभिरोचयसे नेतुं त्वं मां केनेह हेतुना ॥ १९ ॥

'मैं आपकी धर्मपत्नी हूँ, उत्तम व्रतका पालन करनेवाली और पतिव्रता हूँ, फिर क्या कारण है कि आप मुझे यहाँसे अपने साथ ले चलना नहीं चाहते हैं ॥ १९ ॥

भक्तां पतिव्रतां दीनां मां समां सुखदुःखयोः ।
नेतुमर्हसि काकुत्स्थ समानसुखदुःखिनीम् ॥ २० ॥

'ककुत्स्थकुलभूषण ! मैं आपकी भक्त हूँ, पातिव्रत्यका पालन करती हूँ, आपके बिछोहके भयसे दीन हो रही हूँ तथा आपके सुख-दुःखमें समानरूपसे हाथ बँटानेवाली हूँ । मुझे सुख मिले या दुःख, मैं दोनों अवस्थाओंमें सम रहूँगी—हर्ष या शोकके वशीभूत नहीं होऊँगी । अतः आप अवश्य ही मुझे साथ ले चलनेकी कृपा करें ॥ २० ॥

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि ।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात् ॥ २१ ॥

'यदि आप इस प्रकार दुःखमें पड़ी हुई मुझ सेविकाको अपने साथ वनमें ले जाना नहीं चाहते हैं तो मैं मृत्युके लिये विष खा लूँगी, आगमें कूद पड़ूँगी अथवा जलमें डूब जाऊँगी' ॥ २१ ॥

एवं बहुविधं तं सा याचते गमनं प्रति ।
नानुमेने महाबाहुस्तां नेतुं विजनं वनम् ॥ २२ ॥

इस तरह अनेक प्रकारसे सीताजी वनमें जानेके लिये याचना कर रही थीं तथापि महाबाहु श्रीरामने उन्हें अपने

साथ निर्जन वनमें ले जानेकी अनुमति नहीं दी ॥ २२ ॥

एवमुक्ता तु सा चिन्तां मैथिली समुपागता ।
स्नापयन्तीव गामुष्णैरश्रुभिर्नयनच्युतैः ॥ २३ ॥

इस प्रकार उनके अस्वीकार कर देनेपर मिथिलेश-कुमारी सीताको बड़ी चिन्ता हुई और वे अपने नेत्रोंसे गरम-गरम आँसू बहाकर धरतीको भिगोने-सी लगीं ॥ २३ ॥

चिन्तयन्तीं तदा तां तु निवर्तयितुमात्मवान् ।
क्रोधाविष्टां तु वैदेहीं काकुत्स्थो बह्वसान्त्वयत् ॥ २४ ॥

उस समय विदेहनन्दिनी जानकीको चिन्तित और कुपित देख मनको वशमें रखनेवाले श्रीरामचन्द्रजीने उन्हें वनवासके विचारसे निवृत्त करनेके लिये भाँति-भाँतिकी बातें कहकर समझाया ॥ २४ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकोनत्रिंशः सर्गः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें उनतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशः सर्गः

सीताका वनमें चलनेके लिये अधिक आग्रह, विलाप और घबराहट देखकर श्रीरामका उन्हें साथ ले चलनेकी स्वीकृति देना, पिता-माता और गुरुजनोंकी सेवाका महत्त्व बताना तथा सीताको वनमें चलनेकी तैयारीके लिये घरकी वस्तुओंका दान करनेकी आज्ञा देना

सान्त्व्यमाना तु रामेण मैथिली जनकात्मजा ।
वनवासनिमित्तार्थं भर्तारमिदमब्रवीत् ॥ १ ॥

श्रीरामके समझानेपर मिथिलेशकुमारी जानकी वनवासकी आज्ञा प्राप्त करनेके लिये अपने पतिसे फिर इस प्रकार बोलीं ॥

सा तमुत्तमसंविग्ना सीता विपुलवक्षसम् ।
प्रणयाच्चाभिमानाच्च परिचिक्षेप राघवम् ॥ २ ॥

सीता अत्यन्त डरी हुई थीं । वे प्रेम और स्वाभिमानके कारण विशाल वक्षःस्थलवाले श्रीरामचन्द्रजीपर आक्षेप-सा करती हुई कहने लगीं—॥ २ ॥

किं त्वामन्यत वैदेहः पिता मे मिथिलाधिपः ।
राम जामातरं प्राप्य स्त्रियं पुरुषविग्रहम् ॥ ३ ॥

'श्रीराम ! क्या मेरे पिता मिथिलानरेश विदेहराज जनकने आपको जामाताके रूपमें पाकर कभी यह भी समझा था कि आप केवल शरीरसे ही पुरुष हैं; कार्यकलापसे तो स्त्री ही हैं॥

अनृतं बत लोकोऽयमज्ञानाद् यदि वक्ष्यति ।
तेजो नास्ति परं रामे तपतीव दिवाकरे ॥ ४ ॥

'नाथ ! आपके मुझे छोड़कर चले जानेपर संसारके लोग अज्ञानवश यदि यह कहने लगें कि सूर्यके समान तपनेवाले श्रीरामचन्द्रमें तेज और पराक्रमका अभाव है तो उनकी यह असत्य धारणा मेरे लिये कितने दुःखकी बात होगी ॥ ४ ॥

किं हि कृत्वा विषण्णस्त्वं कुतो वा भयमस्ति ते ।
यत् परित्यक्तुकामस्त्वं मामनन्यपरायणाम् ॥ ५ ॥

'आप क्या सोचकर विषादमें पड़े हुए हैं अथवा किससे आपको भय हो रहा है, जिसके कारण आप अपनी पत्नी मुझ सीताका, जो एकमात्र आपके ही आश्रित है, परित्याग करना चाहते हैं ॥ ५ ॥

द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्तिनीम् ॥ ६ ॥

'जैसे सावित्री द्युमत्सेनकुमार वीरवर सत्यवान्‌की ही अनुगामिनी थी, उसी प्रकार आप मुझे भी अपनी ही आज्ञाके अधीन समझिये ॥ ६ ॥

न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टास्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥ ७ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जैसी दूसरी कोई कुलकलङ्किनी स्त्री परपुरुषपर दृष्टि रखती है, वैसी मैं नहीं हूँ । मैं तो आपके सिवा किसी दूसरे पुरुषको मनसे भी नहीं देख सकती । इसलिये आपके साथ ही चलूँगी (आपके बिना अकेली यहाँ नहीं रहूँगी) ॥ ७ ॥

स्वयं तु भार्यां कौमारीं चिरमध्युषितां सतीम् ।
शैलूष इव मां राम परेभ्यो दातुमिच्छसि ॥ ८ ॥

'श्रीराम ! जिसका कुमारावस्थामें ही आपके साथ विवाह हुआ है और जो चिरकालतक आपके साथ रह चुकी है, उसी मुझ अपनी सती-साध्वी पत्नीको आप औरतकी कमाई खानेवाले नटकी भाँति दूसरोंके हाथमें सौंपना चाहते हैं ? ॥ ८ ॥

यस्य पथ्यं चरामात्थ यस्य चार्थेऽवरुध्यसे ।
त्वं तस्य भव वश्यश्च विधेयश्च सदानघ ॥ ९ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! आप मुझे जिसके अनुकूल चलनेकी शिक्षा दे रहे हैं और जिसके लिये आपका राज्याभिषेक रोक दिया गया है, उस भरतके सदा ही वशवर्ती और आज्ञापालक बनकर आप ही रहिये, मैं नहीं रहूँगी ॥ ९ ॥

स मामनादाय वनं न त्वं प्रस्थितुमर्हसि ।
तपो वा यदि वारण्यं स्वर्गो वा स्यात् त्वया सह ॥ १० ॥

'इसलिये आपका मुझे अपने साथ लिये बिना वनकी ओर प्रस्थान करना उचित नहीं है। यदि तपस्या करनी हो, वनमें रहना हो अथवा स्वर्गमें जाना हो तो सभी जगह मैं आपके साथ रहना चाहती हूँ ॥ १० ॥

न च मे भविता तत्र कश्चित् पथि परिश्रमः।
पृष्ठतस्तव गच्छन्त्या विहारशयनेष्विव ॥ ११ ॥

'जैसे बगीचोंमें घूमने और पलंगपर सोनेमें कोई कष्ट नहीं होता, उसी प्रकार आपके पीछे-पीछे वनके मार्गपर चलनेमें भी मुझे कोई परिश्रम नहीं जान पड़ेगा ॥ ११ ॥

कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥ १२ ॥

'रास्तेमें जो कुश-कास, सरकंडे, सींक और काँटेदार वृक्ष मिलेंगे, उनका स्पर्श मुझे आपके साथ रहनेसे रूई और मृगचर्मके समान सुखद प्रतीत होगा ॥ १२ ॥

महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति।
रजो रमण तन्मन्ये परार्घ्यमिव चन्दनम् ॥ १३ ॥

'प्राणवल्लभ ! प्रचण्ड आँधीसे उड़कर मेरे शरीरपर जो धूल पड़ेगी, उसे मैं उत्तम चन्दनके समान समझूँगी ॥ १३ ॥

शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात् सुखतरं ततः ॥ १४ ॥

'जब वनके भीतर रहूँगी, तब आपके साथ घासोंपर भी सो लूँगी। रंग-बिरंगे कालीनों और मुलायम बिछौनोंसे युक्त पलंगोंपर क्या उससे अधिक सुख हो सकता है ? ॥ १४ ॥

पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु।
दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥ १५ ॥

'आप अपने हाथसे लाकर थोड़ा या बहुत फल, मूल या पत्ता, जो कुछ दे देंगे, वही मेरे लिये अमृत-रसके समान होगा ॥ १५ ॥

न मातुर्न पितुस्तत्र स्मरिष्यामि न वेश्मनः।
आर्तवान्युपभुञ्जाना पुष्पाणि च फलानि च ॥ १६ ॥

'ऋतुके अनुकूल जो भी फल-फूल प्राप्त होंगे, उन्हें खाकर रहूँगी और माता-पिता अथवा महलको कभी याद नहीं करूँगी ॥ १६ ॥

न च तत्र ततः किंचिद् द्रष्टुमर्हसि विप्रियम्।
मत्कृते न च ते शोको न भविष्यामि दुर्भरा ॥ १७ ॥

'वहाँ रहते समय मेरा कोई भी प्रतिकूल व्यवहार आप नहीं देख सकेंगे। मेरे लिये आपको कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ेगा। मेरा निर्वाह आपके लिये दूभर नहीं होगा ॥ १७ ॥

यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह॥ १८ ॥

'आपके साथ जहाँ भी रहना पड़े, वही मेरे लिये स्वर्ग है और आपके बिना जो कोई भी स्थान हो, वह मेरे लिये नरकके समान है। श्रीराम ! मेरे इस निश्चयको जानकर आप मेरे साथ अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक वनको चलें ॥ १८ ॥

अथ मामेवमव्यग्रां वनं नैव नयिष्यसे।
विषमद्यैव पास्यामि मा वशं द्विषतां गमम् ॥ १९ ॥

'मुझे वनवासके कष्टसे कोई घबराहट नहीं है। यदि इस दशामें भी आप अपने साथ मुझे वनमें नहीं ले चलेंगे तो मैं आज ही विष पी लूँगी, परंतु शत्रुओंके अधीन होकर नहीं रहूँगी ॥ १९ ॥

पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम्।
उज्झितायास्त्वया नाथ तदैव मरणं वरम् ॥ २० ॥

नाथ ! यदि आप मुझे त्यागकर वनको चले जायँगे तो पीछे भी इस भारी दुःखके कारण मेरा जीवित रहना सम्भव नहीं है; ऐसी दशामें मैं इसी समय आपके जाते ही अपना प्राण त्याग देना अच्छा समझती हूँ ॥ २० ॥

इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्तमपि नोत्सहे।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकं च दुःखिता ॥ २१ ॥

'आपके विरहका यह शोक मैं दो घड़ी भी नहीं सह सकूँगी। फिर मुझ दुखियासे यह चौदह वर्षोंतक कैसे सहा जायगा ?' ॥ २१ ॥

इति सा शोकसंतप्ता विलप्य करुणं बहु।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिङ्ग्य सस्वरम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार बहुत देरतक करुणाजनक विलाप करके शोकसे संतप्त हुई सीता शिथिल हो अपने पतिको जोरसे पकड़कर—उनका गाढ़ आलिङ्गन करके फूट-फूटकर रोने लगीं ॥ २२ ॥

सा विद्धा बहुभिर्वाक्यैर्दिग्धैरिव गजाङ्गना।
चिरसंनियतं बाष्पं मुमोचाग्निमिवारणिः ॥ २३ ॥

जैसे कोई हथिनी विषमें बुझे हुए बहुसंख्यक बाणोंद्वारा घायल कर दी गयी हो, उसी प्रकार सीता श्रीरामचन्द्रजीके पूर्वोक्त अनेकानेक वचनोंद्वारा मर्माहत हो उठी थीं; अतः जैसे अरणी आग प्रकट करती है, उसी प्रकार वे बहुत देरसे रोके हुए आँसुओंको बरसाने लगीं ॥ २३ ॥

तस्याः स्फटिकसंकाशं वारि संतापसम्भवम्।
नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥ २४ ॥

उनके दोनों नेत्रोंसे स्फटिकके समान निर्मल संतापजनित अश्रुजल झर रहा था, मानो दो कमलोंसे जलकी धारा गिर रही हो ॥ २४ ॥

तत्सितामलचन्द्राभं मुखमायतलोचनम्।
पर्यशुष्यत बाष्पेण जलोद्धृतमिवाम्बुजम् ॥ २५ ॥

बड़े-बड़े नेत्रोंसे सुशोभित और पूर्णिमाके निर्मल चन्द्रमा-के समान कान्तिमान् उनका वह मनोहर मुख संतापजनित तापके कारण पानीसे बाहर निकाले हुए कमलके समान सूख-सा गया था ॥ २५ ॥

तां परिष्वज्य बाहुभ्यां विसंज्ञामिव दुःखिताम् ।
उवाच वचनं रामः परिविश्वासयंस्तदा ॥ २६ ॥

सीताजी दुःखके मारे अचेत-सी हो रही थीं । श्रीराम-चन्द्रजीने उन्हें दोनों हाथोंसे सँभालकर हृदयसे लगा लिया और उस समय उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—॥ २६ ॥

न देवि बत दुःखेन स्वर्गमप्यभिरोचये ।
नहि मेऽस्ति भयं किंचित् स्वयम्भोरिव सर्वतः॥ २७ ॥

'देवि ! तुम्हें दुःख देकर मुझे स्वर्गका सुख मिलता हो तो मैं उसे भी लेना नहीं चाहूँगा। स्वयम्भू ब्रह्माजीकी भाँति मुझे किसीसे किञ्चित् भी भय नहीं है ॥ २७ ॥

तव सर्वमभिप्रायमविज्ञाय शुभानने ।
वासं न रोचयेऽरण्ये शक्तिमानपि रक्षणे ॥ २८ ॥

'शुभानने ! यद्यपि वनमें तुम्हारी रक्षा करनेके लिये मैं सर्वथा समर्थ हूँ तो भी तुम्हारे हार्दिक अभिप्रायको पूर्ण-रूपसे जाने बिना तुमको वनवासिनी बनाना मैं उचित नहीं समझता था ॥ २८ ॥

यत् सृष्टासि मया सार्धं वनवासाय मैथिलि ।
न विहातुं मया शक्या प्रीतिरात्मवता यथा ॥ २९ ॥

'मिथिलेशकुमारी ! जब तुम मेरे साथ वनमें रहनेके लिये ही उत्पन्न हुई हो तो मैं तुम्हें छोड़ नहीं सकता, ठीक उसी तरह जैसे आत्मज्ञानी पुरुष अपनी स्वाभाविक प्रसन्नताका त्याग नहीं करते ॥ २९ ॥

धर्मस्तु गजनासोरु सद्भिराचरितः पुरा ।
तं चाहमनुवर्तिष्ये यथा सूर्यं सुवर्चला ॥ ३० ॥

'हाथीकी सूँड़के समान जाँघवाली जनककिशोरी ! पूर्वकालके सत्पुरुषोंने अपनी पत्नीके साथ रहकर जिस धर्मका आचरण किया था, उसीका मैं भी तुम्हारे साथ रहकर अनुसरण करूँगा तथा जैसे सुवर्चला (संज्ञा) अपने पति सूर्यका अनुगमन करती है, उसी प्रकार तुम भी मेरा अनुसरण करो ॥ ३० ॥

न खल्वहं न गच्छेयं वनं जनकनन्दिनि ।
वचनं तन्नयति मां पितुः सत्योपबृंहितम् ॥ ३१ ॥

'जनकनन्दिनि ! यह तो किसी प्रकार सम्भव ही नहीं है कि मैं वनको न जाऊँ; क्योंकि पिताजीका वह सत्ययुक्त वचन ही मुझे वनकी ओर ले जा रहा है ॥ ३१ ॥

एष धर्मश्च सुश्रोणि पितुर्मातुश्च वश्यता ।
आज्ञां चाहं व्यतिक्रम्य नाहं जीवितुमुत्सहे ॥ ३२ ॥

'सुश्रोणि ! पिता और माताकी आज्ञाके अधीन रहना पुत्रका धर्म है, इसलिये मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन करके जीवित नहीं रह सकता ॥ ३२ ॥

अस्वाधीनं कथं दैवं प्रकारैरभिराध्यते ।
स्वाधीनं समतिक्रम्य मातरं पितरं गुरुम् ॥ ३३ ॥

'जो अपनी सेवाके अधीन हैं, उन प्रत्यक्ष देवता माता, पिता एवं गुरुका उल्लङ्घन करके जो सेवाके अधीन नहीं है,उस अप्रत्यक्ष देवता दैवकी विभिन्न प्रकारसे किस तरह आराधना की जा सकती है ॥ ३३ ॥

यत्र त्रयं त्रयो लोकाः पवित्रं तत्समं भुवि ।
नान्यदस्ति शुभापाङ्गे तेनेदमभिराध्यते ॥ ३४ ॥

'सुन्दर नेत्रप्रान्तवाली सीते ! जिनकी आराधना करने-पर धर्म, अर्थ और काम तीनों प्राप्त होते हैं तथा तीनों लोकोंकी आराधना सम्पन्न हो जाती है, उन माता, पिता और गुरुके समान दूसरा कोई पवित्र देवता इस भूतलपर नहीं है । इसीलिये भूतलके निवासी इन तीनों देवताओंकी आराधना करते हैं ॥ ३४ ॥

न सत्यं दानमानौ वा यज्ञो वाप्याप्तदक्षिणाः ।
तथा बलकराः सीते यथा सेवा पितुर्मता ॥ ३५ ॥

'सीते ! पिताकी सेवा करना कल्याणकी प्राप्तिका जैसा प्रबल साधन माना गया है, वैसा न सत्य है, न दान है, न मान है और न पर्याप्त दक्षिणावाले यज्ञ ही हैं ॥ ३५ ॥

स्वर्गो धनं वा धान्यं वा विद्या पुत्राः सुखानि च ।
गुरुवृत्त्यनुरोधेन न किंचिदपि दुर्लभम् ॥ ३६ ॥

'गुरुजनोंकी सेवाका अनुसरण करनेसे स्वर्ग, धन-धान्य, विद्या, पुत्र और सुख—कुछ भी दुर्लभ नहीं है ॥ ३६ ॥

देवगन्धर्वगोलोकान् ब्रह्मलोकांस्तथापरान् ।
प्राप्नुवन्ति महात्मानो मातापितृपरायणाः ॥ ३७ ॥

'माता-पिताकी सेवामें लगे रहनेवाले महात्मा पुरुष देवलोक, गन्धर्वलोक, ब्रह्मलोक, गोलोक तथा अन्य लोकोंको भी प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३७ ॥

स मा पिता यथा शास्ति सत्यधर्मपथे स्थितः ।
तथा वर्तितुमिच्छामि स हि धर्मः सनातनः ॥ ३८ ॥

'इसीलिये सत्य और धर्मके मार्गपर स्थित रहनेवाले पूज्य पिताजी मुझे जैसी आज्ञा दे रहे हैं, मैं वैसा ही बर्ताव करना चाहता हूँ; क्योंकि वह सनातनधर्म है ॥ ३८ ॥

मम सन्ना मतिः सीते नेतुं त्वां दण्डकावनम् ।
वसिष्यामीति सा त्वं मामनुयातुं सुनिश्चिता ॥ ३९ ॥

'सीते ! 'मैं आपके साथ वनमें निवास करूँगी'—ऐसा कहकर तुमने मेरे साथ चलनेका दृढ़ निश्चय कर लिया है,

इसलिये तुम्हें दण्डकारण्य ले चलनेके सम्बन्धमें जो मेरा पहला विचार था, वह अब बदल गया है ॥ ३९ ॥

सा हि दिष्टानवद्याङ्गि वनाय मदिरेक्षणे।
अनुगच्छस्व मां भीरु सहधर्मचरी भव ॥ ४० ॥

'मदभरे नेत्रोंवाली सुन्दरी! अब मैं तुम्हें वनमें चलनेके लिये आज्ञा देता हूँ। भीरु! तुम मेरी अनुगामिनी बनो और मेरे साथ रहकर धर्मका आचरण करो ॥ ४० ॥

सर्वथा सदृशं सीते मम स्वस्य कुलस्य च।
व्यवसायमनुक्रान्ता कान्ते त्वमतिशोभनम् ॥ ४१ ॥

'प्राणवल्लभे सीते! तुमने मेरे साथ चलनेका जो यह परम सुन्दर निश्चय किया है, यह तुम्हारे और मेरे कुलके सर्वथा योग्य ही है ॥ ४१ ॥

आरभस्व शुभश्रोणि वनवासक्षमाः क्रियाः।
नेदानीं त्वदृते सीते स्वर्गोऽपि मम रोचते ॥ ४२ ॥

'सुश्रोणि! अब तुम वनवासके योग्य दान आदि कर्म प्रारम्भ करो। सीते! इस समय तुम्हारे इस प्रकार दृढ़ निश्चय कर लेनेपर तुम्हारे बिना स्वर्ग भी मुझे अच्छा नहीं लगता है ॥ ४२ ॥

ब्राह्मणेभ्यश्च रत्नानि भिक्षुकेभ्यश्च भोजनम्।
देहि चाशंसमानेभ्यः संत्वरस्व च मा चिरम् ॥ ४३ ॥

'ब्राह्मणोंको रत्नस्वरूप उत्तम वस्तुएँ दान करो और भोजन माँगनेवाले भिक्षुकोंको भोजन दो। शीघ्रता करो, विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥ ४३ ॥

भूषणानि महार्हाणि वरवस्त्राणि यानि च।
रमणीयाश्च ये केचित् क्रीडार्थाश्चाप्युपस्कराः ॥ ४४ ॥
शयनीयानि यानानि मम चान्यानि यानि च।
देहि स्वभृत्यवर्गस्य ब्राह्मणानामनन्तरम् ॥ ४५ ॥

तुम्हारे पास जितने बहुमूल्य आभूषण हों, जो-जो अच्छे-अच्छे वस्त्र हों, जो कोई भी रमणीय पदार्थ हों तथा मनोरञ्जनकी जो-जो सुन्दर सामग्रियाँ हों, मेरे और तुम्हारे उपयोगमें आनेवाली जो उत्तमोत्तम शय्याएँ, सवारियाँ तथा अन्य वस्तुएँ हों, उनमेंसे ब्राह्मणोंको दान करनेके पश्चात् जो बचें उन सबको अपने सेवकोंको बाँट दो' ।४४-४५।

अनुकूलं तु सा भर्तुर्ज्ञात्वा गमनमात्मनः।
क्षिप्रं प्रमुदिता देवी दातुमेव प्रचक्रमे ॥ ४६ ॥

'स्वामीने वनमें मेरा जाना स्वीकार कर लिया—मेरा वनगमन उनके मनके अनुकूल हो गया' यह जानकर देवी सीता बहुत प्रसन्न हुई और शीघ्रतापूर्वक सब वस्तुओंका दान करनेमें जुट गयीं ॥ ४६ ॥

ततः प्रहृष्टा प्रतिपूर्णमानसा
यशस्विनी भर्तुरवेक्ष्य भाषितम्।
धनानि रत्नानि च दातुमङ्गना
प्रचक्रमे धर्मभृतां मनस्विनी ॥ ४७ ॥

तदनन्तर अपना मनोरथ पूर्ण हो जानेसे अत्यन्त हर्षमें भरी हुई यशस्विनी एवं मनस्विनी सीता देवी स्वामीके आदेशपर विचार करके धर्मात्मा ब्राह्मणोंको धन और रत्नोंका दान करनेके लिये उद्यत हो गयीं ॥ ४७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रिंशः सर्गः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशः सर्गः

श्रीराम और लक्ष्मणका संवाद, श्रीरामकी आज्ञासे लक्ष्मणका सुहृदोंसे पूछकर और दिव्य आयुध लाकर वनगमनके लिये तैयार होना, श्रीरामका उनसे ब्राह्मणोंको धन बाँटनेका विचार व्यक्त करना

एवं श्रुत्वा स संवादं लक्ष्मणः पूर्वमागतः।
बाष्पपर्याकुलमुखः शोकं सोढुमशक्नुवन् ॥ १ ॥

जिस समय श्रीराम और सीतामें बातचीत हो रही थी, लक्ष्मण वहाँ पहलेसे ही आ गये थे। उन दोनोंका ऐसा संवाद सुनकर उनका मुखमण्डल आँसुओंसे भीग गया। भाईके विरहका शोक अब उनके लिये भी असह्य हो उठा ॥ १ ॥

स भ्रातुश्चरणौ गाढं निपीड्य रघुनन्दनः।
सीतामुवाचातियशां राघवं च महाव्रतम् ॥ २ ॥

रघुकुलको आनन्दित करनेवाले लक्ष्मणने ज्येष्ठ भ्राता श्रीरामचन्द्रजीके दोनों पैर जोरसे पकड़ लिये और अत्यन्त यशस्विनी सीता तथा महान् व्रतधारी श्रीरघुनाथजीसे कहा—॥२॥

यदि गन्तुं कृता बुद्धिर्वनं मृगगजायुतम्।
अहं त्वानुगमिष्यामि वनमग्रे धनुर्धरः ॥ ३ ॥

'आर्य! यदि आपने सहस्रों वन्य पशुओं तथा हाथियोंसे भरे हुए वनमें जानेका निश्चय कर ही लिया है तो मैं भी आपका अनुसरण करूँगा। धनुष हाथमें लेकर आगे-आगे चलूँगा ॥ ३ ॥

मया समेतोऽरण्यानि रम्याणि विचरिष्यसि।

पक्षिभिर्मृगयूथैश्च संघुष्टानि समन्ततः ॥ ४ ॥

'आप मेरे साथ पक्षियोंके कलरव और भ्रमरसमूहोंके गुञ्जारवसे गूँजते हुए रमणीय वनोंमें सब ओर विचरण कीजियेगा ॥ ४ ॥

न देवलोकाक्रमणं नामरत्वमहं वृणे ।
ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥ ५ ॥

'मैं आपके विना स्वर्गमें जाने, अमर होने तथा सम्पूर्ण लोकोंका ऐश्वर्य प्राप्त करनेकी भी इच्छा नहीं रखता' ॥ ५ ॥

एवं ब्रुवाणः सौमित्रिर्वनवासाय निश्चितः ।
रामेण बहुभिः सान्त्वैर्निषिद्धः पुनरब्रवीत् ॥ ६ ॥

वनवासके लिये निश्चित विचार करके ऐसी बात कहनेवाले सुमित्राकुमार लक्ष्मणको श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से सान्त्वनापूर्ण वचनोंद्वारा समझाकर जब वनमें चलनेसे मना किया, तब वे फिर बोले—॥ ६ ॥

अनुज्ञातस्तु भवता पूर्वमेव यदस्म्यहम् ।
किमिदानीं पुनरपि क्रियते मे निवारणम् ॥ ७ ॥

'भैया ! आपने तो पहलेसे ही मुझे अपने साथ रहनेकी आज्ञा दे रखी है, फिर इस समय आप मुझे क्यों रोकते हैं ? ॥

यदर्थं प्रतिषेधो मे क्रियते गन्तुमिच्छतः ।
एतदिच्छामि विज्ञातुं संशयो हि ममानघ ॥ ८ ॥

'निष्पाप रघुनन्दन ! जिस कारणसे आपके साथ चलनेकी इच्छावाले मुझको आप मना करते हैं, उस कारणको मैं जानना चाहता हूँ । मेरे हृदयमें इसके लिये बड़ा संशय हो रहा है' ॥ ८ ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजा रामो लक्ष्मणमग्रतः ।
स्थितं प्राग्गामिनं धीरं याचमानं कृताञ्जलिम् ॥ ९ ॥

ऐसा कहकर धीर-वीर लक्ष्मण आगे जानेके लिये तैयार हो भगवान् श्रीरामके सामने खड़े हो गये और हाथ जोड़कर याचना करने लगे । तब महातेजस्वी श्रीरामने उनसे कहा—॥ ९ ॥

स्निग्धो धर्मरतो धीरः सततं सत्पथे स्थितः ।
प्रियः प्राणसमो वश्यो विजेयश्च सखा च मे ॥ १० ॥

'लक्ष्मण ! तुम मेरे स्नेही, धर्मपरायण, धीर-वीर तथा सदा सन्मार्गमें स्थित रहनेवाले हो । मुझे प्राणोंके समान प्रिय हो तथा मेरे वशमें रहनेवाले आज्ञापालक और सखा हो ॥

मयाद्य सह सौमित्रे त्वयि गच्छति तद्वनम् ।
को भजिष्यति कौसल्यां सुमित्रां वा यशस्विनीम् ॥ ११ ॥

'सुमित्रानन्दन ! यदि आज मेरे साथ तुम भी वनको चल दोगे तो परमयशस्विनी माता कौसल्या और सुमित्राकी सेवा कौन करेगा ? ॥ ११ ॥

अभिवर्षति कामैर्यः पर्जन्यः पृथिवीमिव ।
स कामपाशपर्यस्तो महातेजा महीपतिः ॥ १२ ॥

'जैसे मेघ पृथ्वीपर जलकी वर्षा करता है, उसी प्रकार जो सबकी कामनाएँ पूर्ण करते थे, वे महातेजस्वी महाराज दशरथ अब कैकेयीके प्रेमपाशमें बँध गये हैं ॥ १२ ॥

सा हि राज्यमिदं प्राप्य नृपस्याश्वपतेः सुता ।
दुःखितानां सपत्नीनां न करिष्यति शोभनम् ॥ १३ ॥

'केकयराज अश्वपतिकी पुत्री कैकेयी महाराजके इस राज्यको पाकर मेरे वियोगके दुःखमें डूबी हुई अपनी सौतोंके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करेगी ॥ १३ ॥

न भरिष्यति कौसल्यां सुमित्रां च सुदुःखिताम् ।
भरतो राज्यमासाद्य कैकेय्यां पर्यवस्थितः ॥ १४ ॥

'भरत भी राज्य पाकर कैकेयीके अधीन रहनेके कारण दुखिया कौसल्या और सुमित्राका भरण-पोषण नहीं करेंगे ॥

तामार्यां स्वयमेवेह राजानुग्रहणेन वा ।
सौमित्रे भर कौसल्यामुक्तमर्थममुं चर ॥ १५ ॥

'अतः सुमित्राकुमार ! तुम यहीं रहकर अपने प्रयत्नसे अथवा राजाकी कृपा प्राप्त करके माता कौसल्याका पालन करो । मेरे बताये हुए इस प्रयोजनको ही सिद्ध करो ॥ १५ ॥

एवं मयि च ते भक्तिर्भविष्यति सुदर्शिता ।
धर्मज्ञगुरुपूजायां धर्मश्चाप्यतुलो महान् ॥ १६ ॥

'ऐसा करनेसे मेरे प्रति जो तुम्हारी भक्ति है, वह भी भलीभाँति प्रकट हो जायगी तथा धर्मज्ञ गुरुजनोंकी पूजा करनेसे जो अनुपम एवं महान् धर्म होता है, वह भी तुम्हें प्राप्त हो जायगा ॥ १६ ॥

एवं कुरुष्व सौमित्रे मत्कृते रघुनन्दन ।
अस्माभिर्विप्रहीणाया मातुर्नो न भवेत् सुखम् ॥ १७ ॥

'रघुकुलको आनन्दित करनेवाले सुमित्राकुमार ! तुम मेरे लिये ऐसा ही करो; क्योंकि हमलोगोंसे बिछुड़ी हुई हमारी माको कभी सुख नहीं होगा (वह सदा हमारी ही चिन्तामें डूबी रहेगी)' ॥ १७ ॥

एवमुक्तस्तु रामेण लक्ष्मणः श्लक्ष्णया गिरा ।
प्रत्युवाच तदा रामं वाक्यज्ञो वाक्यकोविदम् ॥ १८ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर बातचीतके मर्मको समझनेवाले लक्ष्मणने उस समय बातका तात्पर्य समझनेवाले श्रीरामको मधुर वाणीमें उत्तर दिया—॥ १८ ॥

तवैव तेजसा वीर भरतः पूजयिष्यति ।
कौसल्यां च सुमित्रां च प्रयतो नास्ति संशयः ॥ १९ ॥

'वीर ! आपके ही तेज (प्रभाव) से भरत माता कौसल्या और सुमित्रा दोनोंका पवित्र भावसे पूजन करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १९ ॥

यदि दुःस्थो न रक्षेत भरतो राज्यमुत्तमम् ।
प्राप्य दुर्मनसा वीर गर्वेण च विशेषतः ॥ २० ॥

तमहं दुर्मतिं क्रूरं वधिष्यामि न संशयः।
तत्पक्षानपि तान् सर्वांस्त्रैलोक्यमपि किं तु सा ॥ २१ ॥
कौसल्या बिभृयादार्या सहस्रं मद्विधानपि।
यस्याः सहस्रं ग्रामाणां सम्प्राप्तमुपजीविनाम् ॥ २२ ॥

'वीरवर ! इस उत्तम राज्यको पाकर यदि भरत बुरे रास्तेपर चलेंगे और दूषित हृदय एवं विशेषतः घमंडके कारण माताओंकी रक्षा नहीं करेंगे तो मैं उन दुर्बुद्धि और क्रूर भरतका तथा उनके पक्षका समर्थन करनेवाले उन सब लोगोंका वध कर डालूँगा; इसमें संशय नहीं है। यदि सारी त्रिलोकी उनका पक्ष करने लगे तो उसे भी अपने प्राणोंसे हाथ धोना पड़ेगा, परंतु बड़ी माता कौसल्या तो स्वयं ही मेरे-जैसे सहस्रों मनुष्योंका भी भरण कर सकती हैं; क्योंकि उन्हें अपने आश्रितोंका पालन करनेके लिये एक सहस्र गाँव मिले हुए हैं ॥ २०–२२ ॥

तदात्मभरणे चैव मम मातुस्तथैव च।
पर्याप्ता मद्विधानां च भरणाय मनस्विनी ॥ २३ ॥

'इसलिये वे मनस्विनी कौसल्या स्वयं ही अपना, मेरी माताका तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से मनुष्योंका भरण-पोषण करनेमें समर्थ हैं ॥ २३ ॥

कुरुष्व मामनुचरं वैधर्म्यं नेह विद्यते।
कृतार्थोऽहं भविष्यामि तव चार्थः प्रकल्प्यते ॥ २४ ॥

'अतः आप मुझको अपना अनुगामी बना लीजिये। इसमें कोई धर्मकी हानि नहीं होगी। मैं कृतार्थ हो जाऊँगा तथा आपका भी प्रयोजन मेरे द्वारा सिद्ध हुआ करेगा ॥ २४ ॥

धनुरादाय सगुणं खनित्रपिटकाधरः।
अग्रतस्ते गमिष्यामि पन्थानं तव दर्शयन् ॥ २५ ॥

'प्रत्यञ्चासहित धनुष लेकर खंती और पिटारी लिये आपको रास्ता दिखाता हुआ मैं आपके आगे-आगे चलूँगा ॥

आहरिष्यामि ते नित्यं मूलानि च फलानि च।
वन्यानि च तथान्यानि स्वाहार्हाणि तपस्विनाम् ॥ २६ ॥

'प्रतिदिन आपके लिये फल-मूल लाऊँगा तथा तपस्वीजनोंके लिये वनमें मिलनेवाली तथा अन्यान्य हवन-सामग्री जुटाता रहूँगा ॥ २६ ॥

भवांस्तु सह वैदेह्या गिरिसानुषु रंस्यसे।
अहं सर्वं करिष्यामि जाग्रतः स्वपतश्च ते ॥ २७ ॥

'आप विदेहकुमारीके साथ पर्वतशिखरोंपर भ्रमण करेंगे। वहाँ आप जागते हों या सोते, मैं हर समय आपके सभी आवश्यक कार्य पूर्ण करूँगा' ॥ २७ ॥

रामस्त्वनेन वाक्येन सुप्रीतः प्रत्युवाच तम्।
व्रजापृच्छस्व सौमित्रे सर्वमेव सुहृज्जनम् ॥ २८ ॥

लक्ष्मणकी इस बातसे श्रीरामचन्द्रजीको बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने उनसे कहा—'सुमित्रानन्दन ! जाओ, माता आदि सभी सुहृदोंसे मिलकर अपनी वनयात्राके विषयमें पूछ लो—उनकी आज्ञा एवं अनुमति ले लो ॥ २८ ॥

ये च राज्ञो ददौ दिव्ये महात्मा वरुणः स्वयम्।
जनकस्य महायज्ञे धनुषी रौद्रदर्शने ॥ २९ ॥
अभेद्ये कवचे दिव्ये तूणी चाक्षय्यसायकौ।
आदित्यविमलाभौ द्वौ खड्गौ हेमपरिष्कृतौ ॥ ३० ॥
सत्कृत्य निहितं सर्वमेतदाचार्यसद्मनि।
सर्वमायुधमादाय क्षिप्रमाव्रज लक्ष्मण ॥ ३१ ॥

'लक्ष्मण ! राजा जनकके महान् यज्ञमें स्वयं महात्मा वरुणने उन्हें जो देखनेमें भयंकर दो दिव्य धनुष दिये थे, साथ ही, जो दो दिव्य अभेद्य कवच, अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तरकस तथा सूर्यकी भाँति निर्मल दीप्तिसे दमकते हुए जो दो सुवर्णभूषित खड्ग प्रदान किये थे (वे सभी दिव्यास्त्र मिथिलानरेशने मुझे दहेजमें दे दिये थे), उन सबको आचार्यदेवके घरमें सत्कारपूर्वक रक्खा गया है। तुम उन सारे आयुधोंको लेकर शीघ्र लौट आओ' ॥ २९–३१ ॥

स सुहृज्जनमामन्त्र्य वनवासाय निश्चितः।
इक्ष्वाकुगुरुमागम्य जग्राहायुधमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

आज्ञा पाकर लक्ष्मणजी गये और सुहृज्जनोंकी अनुमति लेकर वनवासके लिये निश्चितरूपसे तैयार हो इक्ष्वाकुकुलके गुरु वसिष्ठजीके यहाँ गये। वहाँसे उन्होंने उन उत्तम आयुधोंको ले लिया ॥ ३२ ॥

तद् दिव्यं राजशार्दूलः सत्कृतं माल्यभूषितम्।
रामाय दर्शयामास सौमित्रिः सर्वमायुधम् ॥ ३३ ॥

क्षत्रियशिरोमणि सुमित्राकुमार लक्ष्मणने सत्कारपूर्वक रखे हुए उन माल्यविभूषित समस्त दिव्य आयुधोंको लाकर उन्हें श्रीरामको दिखाया ॥ ३३ ॥

तमुवाचात्मवान् रामः प्रीत्या लक्ष्मणमागतम्।
काले त्वमागतः सौम्य काङ्क्षिते मम लक्ष्मण ॥ ३४ ॥

तब मनस्वी श्रीरामने वहाँ आये हुए लक्ष्मणसे प्रसन्न होकर कहा—'सौम्य ! लक्ष्मण ! तुम ठीक समयपर आ गये। इसी समय तुम्हारा आना मुझे अभीष्ट था ॥ ३४ ॥

अहं प्रदातुमिच्छामि यदिदं मामकं धनम्।
ब्राह्मणेभ्यस्तपस्विभ्यस्त्वया सह परंतप ॥ ३५ ॥

'शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! मेरा जो यह धन है, इसे मैं तुम्हारे साथ रहकर तपस्वी ब्राह्मणोंको बाँटना चाहता हूँ ॥ ३५ ॥

वसन्तीह दृढं भक्त्या गुरुषु द्विजसत्तमाः।
तेषामपि च मे भूयः सर्वेषां चोपजीविनाम् ॥ ३६ ॥

'गुरुजनोंके प्रति सुदृढ़ भक्तिभावसे युक्त जो श्रेष्ठ ब्राह्मण यहाँ मेरे पास रहते हैं, उनको तथा समस्त आश्रितजनोंको भी मुझे अपना यह धन बाँटना है ॥ ३६ ॥

वसिष्ठपुत्रं तु सुयज्ञमार्यं
त्वमानयाशु प्रवरं द्विजानाम्।
अपि प्रयास्यामि वनं समस्ता-
नभ्यर्च्य शिष्टानपरान् द्विजातीन् ॥ ३७॥

'वसिष्ठजीके पुत्र जो ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ आर्य सुयज्ञ हैं, उन्हें तुम शीघ्र यहाँ बुला लाओ। मैं इन सबका तथा और जो ब्राह्मण शेष रह गये हों, उनका भी सत्कार करके वनको जाऊँगा' ॥ ३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे एकत्रिंशः सर्गः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें इकतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३१ ॥

द्वात्रिंशः सर्गः

सीतासहित श्रीरामका वसिष्ठपुत्र सुयज्ञको बुलाकर उनके तथा उनकी पत्नीके लिये बहुमूल्य आभूषण, रत्न और धन आदिका दान तथा लक्ष्मणसहित श्रीरामद्वारा ब्राह्मणों, ब्रह्मचारियों, सेवकों, त्रिजट ब्राह्मण और सुहृज्जनोंको धनका वितरण

ततः शासनमाज्ञाय भ्रातुः प्रियकरं हितम्।
गत्वा स प्रविवेशाशु सुयज्ञस्य निवेशनम् ॥ १ ॥

तदनन्तर अपने भाई श्रीरामकी प्रियकारक एवं हितकर आज्ञा पाकर लक्ष्मण वहाँसे चल दिये। उन्होंने शीघ्र ही गुरुपुत्र सुयज्ञके घरमें प्रवेश किया ॥ १ ॥

तं विप्रमग्न्यगारस्थं वन्दित्वा लक्ष्मणोऽब्रवीत्।
सखेऽभ्यागच्छ पश्य त्वं वेश्म दुष्करकारिणः ॥ २ ॥

उस समय विप्रवर सुयज्ञ अग्निशालामें बैठे हुए थे। लक्ष्मणने उन्हें प्रणाम करके कहा—'सखे! दुष्कर कर्म करनेवाले श्रीरामचन्द्रजीके घरपर आओ और उनका कार्य देखो' ॥ २ ॥

ततः संध्यामुपास्थाय गत्वा सौमित्रिणा सह।
ऋद्धं स प्राविशल्लक्ष्म्या रम्यं रामनिवेशनम् ॥ ३ ॥

सुयज्ञने मध्याह्नकालकी संध्योपासना पूरी करके लक्ष्मणके साथ जाकर श्रीरामके रमणीय भवनमें प्रवेश किया, जो लक्ष्मीसे सम्पन्न था ॥ ३ ॥

तमागतं वेदविदं प्राञ्जलिः सीतया सह।
सुयज्ञमभिचक्राम राघवोऽग्निमिवार्चितम् ॥ ४ ॥

होमकालमें पूजित अग्निके समान तेजस्वी वेदवेत्ता सुयज्ञको आया जान सीतासहित श्रीरामने हाथ जोड़कर उनकी अगवानी की ॥ ४ ॥

जातरूपमयैर्मुख्यैरङ्गदैः कुण्डलैः शुभैः।
सहेमसूत्रैर्मणिभिः केयूरैर्वलयैरपि ॥ ५ ॥
अन्यैश्च रत्नैर्बहुभिः काकुत्स्थः प्रत्यपूजयत्।

तत्पश्चात् ककुत्स्थकुलभूषण श्रीरामने सोनेके बने हुए श्रेष्ठ अङ्गदों, सुन्दर कुण्डलों, सुवर्णमय सूत्रमें पिरोयी हुई मणियों, केयूरों, वलयों तथा अन्य बहुत-से रत्नोंद्वारा उनका पूजन किया ॥ ५½ ॥

सुयज्ञं स तदोवाच रामः सीताप्रचोदितः ॥ ६ ॥
हारं च हेमसूत्रं च भार्यायै सौम्य हारय।
रशनां चाथ सा सीता दातुमिच्छति ते सखी ॥ ७ ॥

इसके बाद सीताकी प्रेरणासे श्रीरामने सुयज्ञसे कहा—'सौम्य! तुम्हारी पत्नीकी सखी सीता तुम्हें अपना हार, सुवर्णसूत्र और करधनी देना चाहती है। इन वस्तुओंको अपनी पत्नीके लिये ले जाओ ॥ ६-७ ॥

अङ्गदानि च चित्राणि केयूराणि शुभानि च।
प्रयच्छति सखी तुभ्यं भार्यायै गच्छती वनम् ॥ ८ ॥

'वनको प्रस्थान करनेवाली तुम्हारी स्त्रीकी सखी सीता तुम्हें तुम्हारी पत्नीके लिये विचित्र अङ्गद और सुन्दर केयूर भी देना चाहती है ॥ ८ ॥

पर्यङ्कमग्र्यास्तरणं नानारत्नविभूषितम्।
तमपीच्छति वैदेही प्रतिष्ठापयितुं त्वयि ॥ ९ ॥

'उत्तम बिछौनोंसे युक्त तथा नाना प्रकारके रत्नोंसे विभूषित जो पलंग है, उसे भी विदेहनन्दिनी सीता तुम्हारे ही घरमें भेज देना चाहती है ॥ ९ ॥

नागः शत्रुंजयो नाम मातुलोऽयं ददौ मम।
तं ते निष्कसहस्रेण ददामि द्विजपुङ्गव ॥ १० ॥

'विप्रवर! शत्रुञ्जय नामक जो हाथी है, जिसे मेरे मामाने मुझे भेंट किया था, उसे एक हजार अशर्फियोंके साथ मैं तुम्हें अर्पित करता हूँ' ॥ १० ॥

इत्युक्तः स तु रामेण सुयज्ञः प्रतिगृह्य तत्।
रामलक्ष्मणसीतानां प्रयुयोजाशिषः शिवाः ॥ ११ ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर सुयज्ञने वे सब वस्तुएँ ग्रहण करके श्रीराम, लक्ष्मण और सीताके लिये मङ्गलमय आशीर्वाद प्रदान किये ॥ ११ ॥

अथ भ्रातरमव्यग्रं प्रियं रामः प्रियंवदम्।
सौमित्रिं तमुवाचेदं ब्रह्मेव त्रिदशेश्वरम् ॥ १२ ॥

तदनन्तर श्रीरामने शान्तभावसे खड़े हुए और प्रिय वचन बोलनेवाले अपने प्रिय भ्राता सुमित्राकुमार लक्ष्मणसे

उसी तरह निम्नाङ्कित बात कही, जैसे ब्रह्मा देवराज इन्द्रसे कुछ कहते हैं ॥ १२ ॥

अगस्त्यं कौशिकं चैव तावुभौ ब्राह्मणोत्तमौ ।
अर्चयाहूय सौमित्रे रत्नैः सस्यमिवाम्बुभिः ॥ १३ ॥
तर्पयस्व महाबाहो गोसहस्रेण राघव ।
सुवर्णरजतैश्चैव मणिभिश्च महाधनैः ॥ १४ ॥

'सुमित्रानन्दन ! अगस्त्य और विश्वामित्र दोनों उत्तम ब्राह्मणोंको बुलाकर रत्नोंद्वारा उनकी पूजा करो । महाबाहु रघुनन्दन ! जैसे मेघ जलकी वर्षाद्वारा खेतीको तृप्त करता है, उसी प्रकार तुम उन्हें सहस्रों गौओं, सुवर्णमुद्राओं, रजतद्रव्यों और बहुमूल्य मणियोंद्वारा संतुष्ट करो ॥ १३-१४ ॥

कौसल्यां च य आशीर्भिर्भक्तः पर्युपतिष्ठति ।
आचार्यस्तैत्तिरीयाणामभिरूपश्च वेदवित् ॥ १५ ॥
तस्य यानं च दासीश्च सौमित्रे सम्प्रदापय ।
कौशेयानि च वस्त्राणि यावत् तुष्यति स द्विजः ॥ १६ ॥

'लक्ष्मण ! यजुर्वेदीय तैत्तिरीय शाखाका अध्ययन करनेवाले ब्राह्मणोंके जो आचार्य और सम्पूर्ण वेदोंके विद्वान् हैं, साथ ही जिनमें दानप्राप्तिकी योग्यता है तथा जो माता कौसल्याके प्रति भक्तिभाव रखकर प्रतिदिन उनके पास आकर उन्हें आशीर्वाद प्रदान करते हैं, उनको सवारी, दास-दासी, रेशमी वस्त्र और जितने धनसे वे ब्राह्मणदेवता संतुष्ट हों, उतना धन खजानेसे दिलवाओ ॥ १५-१६ ॥

सूतश्चित्ररथश्चार्यः सचिवः सुचिरोषितः ।
तोषयैनं महार्हैश्च रत्नैर्वस्त्रैर्धनैस्तथा ॥ १७ ॥
पशुकाभिश्च सर्वाभिर्गवां दशशतेन च ।

'चित्ररथ नामक सूत श्रेष्ठ सचिव भी हैं। वे सुदीर्घकालसे यहीं राजकुलकी सेवामें रहते हैं । इनको भी तुम बहुमूल्य रत्न, वस्त्र और धन देकर संतुष्ट करो । साथ ही, इन्हें उत्तम श्रेणीके अज आदि सभी पशु और एक सहस्र गौएँ अर्पित करके पूर्ण संतोष प्रदान करो ॥ १७½ ॥

ये चेमे कठकालापा बहवो दण्डमाणवाः ॥ १८ ॥
नित्यस्वाध्यायशीलत्वान्नान्यत् कुर्वन्ति किंचन ।
अलसाः स्वादुकामाश्च महतां चापि सम्मताः ॥ १९ ॥
तेषामशीतियानानि रत्नपूर्णानि दापय ।
शालिवाहसहस्रं च द्वे शते भद्रकांस्तथा ॥ २० ॥

'मुझसे सम्बन्ध रखनेवाले जो कठशाखा और कलापशाखाके अध्येता बहुत-से दण्डधारी ब्रह्मचारी हैं, वे सदा स्वाध्यायमें ही संलग्न रहनेके कारण दूसरा कोई कार्य नहीं कर पाते । भिक्षा माँगनेमें आलसी हैं, परंतु स्वादिष्ट अन्न खानेकी इच्छा रखते हैं । महान् पुरुष भी उनका सम्मान करते हैं । उनके लिये रत्नोंके बोझसे लदे हुए अस्सी ऊँट, अगहनी चावलका भार ढोनेवाले एक सहस्र बैल तथा भद्रक नामक धान्यविशेष (चने, मूँग आदि) का भार लिये हुए दो सौ बैल और दिलवाओ ॥ १८–२० ॥

व्यञ्जनार्थं च सौमित्रे गोसहस्रमुपाकुरु ।
मेखलीनां महासङ्घः कौसल्यां समुपस्थितः ।
तेषां सहस्रं सौमित्रे प्रत्येकं सम्प्रदापय ॥ २१ ॥

'सुमित्राकुमार ! उपर्युक्त वस्तुओंके सिवा उनके लिये दही, घी आदि व्यञ्जनके निमित्त एक सहस्र गौएँ भी हँकवा दो । माता कौसल्याके पास मेखलाधारी ब्रह्मचारियोंका बहुत बड़ा समुदाय आया है । उनमेंसे प्रत्येकको एक-एक हजार स्वर्णमुद्राएँ दिलवा दो ॥ २१ ॥

अम्बा यथा नो नन्देच्च कौसल्या मम दक्षिणाम् ।
तथा द्विजातींस्तान् सर्वाँल्लक्ष्मणार्चय सर्वशः ॥ २२ ॥

'लक्ष्मण ! उन समस्त ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंको मेरेद्वारा दिलायी हुई दक्षिणा देखकर जिस प्रकार मेरी माता कौसल्या आनन्दित हो उठें, उसी प्रकार तुम उन सबकी सब प्रकारसे पूजा करो' ॥ २२ ॥

ततः पुरुषशार्दूलस्तद् धनं लक्ष्मणः स्वयम् ।
यथोक्तं ब्राह्मणेन्द्राणामददाद् धनदो यथा ॥ २३ ॥

इस प्रकार आज्ञा प्राप्त होनेपर पुरुषसिंह लक्ष्मणने स्वयं ही कुबेरकी भाँति श्रीरामके कथनानुसार उन श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको उस धनका दान किया ॥ २३ ॥

अथाब्रवीद् बाष्पगलांस्तिष्ठतश्चोपजीविनः ।
स प्रदाय बहुद्रव्यमेकैकस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥
लक्ष्मणस्य च यद् वेश्म गृहं च यदिदं मम ।
अशून्यं कार्यमेकैकं यावदागमनं मम ॥ २५ ॥

इसके बाद वहाँ खड़े हुए अपने आश्रित सेवकोंको जिनका गला आँसुओंसे रुँधा हुआ था, बुलाकर श्रीरामने उनमेंसे एक-एकको चौदह वर्षोंतक जीविका चलानेयोग्य बहुत-सा द्रव्य प्रदान किया और उन सबसे कहा—'जबतक मैं वनसे लौटकर न आऊँ, तबतक तुमलोग लक्ष्मणके और मेरे इस घरको कभी सूना न करना—छोड़कर अन्यत्र न जाना' ॥ २४-२५ ॥

इत्युक्त्वा दुःखितं सर्वं जनं तमुपजीविनम् ।
उवाचेदं धनाध्यक्षं धनमानीयतां मम ॥ २६ ॥

वे सब सेवक श्रीरामके वनगमनसे बहुत दुखी थे । उनसे उपर्युक्त बात कहकर श्रीराम अपने धनाध्यक्ष (खजांची) से बोले—'खजानेमें मेरा जितना धन है, वह सब ले आओ' ॥

ततोऽस्य धनमाजह्रुः सर्व एवोपजीविनः ।
स राशिः सुमहांस्तत्र दर्शनीयो ह्यदृश्यत ॥ २७ ॥

यह सुनकर सभी सेवक उनका धन ढो-ढोकर ले आने लगे। वहाँ उस धनकी बहुत बड़ी राशि एकत्र हुई दिखायी देने लगी, जो देखने ही योग्य थी॥ २७॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तद् धनं सहलक्ष्मणः।
द्विजेभ्यो बालवृद्धेभ्यः कृपणेभ्यो ह्यदापयत्॥ २८॥

तब लक्ष्मणसहित पुरुषसिंह श्रीरामने बालक और बूढ़े ब्राह्मणों तथा दीन-दुखियोंको वह सारा धन बँटवा दिया॥

तत्रासीत् पिङ्गलो गार्ग्यस्त्रिजटो नाम वै द्विजः।
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं फालकुद्दाललाङ्गली॥ २९॥

उन दिनों वहाँ अयोध्याके आस-पास वनमें त्रिजट नामवाले एक गर्गगोत्रीय ब्राह्मण रहते थे। उनके पास जीविकाका कोई साधन नहीं था, इसलिये उपवास आदिके कारण उनके शरीरका रंग पीला पड़ गया था। वे सदा फाल, कुदाल और हल लिये वनमें फल-मूलकी तलाशमें घूमा करते थे॥ २९॥

तं वृद्धं तरुणी भार्या बालानादाय दारकान्।
अब्रवीद् ब्राह्मणं वाक्यं स्त्रीणां भर्ता हि देवता॥ ३०॥
अपास्य फालं कुद्दालं कुरुष्व वचनं मम।
रामं दर्शय धर्मज्ञं यदि किंचिदवाप्स्यसि॥ ३१॥

वे स्वयं तो बूढ़े हो चले थे, परंतु उनकी पत्नी अभी तरुणी थी। उसने छोटे बच्चोंको लेकर ब्राह्मणदेवतासे यह बात कही—'प्राणनाथ! (यद्यपि) स्त्रियोंके लिये पति ही देवता है, (अतः मुझे आपको आदेश देनेका कोई अधिकार नहीं है, तथापि मैं आपकी भक्त हूँ; इसलिये विनयपूर्वक यह अनुरोध करती हूँ कि-) आप यह फाल और कुदाल फेंककर मेरा कहना कीजिये। धर्मज्ञ श्रीरामचन्द्रजीसे मिलिये। यदि आप ऐसा करें तो वहाँ अवश्य कुछ पा जायँगे'॥ ३०-३१॥

स भार्याया वचः श्रुत्वा शाटीमाच्छाद्य दुश्छदाम्।
स प्रातिष्ठत पन्थानं यत्र रामनिवेशनम्॥ ३२॥

पत्नीकी बात सुनकर ब्राह्मण एक फटी धोती, जिससे मुश्किलसे शरीर ढक पाता था, पहनकर उस मार्गपर चल दिये, जहाँ श्रीरामचन्द्रजीका महल था॥ ३२॥

भृग्वङ्गिरःसमं दीप्त्या त्रिजटं जनसंसदि।
आपञ्चमायाः कक्ष्याया नैनं कश्चिदवारयत्॥ ३३॥

भृगु और अङ्गिराके समान तेजस्वी त्रिजट जनसमुदायके बीचसे होकर श्रीराम-भवनकी पाँचवीं ड्योढ़ीतक चले गये, परंतु उनके लिये किसीने रोक-टोक नहीं की॥ ३३॥

स राममासाद्य तदा त्रिजटो वाक्यमब्रवीत्।
निर्धनो बहुपुत्रोऽस्मि राजपुत्र महाबल॥ ३४॥
क्षतवृत्तिर्वने नित्यं प्रत्यवेक्षस्व मामिति।

उस समय श्रीरामके पास पहुँचकर त्रिजटने कहा—'महाबली राजकुमार! मैं निर्धन हूँ, मेरे बहुत-से पुत्र हैं, जीविका नष्ट हो जानेसे सदा वनमें ही रहता हूँ; आप मुझपर कृपादृष्टि कीजिये'॥ ३४½॥

तमुवाच ततो रामः परिहाससमन्वितम्॥ ३५॥
गवां सहस्रमप्येकं न च विश्राणितं मया।
परिक्षिपसि दण्डेन यावत्तावदवाप्स्यसे॥ ३६॥

तब श्रीरामने विनोदपूर्वक कहा—'ब्रह्मन्! मेरे पास असंख्य गौएँ हैं, इनमेंसे एक सहस्रका भी मैंने अभीतक किसीको दान नहीं किया है। आप अपना डंडा जितनी दूर फेंक सकेंगे, वहाँतककी सारी गौएँ आपको मिल जायँगी'॥

स शाटीं परितः कट्यां सम्भ्रान्तः परिवेष्ट्य ताम्।
आविध्य दण्डं चिक्षेप सर्वप्राणेन वेगतः॥ ३७॥

यह सुनकर उन्होंने बड़ी तेजीके साथ धोतीके पल्लेको सब ओरसे कमरमें लपेट लिया और अपनी सारी शक्ति लगाकर डंडेको बड़े वेगसे घुमाकर फेंका॥ ३७॥

स तीर्त्वा सरयूपारं दण्डस्तस्य कराच्च्युतः।
गोव्रजे बहुसाहस्रे पपातोक्षणसंनिधौ॥ ३८॥

ब्राह्मणके हाथसे छूटा हुआ वह डंडा सरयूके उस पार जाकर हजारों गौओंसे भरे हुए गोष्ठमें एक साँड़के पास गिरा॥३८॥

तं परिष्वज्य धर्मात्मा आ तस्मात् सरयूतटात्।
आनयामास ता गावस्त्रिजटस्याश्रमं प्रति॥ ३९॥

धर्मात्मा श्रीरामने त्रिजटको छातीसे लगा लिया और उस सरयूतटसे लेकर उस पार गिरे हुए डंडेके स्थानतक जितनी गौएँ थीं, उन सबको मँगवाकर त्रिजटके आश्रमपर भेज दिया॥ ३९॥

उवाच च तदा रामस्तं गार्ग्यमभिसान्त्वयन्।
मन्युर्न खलु कर्तव्यः परिहासो ह्ययं मम॥ ४०॥

उस समय श्रीरामने गर्गवंशी त्रिजटको सान्त्वना देते हुए कहा—'ब्रह्मन्! मैंने विनोदमें यह बात कही थी, आप इसके लिये बुरा न मानियेगा॥ ४०॥

इदं हि तेजस्तव यद् दुरत्ययं
तदेव जिज्ञासितुमिच्छता मया।
इमं भवानर्थमभिप्रचोदितो
वृणीष्व किंचेदपरं व्यवस्यसि॥ ४१॥

'आपका यह जो दुर्लङ्घ्य तेज है, इसीको जाननेकी इच्छासे मैंने आपको यह डंडा फेंकनेके लिये प्रेरित किया था, यदि आप और कुछ चाहते हों तो माँगिये॥ ४१॥

ब्रवीमि सत्येन न ते स्म यन्त्रणां
धनं हि यद्यन्मम विप्रकारणात्।
भवत्सु सम्यक्प्रतिपादनेन
मयार्जितं चैव यशस्करं भवेत्॥ ४२॥

'मैं सच कहता हूँ कि इसमें आपके लिये कोई संकोचकी बात नहीं है। मेरे पास जो-जो धन हैं, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। आप-जैसे ब्राह्मणोंको शास्त्रीय विधिके अनुसार दान देनेसे मेरे द्वारा उपार्जित किया हुआ धन मेरे यशकी वृद्धि करनेवाला होगा' ॥ ४२ ॥

ततः सभार्यस्त्रिजटो महामुनि-
र्गवामनीकं प्रतिगृह्य मोदितः।
यशोबलप्रीतिसुखोपबृंहिणी-
स्तदाशिषः प्रत्यवदन्महात्मनः॥४३॥

गौओंके उस महान् समूहको पाकर पत्नीसहित महामुनि त्रिजटको बड़ी प्रसन्नता हुई, वे महात्मा श्रीरामको यश, बल, प्रीति तथा सुख बढ़ानेवाले आशीर्वाद देने लगे ॥ ४३ ॥

स चापि रामः प्रतिपूर्णपौरुषो
महाधनं धर्मबलैरुपार्जितम्।
नियोजयामास सुहृज्जने चिराद्
यथार्हसम्मानवचःप्रचोदितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर पूर्ण पराक्रमी भगवान् श्रीराम धर्मबलसे उपार्जित किये हुए उस महान् धनको लोगोंके यथायोग्य सम्मानपूर्ण वचनोंसे प्रेरित हो बहुत देरतक अपने सुहृदोंमें बाँटते रहे॥ ४४ ॥

द्विजः सुहृद् भृत्यजनोऽथवा तदा
दरिद्रभिक्षाचरणश्च यो भवेत्।
न तत्र कश्चिन्न बभूव तर्पितो
यथार्हसम्माननदानसम्भ्रमैः ॥ ४५ ॥

उस समय वहाँ कोई भी ब्राह्मण, सुहृद्, सेवक, दरिद्र अथवा भिक्षुक ऐसा नहीं था, जो श्रीरामके यथायोग्य सम्मान, दान तथा आदर-सत्कारसे तृप्त न किया गया हो ॥ ४५ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे द्वात्रिंशः सर्गः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें बत्तीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

त्रयस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका दुखी नगरवासियोंके मुखसे तरह-तरहकी बातें सुनते हुए पिताके दर्शनके लिये कैकेयीके महलमें जाना

दत्त्वा तु सह वैदेह्या ब्राह्मणेभ्यो धनं बहु।
जग्मतुः पितरं द्रष्टुं सीतया सह राघवौ ॥ १ ॥

विदेहकुमारी सीताके साथ श्रीराम और लक्ष्मण ब्राह्मणोंको बहुत-सा धन दान करके वन जानेके लिये उद्यत हो पिताका दर्शन करनेके लिये गये ॥ १ ॥

ततो गृहीते प्रेष्याभ्यामशोभेतां तदायुधे।
मालादामभिरासक्ते सीतया समलंकृते ॥ २ ॥

उनके साथ दो सेवक श्रीराम और लक्ष्मणके वे धनुष आदि आयुध लेकर चले, जिन्हें फूलकी मालाओंसे सजाया गया था और सीताजीने पूजाके लिये चढ़ाये हुए चन्दन आदिसे अलंकृत किया था। उन दोनोंके आयुधोंकी उस समय बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २ ॥

ततः प्रासादहर्म्याणि विमानशिखराणि च।
अभिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत् ॥ ३ ॥

उस अवसरपर धनी लोग प्रासादों (तिमंजिले महलों), हर्म्यगृहों (राजभवनों) तथा विमानों (सात मंजिले महलों) की ऊपरी छतोंपर चढ़कर उदासीन भावसे उन तीनोंकी ओर देखने लगे ॥ ३ ॥

न हि रथ्याः सुशक्यन्ते गन्तुं बहुजनाकुलाः।
आरुह्य तस्मात् प्रासादाद् दीनाः पश्यन्ति राघवम्॥४॥

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भीड़से भरी थीं। इस लिये उनपर सुगमतापूर्वक चलना कठिन हो गया था। अतः अधिकांश मनुष्य प्रासादों (तिमंजिले मकानों) पर चढ़कर वहींसे दुखी होकर श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देख रहे थे ॥ ४ ॥

पदातिं सानुजं दृष्ट्वा ससीतं च जनास्तदा।
ऊचुर्बहुजना वाचः शोकोपहतचेतसः॥ ५ ॥

श्रीरामको अपने छोटे भाई लक्ष्मण और पत्नी सीताके साथ पैदल जाते देख बहुत-से मनुष्योंका हृदय शोकसे व्याकुल हो उठा। वे खेदपूर्वक कहने लगे—॥ ५ ॥

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेकं सीतया सार्धमनुयाति स्म लक्ष्मणः ॥ ६ ॥

'हाय! यात्राके समय जिनके पीछे विशाल चतुरङ्गिणी सेना चलती थी, वे ही श्रीराम आज अकेले जा रहे हैं और उनके पीछे सीताके साथ लक्ष्मण चल रहे हैं॥ ६ ॥

ऐश्वर्यस्य रसज्ञः सन् कामानां चाकरो महान्।
नेच्छत्येवानृतं कर्तुं वचनं धर्मगौरवात् ॥ ७ ॥

'जो ऐश्वर्यके सुखका अनुभव करनेवाले तथा भोग्य वस्तुओंके महान् भण्डार थे—जहाँ सबकी कामनाएँ पूर्ण होती थीं, वे ही श्रीराम आज धर्मका गौरव रखनेके लिये पिताकी बात झूठी करना नहीं चाहते हैं ॥ ७ ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ।
तामद्य सीतां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः ॥ ८ ॥

'ओह ! पहले जिसे आकाशमें विचरनेवाले प्राणी भी नहीं देख पाते थे, उसी सीताको इस समय सड़कोंपर खड़े हुए लोग देख रहे हैं ॥ ८ ॥

अङ्गरागोचितां सीतां रक्तचन्दनसेविनीम् ।
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम् ॥ ९ ॥

'सीता अङ्गराग-सेवनके योग्य हैं, लाल चन्दनका सेवन करनेवाली हैं। अब वर्षा, गर्मी और सर्दी शीघ्र ही इनके अङ्गोंकी कान्ति फीकी कर देगी ॥ ९ ॥

अद्य नूनं दशरथः सत्त्वमाविश्य भाषते ।
नहि राजा प्रियं पुत्रं विवासयितुमर्हति ॥ १० ॥

'निश्चय ही आज राजा दशरथ किसी पिशाचके आवेशमें पड़कर अनुचित बात कह रहे हैं; क्योंकि अपनी स्वाभाविक स्थितिमें रहनेवाला कोई भी राजा अपने प्यारे पुत्रको घरसे निकाल नहीं सकता ॥ १० ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् विनिवासनम् ।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥ ११ ॥

'पुत्र यदि गुणहीन हो तो भी उसे घरसे निकाल देनेका साहस कैसे हो सकता है ? फिर जिसके केवल चरित्रसे ही यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसको वनवास देनेकी तो बात ही कैसे की जा सकती है ? ॥ ११ ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशः श्रुतं शीलं दमः शमः ।
राघवं शोभयन्त्येते षड्गुणाः पुरुषर्षभम् ॥ १२ ॥

'क्रूरताका अभाव, दया, विद्या, शील, दम (इन्द्रिय-संयम) और शम (मनोनिग्रह)—ये छः गुण नरश्रेष्ठ श्रीराम-को सदा ही सुशोभित करते हैं ॥ १२ ॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।
औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥ १३ ॥

'अतः इनके ऊपर आघात करने—इनके राज्याभिषेकमें विघ्न डालनेसे प्रजाको उसी तरह महान् क्लेश पहुँचा है, जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी सूख जानेसे उसके भीतर रहनेवाले जीव तड़पने लगते हैं ॥ १३ ॥

पीडया पीडितं सर्वं जगदस्य जगत्पतेः ।
मूलस्येवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥ १४ ॥

'इन जगदीश्वर श्रीरामकी व्यथासे सम्पूर्ण जगत् व्यथित हो उठा है, जैसे जड़ काट देनेसे पुष्प और फलसहित सारा वृक्ष सूख जाता है ॥ १४ ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मसारो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखाश्चास्येतरे जनाः ॥ १५ ॥

'ये महान् तेजस्वी श्रीराम सम्पूर्ण मनुष्योंके मूल हैं, धर्म ही इनका बल है । जगत्के दूसरे प्राणी पत्र, पुष्प, फल और शाखाएँ हैं ॥ १५ ॥

ते लक्ष्मण इव क्षिप्रं सपत्न्यः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति राघवः ॥ १६ ॥

'अतः हमलोग भी लक्ष्मणकी भाँति पत्नी और बन्धु-बान्धवोंके साथ शीघ्र ही इन जानेवाले श्रीरामके ही पीछे-पीछे चल दें। जिस मार्गसे श्रीरघुनाथजी जा रहे हैं, उसीका हम भी अनुसरण करें ॥ १६ ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखा राममनुगच्छाम धार्मिकम् ॥ १७ ॥

'बाग-बगीचे, घर-द्वार और खेती-बारी—सब छोड़कर धर्मात्मा श्रीरामका अनुगमन करें । इनके दुःख-सुखके साथी बनें ॥ १७ ॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥ १८ ॥
रजसाभ्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥ १९ ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥ २० ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि कैकेयी वेश्मानि प्रतिपद्यताम् ॥ २१ ॥

'हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें । आँगन-की फर्श खोद डालें । सारा धन-धान्य साथ ले लें । सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें । इनमें चारों ओर धूल भर जाय । देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ । चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें और उनसे ये घर भर जायँ । इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे । यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय । मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ । इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कैकेयी आकर अधिकार कर ले ॥ १८–२१ ॥

वनं नगरमेवास्तु येन गच्छति राघवः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥ २२ ॥

'जहाँ पहुँचनेके लिये ये श्रीरामचन्द्रजी जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर भी वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥ २२ ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे सानूनि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद्भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ।२३।

'वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ । पर्वतपर रहनेवाले मृग और पक्षी उसके शिखरोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी उन वनोंको त्याग-कर दूर चले जायँ ॥ २३ ॥

असत्त्यक्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च।
तृणमांसफलादानां देशं व्यालमृगद्विजम्॥ २४॥
प्रपद्यतां हि कैकेयी सपुत्रा सह बान्धवैः।
राघवेण वयं सर्वे वने वत्स्याम निर्वृताः॥ २५॥

'वे सर्प आदि उन स्थानोंमें चले जायँ, जिन्हें हमलोगोंने छोड़ रखा है और उन स्थानोंको त्याग दें, जिनका हम सेवन करते हैं। यह देश घास चरनेवाले पशुओं, मांसभक्षी हिंसक जन्तुओं और फल खानेवाले पक्षियोंका निवासस्थान बन जाय। यहाँ सर्प, पशु और पक्षी रहने लगें। उस दशामें पुत्र और बन्धु-बान्धवोंसहित कैकेयी इसे अपने अधिकारमें कर ले। हम सब लोग वनमें श्रीरघुनाथजीके साथ बड़े आनन्दसे रहेंगे'॥ २४-२५॥

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः।
शुश्राव राघवः श्रुत्वा न विचक्रेऽस्य मानसम्॥ २६॥
स तु वेश्म पुनर्मातुः कैलासशिखरप्रभम्।
अभिचक्राम धर्मात्मा मत्तमातङ्गविक्रमः॥ २७॥

इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीने बहुत-से मनुष्योंके मुँहसे निकली हुई तरह-तरहकी बातें सुनीं; किंतु सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं हुआ। मतवाले गजराजके समान पराक्रमी धर्मात्मा श्रीराम पुनः माता कैकेयीके कैलासशिखरके सदृश शुभ्र भवनमें गये॥ २६-२७॥

विनीतवीरपुरुषं प्रविश्य तु नृपालयम्।
ददर्शावस्थितं दीनं सुमन्त्रमविदूरतः॥ २८॥

विनयशील वीर पुरुषोंसे युक्त उस राजभवनमें प्रवेश करके उन्होंने देखा—सुमन्त्र पास ही दुखी होकर खड़े हैं॥ २८॥

प्रतीक्षमाणोऽभिजनं तदार्त-
मनार्तरूपः प्रहसन्निवाथ।
जगाम रामः पितरं दिदृक्षुः
पितुर्निदेशं विधिवच्चिकीर्षुः॥ २९॥

पूर्वजोंकी निवासभूमि अवधके मनुष्य वहाँ शोकसे आतुर होकर खड़े थे। उन्हें देखकर भी श्रीराम स्वयं शोकसे पीड़ित नहीं हुए—उनके शरीरपर व्यथाका कोई चिह्न प्रकट नहीं हुआ। वे पिताकी आज्ञाका विधिपूर्वक पालन करनेकी इच्छासे उनका दर्शन करनेके लिये हँसते हुए-से आगे बढ़े॥ २९॥

तत्पूर्वमैक्ष्वाकसुतो महात्मा
रामो गमिष्यन् नृपमार्तरूपम्।
व्यतिष्ठत प्रेक्ष्य तदा सुमन्त्रं
पितुर्महात्मा प्रतिहारणार्थम्॥ ३०॥

शोकाकुलरूपसे पड़े हुए राजाके पास जानेवाले महात्मा महामना इक्ष्वाकुकुलनन्दन श्रीराम वहाँ पहुँचनेसे पहले सुमन्त्र-को देखकर पिताके पास अपने आगमनकी सूचना भेजनेके लिये उस समय वहीं ठहर गये॥ ३०॥

पितुर्निदेशेन तु धर्मवत्सलो
वनप्रवेशे कृतबुद्धिनिश्चयः।
स राघवः प्रेक्ष्य सुमन्त्रमब्रवी-
न्निवेदयस्वागमनं नृपाय मे॥ ३१॥

पिताके आदेशसे वनमें प्रवेश करनेका बुद्धिपूर्वक निश्चय करके आये हुए धर्मवत्सल श्रीरामचन्द्रजी सुमन्त्रकी ओर देखकर बोले—'आप महाराजको मेरे आगमनकी सूचना दे दें'॥ ३१॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे त्रयस्त्रिंशः सर्गः॥ ३३॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें तैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ॥ ३३॥

चतुस्त्रिंशः सर्गः

सीता और लक्ष्मणसहित श्रीरामका रानियोंसहित राजा दशरथके पास जाकर वनवासके लिये विदा माँगना, राजाका शोक और मूर्च्छा, श्रीरामका उन्हें समझाना तथा राजाका श्रीरामको हृदयसे लगाकर पुनः मूर्च्छित हो जाना

ततः कमलपत्राक्षः श्यामो निरुपमो महान्।
उवाच रामस्तं सूतं पितुराख्याहि मामिति॥ १॥
स रामप्रेषितः क्षिप्रं संतापकलुषेन्द्रियम्।
प्रविश्य नृपतिं सूतो निःश्वसन्तं ददर्श ह॥ २॥

जब कमलनयन श्यामसुन्दर उपमारहित महापुरुष श्रीरामने सूत सुमन्त्रसे कहा—'आप पिताजीको मेरे आगमन-की सूचना दे दीजिये' तब श्रीरामकी प्रेरणासे शीघ्र ही भीतर जाकर सारथि सुमन्त्रने राजाका दर्शन किया। उनकी सारी इन्द्रियाँ संतापसे कलुषित हो रही थीं। वे लंबी साँस खींच रहे थे॥ १-२॥

उपरक्तमिवादित्यं भस्मच्छन्नमिवानलम्।
तटाकमिव निस्तोयमपश्यज्जगतीपतिम्॥ ३॥
आबोध्य च महाप्राज्ञः परमाकुलचेतनम्।
राममेवानुशोचन्तं सूतः प्राञ्जलिरब्रवीत्॥ ४॥

सुमन्त्रने देखा, पृथ्वीपति महाराज दशरथ राहुग्रस्त सूर्य, राखसे ढकी हुई आग तथा जलशून्य तालाबके समान श्रीहीन हो रहे हैं। उनका चित्त अत्यन्त व्याकुल है और वे श्रीरामका ही चिन्तन कर रहे हैं। तब महाप्राज्ञ सूतने महाराजको सम्बोधित करके हाथ जोड़कर कहा॥ ३-४॥

तं वर्धयित्वा राजानं पूर्वं सूतो जयाशिषा।

भयविक्लवया वाचा मन्दया श्लक्ष्णयाब्रवीत् ॥ ५ ॥

पहले तो सूत सुमन्त्रने विजयसूचक आशीर्वाद देते हुए महाराजकी अभ्युदय-कामना की; फिर भयसे व्याकुल मन्द-मधुर वाणीद्वारा यह बात कही—॥ ५ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो द्वारि तिष्ठति ते सुतः।
ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा सर्वं चैवोपजीविनाम् ॥ ६ ॥
स त्वां पश्यतु भद्रं ते रामः सत्यपराक्रमः।
सर्वान् सुहृद आपृच्छ्य त्वां हीदानीं दिदृक्षते ॥ ७ ॥
गमिष्यति महारण्यं तं पश्य जगतीपते।
वृतं राजगुणैः सर्वैरादित्यमिव रश्मिभिः ॥ ८ ॥

'पृथ्वीनाथ ! आपके पुत्र ये सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह श्रीराम ब्राह्मणों तथा आश्रित सेवकोंको अपना सारा धन देकर द्वारपर खड़े हैं। आपका कल्याण हो, ये अपने सब सुहृदोंसे मिलकर—उनसे विदा लेकर इस समय आपका दर्शन करना चाहते हैं। आज्ञा हो तो यहाँ आकर आपका दर्शन करें। राजन् ! अब ये विशाल वनमें चले जायँगे, अतः किरणोंसे युक्त सूर्यकी भाँति समस्त राजोचित गुणसे सम्पन्न इन श्रीरामको आप भी जी भरकर देख लीजिये' ॥ ६—८ ॥

स सत्यवाक्यो धर्मात्मा गाम्भीर्यात् सागरोपमः।
आकाश इव निष्पङ्को नरेन्द्रः प्रत्युवाच तम् ॥ ९ ॥

यह सुनकर समुद्रके समान गम्भीर तथा आकाशकी भाँति निर्मल, सत्यवादी धर्मात्मा महाराज दशरथने उन्हें उत्तर दिया—॥ ९ ॥

सुमन्त्रानय मे दारान् ये केचिदिह मामकाः।
दारैः परिवृतः सर्वैर्द्रष्टुमिच्छामि राघवम् ॥ १० ॥

'सुमन्त्र ! यहाँ जो कोई भी मेरी स्त्रियाँ हैं, उन सबको बुलाओ। उन सबके साथ मैं श्रीरामको देखना चाहता हूँ' ॥ १० ॥

सोऽन्तःपुरमतीत्यैव स्त्रियस्ता वाक्यमब्रवीत्।
आर्यो ह्वयति वो राजा गम्यतां तत्र मा चिरम् ॥ ११ ॥

तब सुमन्त्रने बड़े वेगसे अन्तःपुरमें जाकर सब स्त्रियोंसे कहा—'देवियो ! आपलोगोंको महाराज बुला रहे हैं, अतः वहाँ शीघ्र चलें' ॥ ११ ॥

एवमुक्ताः स्त्रियः सर्वाः सुमन्त्रेण नृपाज्ञया।
प्रचक्रमुस्तद् भवनं भर्तुराज्ञाय शासनम् ॥ १२ ॥

राजाकी आज्ञासे सुमन्त्रके ऐसा कहनेपर वे सब रानियाँ स्वामीका आदेश समझकर उस भवनकी ओर चलीं ॥ १२ ॥

अर्धसप्तशतास्तत्र प्रमदास्ताम्रलोचनाः।
कौसल्यां परिवार्याथ शनैर्जग्मुर्धृतव्रताः ॥ १३ ॥

कुछ-कुछ लाल नेत्रोंवाली साढ़े तीन सौ पतिव्रता युवती स्त्रियाँ महारानी कौसल्याको सब ओरसे घेरकर धीरे-धीरे उस भवनमें गयीं ॥ १३ ॥

आगतेषु च दारेषु समवेक्ष्य महीपतिः।
उवाच राजा तं सूतं सुमन्त्रानय मे सुतम् ॥ १४ ॥

उन सबके आ जानेपर उन्हें देखकर पृथ्वीपति राजा दशरथने सूतसे कहा—'सुमन्त्र ! अब मेरे पुत्रको ले आओ' ॥

स सूतो राममादाय लक्ष्मणं मैथिलीं तथा।
जगामाभिमुखस्तूर्णं सकाशं जगतीपतेः ॥ १५ ॥

आज्ञा पाकर सुमन्त्र गये और श्रीराम, लक्ष्मण तथा सीताको साथ लेकर शीघ्र ही महाराजके पास लौट आये ॥

स राजा पुत्रमायान्तं दृष्ट्वा चारात् कृताञ्जलिम्।
उत्पपातासनात् तूर्णमार्तः स्त्रीजनसंवृतः ॥ १६ ॥

महाराज दूरसे ही अपने पुत्रको हाथ जोड़कर आते देख सहसा अपने आसनसे उठ खड़े हुए। उस समय स्त्रियोंसे घिरे हुए वे नरेश शोकसे आर्त हो रहे थे ॥ १६ ॥

सोऽभिदुद्राव वेगेन रामं दृष्ट्वा विशाम्पतिः।
तमसम्प्राप्य दुःखार्तः पपात भुवि मूर्च्छितः ॥ १७ ॥

श्रीरामको देखते ही वे प्रजापालक महाराज बड़े वेगसे उनकी ओर दौड़े, किंतु उनके पास पहुँचनेके पहले ही दुःखसे व्याकुल हो पृथ्वीपर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये ॥ १७ ॥

तं रामोऽभ्यपतत् क्षिप्रं लक्ष्मणश्च महारथः।
विसंज्ञमिव दुःखेन सशोकं नृपतिं तथा ॥ १८ ॥

उस समय श्रीराम और महारथी लक्ष्मण बड़ी तेजीसे चलकर दुःखके कारण अचेत-से हुए शोकमग्न महाराजके पास जा पहुँचे ॥ १८ ॥

स्त्रीसहस्रनिनादश्च संजज्ञे राजवेश्मनि।
हा हा रामेति सहसा भूषणध्वनिमिश्रितः ॥ १९ ॥

इतनेहीमें उस राजभवनके भीतर सहसा आभूषणोंकी ध्वनिके साथ सहस्रों स्त्रियोंका 'हा राम ! हा राम !' यह आर्तनाद गूँज उठा ॥ १९ ॥

तं परिष्वज्य बाहुभ्यां तावुभौ रामलक्ष्मणौ।
पर्यङ्के सीतया सार्धं रुदन्तः समवेशयन् ॥ २० ॥

श्रीराम और लक्ष्मण दोनों भाई भी सीताके साथ रो पड़े और उन तीनोंने महाराजको दोनों भुजाओंसे उठाकर पलंगपर बिठा दिया ॥ २० ॥

अथ रामो मुहूर्तस्य लब्धसंज्ञं महीपतिम्।
उवाच प्राञ्जलिर्बाष्पशोकार्णवपरिप्लुतम् ॥ २१ ॥

शोकाश्रुके सागरमें डूबे हुए महाराज दशरथको दो घड़ीमें जब फिर चेत हुआ, तब श्रीरामने हाथ जोड़कर उनसे कहा—॥ २१ ॥

आपृच्छे त्वां महाराज सर्वेषामीश्वरोऽसि नः।
प्रस्थितं दण्डकारण्यं पश्य त्वं कुशलेन माम् ॥ २२ ॥

'महाराज ! आप हमलोगोंके स्वामी हैं। मैं दण्डकारण्यको जा रहा हूँ और आपसे आज्ञा लेने आया हूँ। आप अपनी कल्याणमयी दृष्टिसे मेरी ओर देखिये ॥ २२ ॥

लक्ष्मणं चानुजानीहि सीता चान्वेतु मां वनम्।
कारणैर्बहुभिस्तथ्यैर्वार्यमाणौ न चेच्छतः ॥ २३ ॥

अनुजानीहि सर्वान् नः शोकमुत्सृज्य मानद।
लक्ष्मणं मां च सीतां च प्रजापतिरिवात्मजान्॥ २४॥

'मेरे साथ लक्ष्मणको भी वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये। साथ ही यह भी स्वीकार कीजिये कि सीता भी मेरे साथ वनको जाय। मैंने बहुत-से सच्चे कारण बताकर इन दोनोंको रोकनेकी चेष्टा की है, परंतु ये यहाँ रहना नहीं चाहते हैं; अतः दूसरोंको मान देनेवाले नरेश! आप शोक छोड़कर हम सबको—मुझको, लक्ष्मणको और सीताको भी उसी तरह वनमें जानेकी आज्ञा दीजिये, जैसे ब्रह्माजीने अपने पुत्र सनकादिकोंको तपके लिये वनमें जानेकी अनुमति दी थी'॥

प्रतीक्षमाणमव्यग्रमनुज्ञां जगतीपतेः।
उवाच राजा सम्प्रेक्ष्य वनवासाय राघवम्॥ २५॥

इस प्रकार शान्तभावसे वनवासके लिये राजाकी आज्ञाकी प्रतीक्षा करते हुए श्रीरामचन्द्रजीकी ओर देखकर महाराजने उनसे कहा—॥ २५॥

अहं राघव कैकेय्या वरदानेन मोहितः।
अयोध्यायां त्वमेवाद्य भव राजा निगृह्य माम्॥ २६॥

'रघुनन्दन! मैं कैकेयीको दिये हुए वरके कारण मोहमें पड़ गया हूँ। तुम मुझे कैद करके स्वयं ही अब अयोध्याके राजा बन जाओ'॥ २६॥

एवमुक्तो नृपतिना रामो धर्मभृतां वरः।
प्रत्युवाचाञ्जलिं कृत्वा पितरं वाक्यकोविदः॥ २७॥

महाराजके ऐसा कहनेपर बातचीत करनेमें कुशल धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामने दोनों हाथ जोड़कर पिताको इस प्रकार उत्तर दिया—॥ २७॥

भवान् वर्षसहस्राय पृथिव्या नृपते पतिः।
अहं त्वरण्ये वत्स्यामि न मे राज्यस्य काङ्क्षिता॥ २८॥

'महाराज! आप सहस्रों वर्षोंतक इस पृथ्वीके अधिपति बने रहें। मैं तो अब वनमें ही निवास करूँगा। मुझे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं है॥ २८॥

नव पञ्च च वर्षाणि वनवासे विहृत्य ते।
पुनः पादौ ग्रहीष्यामि प्रतिज्ञान्ते नराधिप॥ २९॥

'नरेश्वर! चौदह वर्षोंतक वनमें घूम-फिरकर आपकी प्रतिज्ञा पूरी कर लेनेके पश्चात् मैं पुनः आपके युगल चरणोंमें मस्तक झुकाऊँगा'॥ २९॥

रुदन्नार्तः प्रियं पुत्रं सत्यपाशेन संयुतः।
कैकेय्या चोद्यमानस्तु मिथो राजा तमब्रवीत्॥ ३०॥

राजा दशरथ एक तो सत्यके बन्धनमें बँधे हुए थे, दूसरे एकान्तमें कैकेयी उन्हें श्रीरामको वनमें तुरंत भेजनेके लिये बाध्य कर रही थी—इस अवस्थामें वे आर्तभावसे रोते हुए वहाँ अपने प्रिय पुत्र श्रीरामसे बोले—॥ ३०॥

श्रेयसे वृद्धये तात पुनरागमनाय च।
गच्छस्वारिष्टमव्यग्रः पन्थानमकुतोभयम्॥ ३१॥

'तात! तुम कल्याणके लिये, वृद्धिके लिये और फिर लौट आनेके लिये शान्तभावसे जाओ। तुम्हारा मार्ग विघ्न-बाधाओंसे रहित और निर्भय हो॥ ३१॥

न हि सत्यात्मनस्तात धर्माभिमनसस्तव।
संनिवर्तयितुं बुद्धिः शक्यते रघुनन्दन॥ ३२॥
अद्य त्विदानीं रजनीं पुत्र मा गच्छ सर्वथा।
एकाहं दर्शनेनापि साधु तावच्चराम्यहम्॥ ३३॥

'बेटा रघुनन्दन! तुम सत्यस्वरूप और धर्मात्मा हो। तुम्हारे विचारको पलटना तो असम्भव है; परंतु रातभर और रह जाओ। सिर्फ एक रातके लिये सर्वथा अपनी यात्रा रोक दो। केवल एक दिन भी तो तुम्हें देखनेका सुख उठा लूँ॥ ३२-३३॥

मातरं मां च सम्पश्यन् वसेमामद्य शर्वरीम्।
तर्पितः सर्वकामैस्त्वं श्वः काल्ये साधयिष्यसि॥ ३४॥

'अपनी माताको और मुझको इस अवस्थामें देखकर आजकी इस रातमें यहीं रह जाओ। मेरे द्वारा सम्पूर्ण अभिलषित वस्तुओंसे तृप्त होकर कल प्रातःकाल यहाँसे जाना॥

दुष्करं क्रियते पुत्र सर्वथा राघव प्रिय।
त्वया हि मत्प्रियार्थं तु वनमेवमुपाश्रितम्॥ ३५॥

'मेरे प्रिय पुत्र श्रीराम! तुम सर्वथा दुष्कर कार्य कर रहे हो। मेरा प्रिय करनेके लिये ही तुमने इस प्रकार वनका आश्रय लिया है॥ ३५॥

न चैतन्मे प्रियं पुत्र शपे सत्येन राघव।
छन्नया चलितस्त्वस्मि स्त्रिया भस्माग्निकल्पया॥ ३६॥
वञ्चना या तु लब्धा मे तां त्वं निस्तर्तुमिच्छसि।
अनया वृत्तसादिन्या कैकेय्याभिप्रचोदितः॥ ३७॥

'परंतु बेटा रघुनन्दन! मैं सत्यकी शपथ खाकर कहता हूँ कि यह मुझे प्रिय नहीं है। मुझे तुम्हारा वनमें जाना अच्छा नहीं लगता। यह मेरी स्त्री कैकेयी राखमें छिपी हुई आगके समान भयंकर है। इसने अपने क्रूर अभिप्रायको छिपा रखा था। इसीने आज मुझे मेरे अभीष्ट संकल्पसे विचलित कर दिया है। कुलोचित सदाचारका विनाश करनेवाली इस कैकेयीने मुझे वरदानके लिये प्रेरित करके मेरे साथ बहुत बड़ा धोखा किया है। इसके द्वारा जो वञ्चना मुझे प्राप्त हुई है, उसीको तुम पार करना चाहते हो॥ ३६-३७॥

न चैतदाश्चर्यतमं यत् त्वं ज्येष्ठः सुतो मम।
अपानृतकथं पुत्र पितरं कर्तुमिच्छसि॥ ३८॥

'पुत्र! तुम अपने पिताको सत्यवादी बनाना चाहते हो। तुम्हारे लिये यह कोई अधिक आश्चर्यकी बात नहीं है; क्योंकि तुम गुण और अवस्था दोनों ही दृष्टियोंसे मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो'॥ ३८॥

अथ रामस्तदा श्रुत्वा पितुरार्तस्य भाषितम्।
लक्ष्मणेन सह भ्रात्रा दीनो वचनमब्रवीत्॥ ३९॥

अपने शोकाकुल पिताका यह कथन सुनकर उस समय छोटे भाई लक्ष्मणसहित श्रीरामने दुखी होकर कहा—॥ ३९॥

प्राप्स्यामि यानद्य गुणान् को मे श्वस्तान् प्रदास्यति।
अपक्रमणमेवातः सर्वकामैरहं वृणे ॥ ४० ॥

'महाराज! आज यात्रा करके मैं जिन गुणों (लाभों)-को पाऊँगा, उन्हें कल कौन मुझे देगा ?* अतः मैं सम्पूर्ण कामनाओंके बदले आज यहाँसे निकल जाना ही अच्छा समझता हूँ और इसीका वरण करता हूँ ॥ ४० ॥

इयं सराष्ट्रा सजना धनधान्यसमाकुला।
मया विसृष्टा वसुधा भरताय प्रदीयताम् ॥ ४१ ॥

'राष्ट्र और यहाँके निवासी मनुष्योंसहित धनधान्यसे सम्पन्न यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप इसे भरतको दे दें ॥४१॥

वनवासकृता बुद्धिर्न च मेऽद्य चलिष्यति।
यस्तु युद्धे वरो दत्तः कैकेय्यै वरद त्वया ॥ ४२ ॥
दीयतां निखिलेनैव सत्यस्त्वं भव पार्थिव।

'मेरा वनवासविषयक निश्चय अब बदल नहीं सकेगा। वरदायक नरेश! आपने देवासुर-संग्राममें कैकेयीको जो वर देनेकी प्रतिज्ञा की थी, उसे पूर्णरूपसे दीजिये और सत्यवादी बनिये ॥ ४२½ ॥

अहं निदेशं भवतो यथोक्तमनुपालयन् ॥ ४३ ॥
चतुर्दश समा वत्स्ये वने वनचरैः सह।
मा विमर्शो वसुमती भरताय प्रदीयताम् ॥ ४४ ॥

'मैं आपकी उक्त आज्ञाका पालन करता हुआ चौदह वर्षोंतक वनमें वनचारी प्राणियोंके साथ निवास करूँगा। आपके मनमें कोई अन्यथा विचार नहीं होना चाहिये। आप यह सारी पृथ्वी भरतको दे दीजिये ॥ ४३-४४ ॥

नहि मे काङ्क्षितं राज्यं सुखमात्मनि वा प्रियम्।
यथानिदेशं कर्तुं वै तवैव रघुनन्दन ॥ ४५ ॥

'रघुनन्दन! मैंने अपने मनको सुख देने अथवा स्वजनोंका प्रिय करनेके उद्देश्यसे राज्य लेनेकी इच्छा नहीं की थी। आपकी आज्ञाका यथावत्‌रूपसे पालन करनेके लिये ही मैंने उसे ग्रहण करनेकी अभिलाषा की थी ॥ ४५ ॥

अपगच्छतु ते दुःखं मा भूर्बाष्पपरिप्लुतः।
नहि क्षुभ्यति दुर्धर्षः समुद्रः सरितां पतिः ॥ ४६ ॥

'आपका दुःख दूर हो जाय, आप इस प्रकार आँसू न बहावें। सरिताओंका स्वामी दुर्धर्ष समुद्र क्षुब्ध नहीं होता है—अपनी मर्यादाका त्याग नहीं करता है (इसी तरह आपको भी क्षुब्ध नहीं होना चाहिये) ॥ ४६ ॥

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम्।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥

'मुझे न तो इस राज्यकी, न सुखकी, न पृथ्वीकी, न इन सम्पूर्ण भोगोंकी, न स्वर्गकी और न जीवनकी ही इच्छा है ॥ ४७ ॥

त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥ ४८ ॥

'पुरुषशिरोमणे! मेरे मनमें यदि कोई इच्छा है तो यही कि आप सत्यवादी बनें। आपका वचन मिथ्या न होने पावे। यह बात मैं आपके सामने सत्य और शुभ कर्मोंकी शपथ खाकर कहता हूँ ॥ ४८ ॥

न च शक्यं मया तात स्थातुं क्षणमपि प्रभो।
स शोकं धारयस्वेमं नहि मेऽस्ति विपर्ययः ॥ ४९ ॥

'तात! प्रभो! अब मैं यहाँ एक क्षण भी नहीं ठहर सकता। अतः आप इस शोकको अपने भीतर ही दबा लें। मैं अपने निश्चयके विपरीत कुछ नहीं कर सकता ॥ ४९ ॥

अर्थितो ह्यस्मि कैकेय्या वनं गच्छेति राघव।
मया चोक्तं व्रजामीति तत्सत्यमनुपालये ॥ ५० ॥

'रघुनन्दन! कैकेयीने मुझसे यह याचना की कि 'राम! तुम वनको चले जाओ' मैंने वचन दिया था कि 'अवश्य जाऊँगा' उस सत्यका मुझे पालन करना है ॥ ५० ॥

मा चोत्कण्ठां कृथा देव वने रंस्यामहे वयम्।
प्रशान्तहरिणाकीर्णे नानाशकुनिनादिते ॥ ५१ ॥

'देव! बीचमें हमें देखने या हमसे मिलनेके लिये आप उत्कण्ठित न होंगे। शान्तस्वभाववाले मृगोंसे भरे हुए और भाँति-भाँतिके पक्षियोंके कलरवोंसे गूँजते हुए उस वनमें हम-लोग बड़े आनन्दसे रहेंगे ॥ ५१ ॥

पिता हि दैवतं तात देवतानामपि स्मृतम्।
तस्माद् दैवतमित्येव करिष्यामि पितुर्वचः ॥ ५२ ॥

'तात! पिता देवताओंके भी देवता माने गये हैं। अतः मैं देवता समझकर ही पिता (आप) की आज्ञाका पालन करूँगा ॥ ५२ ॥

चतुर्दशसु वर्षेषु गतेषु नृपसत्तम।
पुनर्द्रक्ष्यसि मां प्राप्तं संतापोऽयं विमुच्यताम् ॥ ५३ ॥

'नृपश्रेष्ठ! अब यह संताप छोड़िये। चौदह वर्ष बीत जानेपर आप फिर मुझे आया हुआ देखेंगे ॥ ५३ ॥

येन संस्तम्भनीयोऽयं सर्वो बाष्पकलो जनः।
स त्वं पुरुषशार्दूल किमर्थं विक्रियां गतः ॥ ५४ ॥

'पुरुषसिंह! यहाँ जितने लोग आँसू बहा रहे हैं, इन सबको धैर्य बँधाना आपका कर्तव्य है; फिर आप स्वयं ही इतने विकल कैसे हो रहे हैं ? ॥ ५४ ॥

पुरं च राष्ट्रं च मही च केवला
मया विसृष्टा भरताय दीयताम्।
अहं निदेशं भवतोऽनुपालयन्
वनं गमिष्यामि चिराय सेवितुम् ॥ ५५ ॥

'यह नगर, यह राज्य और यह सारी पृथ्वी मैंने छोड़ दी। आप यह सब कुछ भरतको दे दीजिये। अब मैं आपके आदेशका पालन करता हुआ दीर्घकालतक वनमें निवास

* 'प्राप्स्यामि ⋯ ⋯' इस आधे श्लोकका अर्थ यह भी हो सकता है कि आज यहाँ रहकर जिन उत्तमोत्तम अभीष्ट पदार्थोंको मैं पाऊँगा, उन्हें कलसे कौन देगा ?

करनेके लिये यहाँसे यात्रा कर रहा हूँ ॥ ५५ ॥

मया विसृष्टां भरतो महीमिमां
सशैलखण्डां सपुरोपकाननाम्।
शिवासु सीमास्वनुशास्तु केवलं
त्वया यदुक्तं नृपते तथास्तु तत्॥ ५६ ॥

'मेरी छोड़ी हुई पर्वतखण्डों, नगरों और उपवनोंसहित इस सारी पृथ्वीका भरत कल्याणकारिणी मर्यादाओंमें स्थित रहकर पालन करें । नरेश्वर ! आपने जो वचन दिया है, वह पूर्ण हो ॥ ५६ ॥

न मे तथा पार्थिव धीयते मनो
महत्सु कामेषु न चात्मनः प्रिये।
यथा निदेशे तव शिष्टसम्मते
व्यपैतु दुःखं तव मत्कृतेऽनघ ॥ ५७ ॥

'पृथ्वीनाथ ! निष्पाप महाराज ! सत्पुरुषोंद्वारा अनुमोदित आपकी आज्ञाका पालन करनेमें मेरा मन जैसा लगता है, वैसा बड़े-बड़े भोगोंमें तथा अपने किसी प्रिय पदार्थमें भी नहीं लगता; अतः मेरे लिये आपके मनमें जो दुःख है, वह दूर हो जाना चाहिये ॥ ५७ ॥

तदद्य नैवानघ राज्यमव्ययं
न सर्वकामान् वसुधां न मैथिलीम्।
न चिन्तितं त्वामनृतेन योजयन्
वृणीय सत्यं व्रतमस्तु ते तथा ॥ ५८ ॥

'निष्पाप नरेश ! आज आपको मिथ्यावादी बनाकर मैं अक्षय राज्य, सब प्रकारके भोग, वसुधाका आधिपत्य, मिथिलेशकुमारी सीता तथा अन्य किसी अभिलषित पदार्थको भी स्वीकार नहीं कर सकता । मेरी एकमात्र इच्छा यही है कि 'आपकी प्रतिज्ञा सत्य हो' ॥ ५८ ॥

फलानि मूलानि च भक्षयन् वने
गिरींश्च पश्यन् सरितः सरांसि च।
वनं प्रविश्यैव विचित्रपादपं
सुखी भविष्यामि तवास्तु निर्वृतिः॥ ५९ ॥

'मैं विचित्र वृक्षोंसे युक्त वनमें प्रवेश करके फल-मूलका भोजन करता हुआ वहाँके पर्वतों, नदियों और सरोवरोंको देख-देखकर सुखी होऊँगा; इसलिये आप अपने मनको शान्त कीजिये' ॥ ५९ ॥

एवं स राजा व्यसनाभिपन्न-
स्तापेन दुःखेन च पीड्यमानः।
आलिङ्ग्य पुत्रं सुविनष्टसंज्ञो
भूमिं गतो नैव चिचेष्ट किंचित्॥ ६० ॥

श्रीरामके ऐसा कहनेपर पुत्र-विछोहके संकटमें पड़े हुए राजा दशरथने दुःख और संतापसे पीड़ित हो उन्हें छातीसे लगाया और फिर अचेत होकर वे पृथ्वीपर गिर पड़े । उस समय उनका शरीर जडकी भाँति कुछ भी चेष्टा न कर सका॥

देव्यः समस्ता रुरुदुः समेता-
स्तां वर्जयित्वा नरदेवपत्नीम्।
रुदन् सुमन्त्रोऽपि जगाम मूर्च्छां
हाहाकृतं तत्र बभूव सर्वम् ॥ ६१ ॥

यह देख राजरानी कैकेयीको छोड़कर वहाँ एकत्र हुई अन्य सभी रानियाँ रो पड़ीं । सुमन्त्र भी रोते-रोते मूर्च्छित हो गये तथा वहाँ सब ओर हाहाकार मच गया ॥ ६१ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे चतुस्त्रिंशः सर्गः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें चौंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशः सर्गः

सुमन्त्रके समझाने और फटकारनेपर भी कैकेयीका टस-से-मस न होना

ततो निधूय सहसा शिरो निःश्वस्य चासकृत्।
पाणिं पाणौ विनिष्पिष्य दन्तान् कटकटाय्य च॥ १ ॥
लोचने कोपसंरक्ते वर्णं पूर्वोचितं जहत्।
कोपाभिभूतः सहसा संतापमशुभं गतः ॥ २ ॥
मनः समीक्षमाणश्च सूतो दशरथस्य च।
कम्पयन्निव कैकेय्या हृदयं वाक्शरैः शितैः ॥ ३ ॥

तदनन्तर होशमें आनेपर सारथि सुमन्त्र सहसा उठकर खड़े हो गये । उनके मनमें बड़ा संताप हुआ, जो अमङ्गलकारी था । वे क्रोधके मारे काँपने लगे । उनके शरीर और मुखकी पहली स्वाभाविक कान्ति बदल गयी । वे क्रोधसे आँखें लाल करके दोनों हाथोंसे सिर पीटने लगे और बारंबार लंबी साँस खींचकर, हाथसे हाथ मलकर, दाँत कटकटाकर राजा दशरथके मनकी वास्तविक अवस्था देखते हुए अपने वचनरूपी तीखे बाणोंसे कैकेयीके हृदयको कम्पित-सा करने लगे ॥ १-३ ॥

वाक्यवज्रैरनुपमैर्निर्भिन्दन्निव चाशुभैः।
कैकेय्याः सर्वमर्माणि सुमन्त्रः प्रत्यभाषत ॥ ४ ॥

अपने अशुभ एवं अनुपम वचनरूपी वज्रसे कैकेयीके सारे मर्मस्थानोंको विदीर्ण-से करते हुए सुमन्त्रने उससे इस प्रकार कहना आरम्भ किया— ॥ ४ ॥

यस्यास्तव पतिस्त्यक्तो राजा दशरथः स्वयम्।
भर्ता सर्वस्य जगतः स्थावरस्य चरस्य च ॥ ५ ॥
नह्यकार्यतमं किंचित्तव देवीह विद्यते।
पतिघ्नीं त्वामहं मन्ये कुलघ्नीमपि चान्ततः ॥ ६ ॥

'देवि ! जब तुमने सम्पूर्ण चराचर जगत्के स्वामी स्वयं अपने पति महाराज दशरथका ही त्याग कर दिया, तब इस जगत्में कोई ऐसा कुकर्म नहीं है, जिसे तुम न कर सको; मैं तो समझता हूँ कि तुम पतिकी हत्या करनेवाली तो हो ही; अन्ततः कुलघातिनी भी हो ॥ ५-६ ॥

यन्महेन्द्रमिवाजय्यं दुष्प्रकम्प्यमिवाचलम् ।
महोदधिमिवाक्षोभ्यं संतापयसि कर्मभिः ॥ ७ ॥

'ओह ! जो देवराज इन्द्रके समान अजेय, पर्वतके समान अकम्पनीय और महासागरके समान क्षोभरहित हैं, उन महाराज दशरथको भी तुम अपने कर्मोंसे संतप्त कर रही हो॥

मावमंस्था दशरथं भर्तारं वरदं पतिम् ।
भर्तुरिच्छा हि नारीणां पुत्रकोट्या विशिष्यते ॥ ८ ॥

राजा दशरथ तुम्हारे पति, पालक और वरदाता हैं। तुम इनका अपमान न करो । नारियोंके लिये पतिकी इच्छा-का महत्त्व करोड़ों पुत्रोंसे भी अधिक है ॥ ८ ॥

यथावयो हि राज्यानि प्राप्नुवन्ति नृपक्षये ।
इक्ष्वाकुकुलनाथेऽस्मिंस्तं लोपयितुमिच्छसि ॥ ९ ॥

'इस कुलमें राजाका परलोकवास हो जानेपर उसके पुत्रोंकी अवस्थाका विचार करके जो ज्येष्ठ पुत्र होते हैं, वे ही राज्य पाते हैं । राजकुलके इस परम्परागत आचारको तुम इन इक्ष्वाकुवंशके स्वामी महाराज दशरथके जीते-जी ही मिटा देना चाहती हो ॥ ९ ॥

राजा भवतु ते पुत्रो भरतः शास्तु मेदिनीम् ।
वयं तत्र गमिष्यामो यत्र रामो गमिष्यति ॥ १० ॥

'तुम्हारे पुत्र भरत राजा हो जायँ और इस पृथ्वीका शासन करें; किंतु हमलोग तो वहीं चले जायँगे जहाँ श्रीराम जायँगे ॥ १० ॥

न च ते विषये कश्चिद् ब्राह्मणो वस्तुमर्हति ।
तादृशं त्वममर्यादमद्य कर्म करिष्यसि ॥ ११ ॥
नूनं सर्वे गमिष्यामो मार्गं रामनिषेवितम् ।

'तुम्हारे राज्यमें कोई भी ब्राह्मण निवास नहीं करेगा; यदि तुम आज वैसा मर्यादाहीन कर्म करोगी तो निश्चय ही हम सब लोग उसी मार्गपर चले जायँगे, जिसका श्रीरामने सेवन किया है ॥ ११½ ॥

त्यक्ता या बान्धवैः सर्वैर्ब्राह्मणैः साधुभिः सदा॥ १२ ॥
का प्रीती राज्यलाभेन तव देवि भविष्यति ।
तादृशं त्वममर्यादं कर्म कर्तुं चिकीर्षसि ॥ १३ ॥

'सम्पूर्ण बन्धु-बान्धव और सदाचारी ब्राह्मण भी तुम्हारा त्याग कर देंगे । देवि ! फिर इस राज्यको पाकर तुम्हें क्या आनन्द मिलेगा । ओह ! तुम ऐसा मर्यादाहीन कर्म करना चाहती हो ॥ १२-१३ ॥

आश्चर्यमिव पश्यामि यस्यास्ते वृत्तमीदृशम् ।
आचरन्त्या न विवृता सद्यो भवति मेदिनी ॥ १४ ॥

'मुझे तो यह देखकर आश्चर्य-सा हो रहा है कि तुम्हारे इतने बड़े अत्याचार करनेपर भी पृथ्वी तुरंत फट क्यों नहीं जाती ? ॥ १४ ॥

महाब्रह्मर्षिसृष्टा वा ज्वलन्तो भीमदर्शनाः ।
धिग्वाग्दण्डा न हिंसन्ति रामप्रव्राजने स्थिताम्॥ १५ ॥

'अथवा बड़े-बड़े ब्रह्मर्षियोंके धिक्कारपूर्ण वाग्दण्ड (शाप) जो देखनेमें भयंकर और जलाकर भस्म कर देनेवाले होते हैं, श्रीरामको घरसे निकालनेके लिये तैयार खड़ी हुई तुम-जैसी पाषाणहृदयाका सर्वनाश क्यों नहीं कर डालते हैं ? ॥ १५ ॥

आम्रं छित्त्वा कुठारेण निम्बं परिचरेत् तु कः ।
यश्चैनं पयसा सिञ्चेन्नैवास्य मधुरो भवेत् ॥ १६ ॥

'भला आमको कुल्हाड़ीसे काटकर उसकी जगह नीमका सेवन कौन करेगा ? जो आमकी जगह नीमको ही दूधसे सींचता है, उसके लिये भी यह नीम मीठा फल देने-वाला नहीं हो सकता (अतः वरदानके बहाने श्रीरामको वनवास देकर कैकेयीके चित्तको संतुष्ट करना राजाके लिये कभी सुखद परिणामका जनक नहीं हो सकता)॥ १६ ॥

आभिजात्यं हि ते मन्ये यथा मातुस्तथैव च ।
न हि निम्बात् स्रवेत् क्षौद्रं लोके निगदितं वचः॥ १७ ॥

'कैकेयि ! मैं समझता हूँ कि तुम्हारी माताका अपने कुलके अनुरूप जैसा स्वभाव था, वैसा ही तुम्हारा भी है । लोकमें कही जानेवाली यह कहावत सत्य ही है कि नीमसे मधु नहीं टपकता ॥ १७ ॥

तव मातुरसद्ग्राहं विद्म पूर्वं यथा श्रुतम् ।
पितुस्ते वरदः कश्चिद् ददौ वरमनुत्तमम् ॥ १८ ॥

'तुम्हारी माताके दुराग्रहकी बात भी हम जानते हैं । इसके विषयमें पहले जैसा सुना गया है, वह बताया जाता है । एक समय किसी वर देनेवाले साधुने तुम्हारे पिताको अत्यन्त उत्तम वर दिया था ॥ १८ ॥

सर्वभूतरुतं तस्मात् संजज्ञे वसुधाधिपः ।
तेन तिर्यग्गतानां च भूतानां विदितं वचः ॥ १९ ॥

'उस वरके प्रभावसे केकयनरेश समस्त प्राणियोंकी बोली समझने लगे । तिर्यक् योनिमें पड़े हुए प्राणियोंकी बातें भी उनकी समझमें आ जाती थीं ॥ १९ ॥

ततो जृम्भस्य शयने विरुताद् भूरिवर्चसः ।
पितुस्ते विदितो भावः स तत्र बहुधाहसत् ॥ २० ॥

'एक दिन तुम्हारे महातेजस्वी पिता शय्यापर लेटे हुए थे । उसी समय जृम्भ नामक पक्षीकी आवाज उनके कानोंमें पड़ी । उसकी बोलीका अभिप्राय उनकी समझमें आ गया । अतः वे वहाँ कई बार हँसे ॥ २० ॥

तत्र ते जननी क्रुद्धा मृत्युपाशमभीप्सती ।
हासं ते नृपते सौम्य जिज्ञासामीति चाब्रवीत्॥ २१ ॥

'उसी शय्यापर तुम्हारी माँ भी सोयी थी । वह यह समझकर कि राजा मेरी ही हँसी उड़ा रहे हैं, कुपित हो उठी और गलेमें मौतकी फाँसी लगानेकी इच्छा रखती हुई बोली—

'सौम्य ! नरेश्वर ! तुम्हारे हँसनेका क्या कारण है, यह मैं जानना चाहती हूँ' ॥ २१ ॥

नृपश्चोवाच तां देवीं हासं शंसामि ते यदि।
ततो मे मरणं सद्यो भविष्यति न संशयः ॥ २२ ॥

'तब राजाने उस देवीसे कहा—'रानी ! यदि मैं अपने हँसनेका कारण बता दूँ तो उसी क्षण मेरी मृत्यु हो जायगी, इसमें संशय नहीं है' ॥ २२ ॥

माता ते पितरं देवि पुनः केकयमब्रवीत्।
शंस मे जीव वा मा वा न मां त्वं प्रहसिष्यसि ॥ २३ ॥

'देवि ! यह सुनकर तुम्हारी रानी माताने तुम्हारे पिता केकय-राजसे फिर कहा—'तुम जीओ या मरो, मुझे कारण बता दो । भविष्यमें तुम फिर मेरी हँसी नहीं उड़ा सकोगे' ॥ २३ ॥

प्रियया च तथोक्तः स केकयः पृथिवीपतिः।
तस्मै तं वरदायार्थं कथयामास तत्त्वतः ॥ २४ ॥

'अपनी प्यारी रानीके ऐसा कहनेपर केकयनरेशने उस वर देनेवाले साधुके पास जाकर सारा समाचार ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ २४ ॥

ततः स वरदः साधू राजानं प्रत्यभाषत।
म्रियतां ध्वंसतां वेयं मा शंसीस्त्वं महीपते ॥ २५ ॥

'तब उस वर देनेवाले साधुने राजाको उत्तर दिया—'महाराज ! रानी मरे या घरसे निकल जाय; तुम कदापि यह बात उसे न बताना' ॥ २५ ॥

स तच्छ्रुत्वा वचस्तस्य प्रसन्नमनसो नृपः।
मातरं ते निरस्याशु विजहार कुबेरवत् ॥ २६ ॥

'प्रसन्न चित्तवाले उस साधुका यह वचन सुनकर केकय-नरेशने तुम्हारी माताको तुरंत घरसे निकाल दिया और स्वयं कुबेरके समान विहार करने लगे ॥ २६ ॥

तथा त्वमपि राजानं दुर्जनाचरिते पथि।
असद्ग्राहमिमं मोहात् कुरुषे पापदर्शिनी ॥ २७ ॥

'तुम भी इसी प्रकार दुर्जनोंके मार्गपर स्थित हो पापपर ही दृष्टि रखकर मोहवश राजासे यह अनुचित आग्रह कर रही हो ॥ २७ ॥

सत्यश्चात्र प्रवादोऽयं लौकिकः प्रतिभाति मा।
पितॄन् समनुजायन्ते नरा मातरमङ्गनाः ॥ २८ ॥

'आज मुझे यह लोकोक्ति सोलह आने सच मालूम होती है कि पुत्र पिताके समान होते हैं और कन्याएँ माताके समान ॥ २८ ॥

नैवं भव गृहाणेदं यदाह वसुधाधिपः।
भर्तुरिच्छामुपास्वेह जनस्यास्य गतिर्भव ॥ २९ ॥

'तुम ऐसी न बनो—इस लोकोक्तिको अपने जीवनमें चरितार्थ न करो । राजाने जो कुछ कहा है, उसे स्वीकार करो (श्रीराम-का राज्याभिषेक होने दो) । अपने पतिकी इच्छाका अनुसरण करके इस जन-समुदायको यहाँ शरण देनेवाली बनो ॥ २९ ॥

मा त्वं प्रोत्साहिता पापैर्देवराजसमप्रभम्।
भर्तारं लोकभर्तारमसद्धर्ममुपादध ॥ ३० ॥

'पापपूर्ण विचार रखनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर तुम देवराज इन्द्रके तुल्य तेजस्वी अपने लोक-प्रतिपालक स्वामीको अनुचित कर्ममें न लगाओ ॥ ३० ॥

नहि मिथ्या प्रतिज्ञातं करिष्यति तवानघः।
श्रीमान् दशरथो राजा देवि राजीवलोचनः ॥ ३१ ॥

'देवि ! कमलनयन श्रीमान् राजा दशरथ पापसे दूर रहते हैं । वे अपनी प्रतिज्ञा झूठी नहीं करेंगे ॥ ३१ ॥

ज्येष्ठो वदान्यः कर्मण्यः स्वधर्मस्यापि रक्षिता।
रक्षिता जीवलोकस्य बली रामोऽभिषिच्यताम् ॥ ३२ ॥

'श्रीरामचन्द्रजी अपने भाइयोंमें ज्येष्ठ, उदार, कर्मठ, स्वधर्मके पालक, जीवजगत्के रक्षक और बलवान् हैं । इनका इस राज्यपर अभिषेक होने दो ॥ ३२ ॥

परिवादो हि ते देवि महाँल्लोके चरिष्यति।
यदि रामो वनं याति विहाय पितरं नृपम् ॥ ३३ ॥

'देवि ! यदि श्रीराम अपने पिता राजा दशरथको छोड़कर वनको चले जायँगे तो संसारमें तुम्हारी बड़ी निन्दा होगी ॥

स्वराज्यं राघवः पातु भव त्वं विगतज्वरा।
नहि ते राघवादन्यः क्षमः पुरवरे वसन् ॥ ३४ ॥

'अतः श्रीरामचन्द्रजी ही अपने राज्यका पालन करें और तुम निश्चिन्त होकर बैठो । श्रीरामके सिवा दूसरा कोई राजा इस श्रेष्ठ नगरमें रहकर तुम्हारे अनुकूल आचरण नहीं कर सकता ॥ ३४ ॥

रामे हि यौवराज्यस्थे राजा दशरथो वनम्।
प्रवेक्ष्यति महेष्वासः पूर्ववृत्तमनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

'श्रीरामके युवराजपदपर प्रतिष्ठित हो जानेके बाद महा-धनुर्धर राजा दशरथ पूर्वजोंके वृत्तान्तका स्मरण करके स्वयं वनमें प्रवेश करेंगे' ॥ ३५ ॥

इति सान्त्वैश्च तीक्ष्णैश्च कैकेयीं राजसंसदि।
भूयः संक्षोभयामास सुमन्त्रस्तु कृताञ्जलिः ॥ ३६ ॥
नैव सा क्षुभ्यते देवी न च स्म परिदूयते।
न चास्या मुखवर्णस्य लक्ष्यते विक्रिया तदा ॥ ३७ ॥

इस प्रकार सुमन्त्रने हाथ जोड़कर कैकेयीको उस राज-भवनमें सान्त्वनापूर्ण तथा तीखे वचनोंसे भी बारंबार विचलित करनेकी चेष्टा की; किंतु वह टस-से-मस न हुई । देवी कैकेयीके मनमें न तो क्षोभ हुआ और न दुःख ही । उस समय उसके चेहरेके रंगमें भी कोई फर्क पड़ता नहीं दिखायी दिया ॥ ३६-३७ ॥

इत्यार्षे श्रीमद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्येऽयोध्याकाण्डे पञ्चत्रिंशः सर्गः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीवाल्मीकिनिर्मित आर्षरामायण आदिकाव्यके अयोध्याकाण्डमें पैंतीसवाँ सर्ग पूरा हुआ ॥ ३५ ॥